भूमिका

'प्राचीन कवियों की काव्य-साधना, के पश्चात् 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' मेरी दूसरी आलोचना-पुस्तक है। इसमें भारतेन्दु से अब तक के आठ प्रमुख कवियों की रचनाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी-जगत् में सम्प्रति विद्यार्थियों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। इस अभाव को दृष्टि में रखकर ही मैं इस पुस्तक के प्रणयन की ओर अग्रसर हुआ हूँ। मैंने प्रत्येक कवि को उसके प्रकृत वातावरण में ही देखने, समझने और परखने की चेष्टा की है। आरम्भ में जीवन-परिचय देकर मैंने क्रमशः उन सभी पहलुओं पर विचार किया है जिनसे कवि का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार प्रत्येक कवि अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आगया है और वह जटिल होने की अपेक्षा रोचक और आकर्षक बन गया है। असली बात को प्रमाणित तथा पुष्ट करने के लिये मैंने जानबूझ कर कम अवतरण दिये हैं। ऐसा मैंने केवल इसलिये किया है कि विद्यार्थी इस पुस्तक में दिये हुए अवतरणों पर ही निर्भर न रहकर अपनी स्वतन्त्र-बुद्धि से भी काम लें और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये अपनी पाठ्य-पुस्तकों से उद्धरण देना सीखें। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यार्थी आलोचना-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते समय ऐसे अनावश्यक उद्धरण दे दिया करते हैं जिनका न तो उस प्रश्न से कोई सम्बन्ध रहता है और

न उनकी विचारधारा से। ऐसी दशा में उनके उत्तर प्रायः हास्यास्पद हो जाते हैं। इस पुस्तक के अध्ययन से जहाँ उनकी आलोचना-सम्बन्धी उलझनों का समाधान होगा वहाँ उन्हें उद्धरण देने की आवश्यकता, उपयुक्तता, उपयोगिता एवं सार्थकता का भी ज्ञान हो जायगा।

इन विशेषताओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन होने पर भी मैं अपने विषय-प्रतिपादन के मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। यह पुस्तक मेरे कई वर्ष के अध्ययन का परिणाम है। अतः अपने अध्ययन-काल में मैंने जिन लेखकों की रचनाओं से अपनी जिज्ञासा को शान्त एवं परिपुष्ट किया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। वस्तुतः विचार उनके हैं, क्रम मेरा है। मैं उन्हीं के अप्रत्यक्ष सहयोग से इस पुस्तक को वर्तमान रूप देने में सफल हो सका हूँ। अतः यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ तो उसका श्रेय उन्हीं आलोचकों को प्राप्त होना चाहिये जो मेरे साहित्यिक जीवन के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। अतएव मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को आधुनिक कवियों की काव्य-धारा समझने में अवश्य सहायता मिलेगी।

भगवत क्वार्टर्स,
अतरसुइया, इलाहाबाद
चैत्र १—२००८

राजेन्द्रसिंह गौड़

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

आज 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' का चतुर्थ संस्करण अपने पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। इससे स्पष्ट है कि इस आलोचना-पुस्तक का हिन्दी-जगत् में अच्छा आदर हुआ है। इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने इसमें संशोधन और परिवर्धन किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अब यह पुस्तक हिन्दी-विद्यार्थियों के लिए और भी उपयोगी सिद्ध होगी।

पंचम संस्करण की भूमिका

'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' का पंचम संस्करण अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। अपने जीवन के लगभग पाँच वर्षों में इस पुस्तक ने जितनी लोक-प्रियता प्राप्त की है उससे मुझे विशेष प्रोत्साहन मिला है। इसके लिए मैं अपने कृपालु पाठकों तथा सहयोगी अध्यापकों का हृदय से आभारी हूँ। उनसे मुझे समय-समय पर इस पुस्तक में संशोधन एवं परिवर्धन करने का संकेत भी प्राप्त होता रहा है और यथाशक्ति मैंने उसकी पूर्ति भी की है। प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी के वर्तमान राष्ट्रकवि 'दिनकर' का नाम भी जोड़ दिया गया है और उनकी रचनाओं पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संस्करण विद्यार्थियों के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

२५७, मीरापुर—नेहरू नगर
इलाहाबाद
१०—८—५३

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

३ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'



१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म	मृत्यु
सं० १९०७	सं० १९४१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल, ऋषि-सप्तमी संवत् १९०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ परिवार में हुआ था। उनके पूर्वजों का सम्बन्ध दिल्ली के शाही घराने से था। सत्रहवीं शताब्दी में जब शाहजहाँ का पुत्र शाहशुजा बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर राजमहल आया तब उनके पूर्वज भी बंगाल चले गये और मुर्शिदाबाद में रहने लगे। इस वंश के सेठ बालकृष्ण के प्रपौत्र तथा गिरधारीलाल के पुत्र, सेठ अमीचन्द, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति थे। अँग्रेजों ने उन्हें अपनी ओर मिलाकर धन का लोभ दिया और देश के प्रति विश्वासघात कराया, पर जब उनका काम निकल गया तब उन्होंने अमीचन्द को जितना धन देने का वचन दिया था, उसे देने से साफ इन्कार कर दिया। इस घटना से अमीचन्द को इतना दुःख हुआ कि प्लासी-युद्ध के डेढ़ वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गयी।

जीवन-परिचय

व्यापार का काम भी शिथिल हो गया। इसलिए उनके पुत्र फतेहचन्द सन् १७५६ ई० में काशी चले आये। उस समय उनकी अवस्था केवल दस वर्ष की थी। काशी में सेठ गोकुलचन्द साहु की कन्या से उनका विवाह हुआ। सेठजी के और कोई सन्तान न थी। ऐसी दशा में फतेहचन्द ही उनके उत्तराधिकारी हुए। लगभग १८१० ई० में फतेहचन्द की मृत्यु हुई। उनकी एकमात्र सन्तान का नाम था हर्षचन्द। काशी में उनकी अच्छी ख्याति थी। सन् १८४४ के लगभग उनकी मृत्यु हुई। उस समय उनके पुत्र गोपालचन्द केवल ग्यारह वर्ष के थे। उनका विवाह दिल्ली के राय खिरोधरलाल की कन्या पारवतीदेवी से हुआ था। इसी विवाह से भारतेन्दु का जन्म हुआ।

गोपालचन्द वैष्णव थे और ब्रजभाषा में कविता करते थे। उनका उपनाम गिरिधरदास था। उनके दो ही काम थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। कहते हैं, पाँच भक्ति-पद बनाये बिना वह भोजन नहीं करते थे। उन्होंने ४० ग्रन्थ लिखे थे। उनके इन ग्रन्थों में से २४ इस समय प्राप्य हैं। इनमें उन्होंने काव्य-कौशल की ऐसी छटा दिखाई है कि साधारण पाठकों के लिए उसका समझना, यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अलङ्कार और रीति सम्बन्धी भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। 'जरासन्ध' उनका महाकाव्य है। शेष खण्ड-काव्य और रीति-काव्य हैं। ऐसे पिता के वंश में जन्म लेकर भारतेन्दु ने उसके गौरव और सम्मान की रक्षा की।

भारतेन्दु बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन में वह बड़े नटखट थे। दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अवस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। नौ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत हुआ और इसके बाद ही उनके पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर चल बसे। इस प्रकार आरम्भ से ही माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन में प्रवेश किया।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अँग्रेजी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी वह एक मौलवी से पढ़ते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वींस कालेज में भर्ती हुए, पर वहां उनका जी नहीं लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रति-दिन उनकी

अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। वह स्वतन्त्र प्रकृति के बालक थे। किसी प्रकार का बन्धन उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इसलिये अधिक दिनों तक उनका नियमित रूप से पढ़ना-लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था में लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नोदेवी से उनका विवाह हुआ जिससे कालान्तर में दो पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र तो शैशवावस्था ही में काल-कवलित हो गये; पुत्री अवश्य जीवित रही जिसका विवाह मई १८८० में हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था में सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की। इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। वहाँ से लौटने पर उन्होंने साहित्य और समाज की सेवा का भार अपने ऊपर लिया। कभी-कभी वह यात्रा पर भी जाते रहे। इससे उनका अनुभव बहुत बढ़ गया। हिन्दी, अँगरेज़ी और उर्दू के अतिरिक्त वह मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, मारवाड़ी तथा संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हो गये। वह बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। यद्यपि एक विद्यार्थी की भाँति उन्होंने किसी पाठशाला अथवा कालेज में विद्याध्ययन नहीं किया, तथापि सरस्वती की आराधना में वह आजीवन निरत रहे। उन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की और कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उन्होंने कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं जिनमें वह स्वयं पारितोषिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र इण्टरमीजिएट कॉलेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारों से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, तुक्कड़, सभी उन्हें जानते थे और उनके दरबार में सम्मान पाते थे। राजा से रंक तक उनकी मित्र-मंडली में थे। उस समय के हिन्दी-साहित्य-सेवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रेमघन, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधाचरन गोस्वामी, पं० दामोदर शास्त्री, ईश्वरचन्द्र विद्यासार, बाबा सुमेरसिंह आदि उनके परम मित्र थे। इन साहित्यकारों से जहाँ उन्हें साहित्य-सेवा की प्रेरणा मिलती थी, वहाँ उनको—साहित्य-सेवियों को साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने के लिये पर्याप्त

प्रोत्साहन भी मिलता था । भारतेन्दु इन साहित्यसेवियों में सर्वोपरि थे । हिन्दी-साहित्य की नौका के वही प्रमुख माँझी थे । इसलिये साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने में उन्हीं का हाथ रहता था । उनके पास सरस्वती थी, लक्ष्मी थी । सरस्वती की सेवा में उन्होंने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया । धन का मोह उनके साहित्य-प्रेम में कभी बाधक नहीं हुआ । साहित्य की अभिवृद्धि के लिये जिसने जब जो माँगा उन्होंने मुक्त-हस्त होकर दान दिया । दीन-दुखियों के लिये भी उनका दरबार बराबर खुला रहता था । निःस्वार्थ भाव से वह सबकी सहायता करते थे । उदारता तो उनमें इतनी थी कि वह किसी के माँगने पर अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी दे डालते थे । उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने समस्त जायदाद का बँटवारा करा लिया ।

जायदाद का बँटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दानशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी । इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उन पर काफी ऋण हो गया । ऋण चुकता करने में उनकी बहुत सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल में ही निकल गयी । इससे उन्हें कुछ मानसिक कष्ट रहने लगा । मुक्तहस्त प्राणी बन्धन में आने पर मृत्यु की ही आकांक्षा करता है ! भारतेन्दु की भी यही दशा हो गयी । आर्थिक कष्टों की चिन्ता में उनका शरीर शिथिल होने लगा । अन्त में उन्हें क्षय रोग हो गया । इस रोग से वह मुक्त न हो सके । डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की चिकित्सा मृत्यु के अभिशाप से उनकी रक्षा न कर सकी । ऐसी दशा में माघ कृष्णा ६, सं १९४१ (६, जनवरी १८८५) को हिन्दी साहित्य का वह दीपक सदैव के लिये बुझ गया । उस समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष ४ महीने की थी ।

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिमा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है । अपने १६-१७ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो दान किया उसका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण है । उनकी रचनाएँ युगान्तरकारिणी रचनाएँ

हैं। उनमें भावों, विचारों और कल्पनाओं के सौष्ठव के साथ-साथ आगे बढ़ने की, संसार की अन्य जीवित और समृद्धिशाली भाषाओं के बीच अपनी गौरव-पूर्ण ख्याति-स्थापना की तीव्र चेष्टा है। यही चेष्टा उनके साहित्य का प्राण है। उनकी रचनाएँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं।

(१) नाटक—भारतेन्दु की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मौलिक और अनूदित नाटक हैं। उनके प्राप्य मौलिक नाटक नौ हैं।—१. सत्य हरिश्चन्द्र, २. श्री चन्द्रावली, ३. भारत दुर्दशा (हास्य-रूपक), ४. नीलदेवी, (वियोगांतक-गीति-रूपक), ५. अन्धेरनगरी (प्रहसन), ६. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, ७. विषस्य विषमौषधम् (भाड़) ८. सतीप्रताप और ९. प्रेमयोगिनी। इनमें से अन्तिम दो अपूर्ण हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त उनके आठ अनूदित नाटक भी हैं जो इस प्रकार हैं—१. मुद्रा राक्षस, २. धनञ्जय विजय (व्यायोग), ३. रत्नावली नाटिका, ४. कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), ५. विद्या सुन्दर, ६. भारत जननी (नाट्य-गीत), ७. पाखंड विडम्बन और ८. दुर्बल बन्धु। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद हैं, चौथा प्राकृत का अनुवाद है, पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बंगला के अनुवाद हैं और अन्तिम अँगरेजी का अनुवाद है। यह अपूर्ण भी है। नवमल्लिका और मृच्छकटिक भी उनके अपूर्ण नाटक बताये जाते हैं। प्रवासनास-नाटक उनकी सर्वप्रथम कृति है। यह भी अपूर्ण और अप्राप्य है।

(२) काव्य—नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-सहित्य भी अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। उनके भक्ति-काव्य सम्बन्धी कई ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं और भक्ति-भावना से भरे हैं। उनके शृङ्गार काव्य भी कम नहीं हैं। होली, मधुमुकुल, प्रेमफुलवारी, प्रेम प्रलाप, सतसई शृङ्गार आदि उनके शृङ्गार रसपूर्ण काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी, विजय-वैजयन्ती, भारत वीणा; सुमनाञ्जलि आदि उनकी राष्ट्रीय और राज-भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

(३) इतिहास, निबन्ध और आख्यान—भारतेन्दु ने निबन्ध और आख्यान भी लिखे हैं; पर इनमें से अधिकांश अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालसोपाख्यान और लीलावती उनके लिखे आख्यान हैं। परिहास-

पंचक में उनका हास्यरस-सम्बन्धी गद्य है । परिहासिनी में छोटे-मोटे हास्य लेख हैं । हिन्दी भाषा और नाटक भी उनके छोटे ग्रंथ हैं । काश्मीर-कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, रामायण का समय, अग्रवालों की उत्पत्ति, खत्रियों की उत्पत्ति, बादशाह दर्पण, बूंदी का राजवंश, उदयपुरोदय, पुरावृत्त-संग्रह, चरितावली, पंच पवित्रात्मा, दिल्ली दरबार-दर्पण और काल-चक्र उनके गद्य-ग्रन्थ हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य के प्रत्येक अंग को छूने की सफल चेष्टा की है । उनका साहित्य भागीरथ प्रयास का सुन्दर परिणाम है ।

अभी हमने भारतेन्दु की जिन कृतियों का उल्लेख किया है उनका अध्ययन करने से हमें उनके समय की मुख्य मुख्य विशेषताओं का यथार्थ परिचय मिल जाता है और हम यह जान जाते हैं कि उन्होंने उन विशेषताओं को हिन्दी साहित्य में स्थायी रूप से स्थान देकर अपने से अधिक अपने साहित्य का कल्याण किया है ।

भारतेन्दु का समय

वस्तुतः भारतेन्दु का समय भारतेन्दु की प्रतिभा के उपयुक्त था । उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब भारत में प्राचीन और नवीन शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा था और राजनीति के क्षेत्र में किसी नवीन 'वाद' की व्यवस्था न होने पर भी एक हलचल-सी मची हुई थी । हिन्दू और मुसलमान राज्य आपसी फूट और साम्प्रदायिकता के कारण निर्बल हो गये थे और एक तीसरी शक्ति-कुशल व्यापारियों के रूप में अँगरेज—अपनी सत्ता स्थापित करने में संलग्न थी । न्याय से, अन्याय से, जिस प्रकार भी हो सके उसका उद्देश्य भारत का रक्त चूसना और पारस्परिक द्वेष-भावना को तीव्रतर करके अपना उल्लू सीधा करना था । हिन्दू और मुसलमान दोनों शक्ति-हीन थे, अव्यवस्थित थे, असंगठित थे । किसी का कोई नेता नहीं था । इसीलिये १८५७ का वह विप्लव, राजनीति तथा धार्मिक कारणों से उठी हुई वह आँधी, शक्ति और अधिकार का वह पारस्परिक द्वन्द्व, जहाँ का तहाँ शान्त हो गया । हमारी सभ्यता, हमारा रहन-सहन, हमारी प्राचीन मर्यादा—सब पर

अँगरेजी रंग चढ़ने लगा। इस प्रकार निराशा के उस युग में अपना धर्म, अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता पर सिंहावलोकन करने का अवकाश ही हमारे लिए नहीं था।

हिन्दू समाज की दशा तो और भी शोचनीय थी। अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुओं ने अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए एक बार भरपूर चेष्टा की, पर अपनी इस चेष्टा में उन्हें आंशिक सफलता ही मिली। ऐसी दशा में उन्होंने अँगरेजों की सत्ता का स्वागत किया। इस स्वागत-सम्मान में हिन्दू व्यापारी, अत्यन्त दरिद्र और अरक्षित लोग ही सम्मिलित थे। उच्च और सैनिक वर्ग अँगरेजी-सत्ता के विरुद्ध थे। वास्तव में १८५७ का राजनीतिक ज्वार उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था, पर जब वह शान्त हो गया तब समस्त हिन्दू-जाति एक बार फिर शिथिल हो गयी। बार-बार की पराजय से उनका अपने धर्म पर से विश्वास हट गया। वह नास्तिक हो चली, पाखंड का बोल-बाला हो गया। भाँति-भाँति की कुरीतियाँ हिन्दू-समाज में घुस आयीं। हिन्दू-समाज खोखला होने लगा। ऐसे खोखले समाज का साहित्य भी खोखला ही था।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी बेढंगी रहीं कि हमें उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी का कोई सत्साहित्य ही नहीं मिलता। हमारा तो अनुमान है कि देव के पश्चात् हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक कोई प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस दीर्घ अवधि में जो कवि हुए भी वे या तो तुकड़ थे या रीति-कालीन परम्परा के अन्धभक्त। जीवन को उठाने के लिए उनकी रचनाओं में कोई योजना ही नहीं थी। ऐसी दशा में हिन्दुओं की अधोगत संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ उनका साहित्य भी खतरे में था। १८५७ की महा क्रान्ति समाप्त होने पर जब अँग्रेजी शासन का प्रादुर्भाव हुआ तब कचहरियों में उर्दू भाषा का ही बोलबाला रहा। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा उस समय तक निश्चित ही नहीं हुई थी। इसलिए कचहरियों में उसे स्थान मिलना कठिन था। काव्य-क्षेत्र में तो मनमानी-घरजानी हो रही थी। काव्य का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह

गया था। समस्या-पूर्ति ही काव्य का परम लक्ष्य था। शृङ्गार-काल की अश्लील 'नख-सिख' की आँधी में कविगण लोक-हित की कामना से रिक्त हृदय लेकर सुखमय आश्रय में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जिन अभावों की पूर्ति के लिये ठोस विचार-प्रचार की आवश्यकता थी, उसकी ओर से सभी उदासीन थे। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशियों के सम्पन्न साहित्य ने भारत के शिक्षित समुदाय में एक नयी चेतना भर दी थी, पर उस चेतना का नेतृत्व करने का किसी में सामर्थ्य नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-जाति से सम्बन्ध रखने वाली तीन समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक—बड़ी भयङ्कर थीं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में महान् व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। राजनीतिक क्षेत्र विशाल क्षेत्र था, उसकी समस्याएँ जटिल थीं। उन समस्याओं को हल करने और अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिये समय और आन्दोलन की आवश्यकता थी। इसलिये इस क्षेत्र में अभी उपयुक्त नेताओं का जन्म नहीं हुआ था। पर सामाजिक क्षेत्र में आन्दोलन आरम्भ हो गये थे। बंगाल में राजा राममोहनराय, संयुक्तप्रान्त तथा पश्चिमी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द आदि के प्रयत्नों से हिन्दू-जाति में नवीन स्फूर्ति और चेतना आ रही थी। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अछूतोद्धार आदि की ओर स्वामी दयानन्द ने आकृष्ट होकर हिन्दू-जाति की बड़ी रक्षा की। इस सामाजिक आन्दोलन की एक यह भी विशेषता थी कि उसने स्वदेश-प्रेम की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उत्तरी भारत में इस आन्दोलन की देखा-देखी दक्षिण भारत में भी डा० भाण्डारकर और रानाडे ने हिन्दू-समाज को उठाने की चेष्टा की। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा राममोहनराय का ब्रह्मसमाज, स्वामी दयानन्द का आर्य-समाज, रानाडे का प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओं से अन्धकार के गर्त में पड़ी हुई हिन्दू-जनता को आलोक मिला और उसे अपने जीवन के प्रति कुछ मोह उत्पन्न हुआ। सौभाग्य की बात थी कि इन आन्दोलनों के बीच भारतेन्दु ने कलम लेकर हिन्दी-साहित्य का पल्ला पकड़ा और अपने जीवन के १६-१७

वर्षों में उन्होंने हिन्दी को इतना समृद्धिशाली, इतना प्रौढ़ और इतना सम्पूर्ण बना दिया कि वह उर्दू से टक्कर लेने में समर्थ हो गयी। उन्होंने हिन्दी की प्रत्येक आवश्यकता की बड़े वैज्ञानिक ढंग से पूर्ति की और उसका प्रत्येक अंग परिपुष्ट किया। उन्होंने वस्तुतः देश की तीनों समस्याओं को एक साथ अपने साहित्य में चित्रित किया और उनकी ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इस दृष्टि से वह भारत के लिए कल्प-तरु सिद्ध हुए।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व

भारतेन्दु अपने समय की दिव्य विभूति थे। उनका व्यक्तित्व महान् था। वह 'कलिकाल के कन्हैया' थे। लम्बा कद, इकहरा शरीर—न बहुत मोटा न बहुत पतला—आँखें कुछ छोटी, नाक सुडौल, कान कुछ बड़े, प्रशस्त ललाट, जिस पर कुञ्चित केशों की लम्बी लटें बल खाती थीं। उनके स्वभाव में अमीरी थी। उनका ठाट-बाट रईसों का-सा था। वह जिस पर प्रसन्न हो जाते थे, उस पर लक्ष्मी पानी की तरह बहा देते थे। उनकी वाणी में कोमलता थी और स्वर में सहज माधुर्य था। उनके व्यवहार में शिष्टता थी। एक बार जो उनके सम्पर्क में आ जाता था वह उनका अनन्य मित्र बन जाता था। गर्व तो उनमें था ही नहीं—न अपनी विद्या का और न अपने धन का। अपनी राष्ट्र-प्रियता से उन्होंने अपने पूर्वज, सेठ अमीचन्द, का कलंक धो दिया था। हिन्दू-जाति पर उन्हें अभिमान था। उसके पतन से वह क्षुब्ध थे—चिन्तित थे। उसके कल्याण के लिए, उसका मस्तक उन्नत करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहे।

भारतेन्दु की धार्मिक भावना बड़ी प्रबल थी। तीन वर्ष की अवस्था में ही उन्हें कंठी का मंत्र दिया गया था और नौ वर्ष की अवस्था में वह वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। वह पुष्टि मार्ग के समर्थक और 'राधारानी के गुलाम' थे। आर्य-समाज के वह विरोधी थे। वह वैष्णव धर्म में ही नवीनता और उदारता का समावेश कर उसे सुसंस्कृत और समयोपयोगी बना देना चाहते थे। हिन्दू-जाति में उस समय जिन कुरीतियों ने घर कर लिया था उनके उन्मूलन के लिए वह बाह्य साधनों का सहारा न लेकर आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित रहना चाहते थे। वह भीतर से हिन्दू-

जाति को शुद्ध करना चाहते थे। इसी विचार से उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। वह सामान्य हिन्दू-मत के पक्षपाती थे। वह साधारणतः साधारण सनातनी हिन्दू-दृष्टि-कोण और प्रधानतः वल्लभीय कुल के आचार-विचारों से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने साधारण जनता को इनसे परिचित कराने के विचार से इस प्रकार का बहुत-सा साहित्य हिन्दी में प्रस्तुत किया था। ईसाई और इस्लाम धर्मों की आँच से हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए उन्होंने उन धर्मों का साहित्य पढ़ा था और उनके सम्बन्ध में अपने विचारों को हिन्दू जनता के सम्मुख रक्खा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका व्यक्तित्व धार्मिक भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित था। उनका 'तदीय समाज' उनकी धार्मिक भावना का प्रतीक था। इस संस्था ने अहिंसा और गौ-रक्षा का प्रचार किया और लोगों को मद्य और मांस का परित्याग करने के लिए बाध्य किया। तीर्थ-स्थानों में यात्रियों के साथ जो अत्याचार होते थे, उनकी ओर भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया था। स्त्री-समाज की दुर्दशा भी उनकी आँखों से छिपी नहीं थी। उन्होंने अपने घर पर कन्या हाईस्कूल खोला और बाला-बोधिनी पत्रिका को जन्म दिया। वह समसामयिक हिन्दू नारी के सामने वीरता का आदर्श रखना चाहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू-जाति की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी प्रत्येक समस्या उनके विचारों का केन्द्र बन गयी थी। इसीलिए हम उनके साहित्य में उनको भक्त, सुधारक और उपदेशक तीनों रूपों में पाते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ भारतेन्दु के जीवन में राष्ट्रीय विचारों का भी स्फुरण हुआ था। वह अपने देश की परिस्थितियों और उसकी दैनिक समस्याओं से भी भली भाँति परिचित थे। अँगरेजी शासन शांतिप्रद था, पर उसकी व्यापारिक और साम्राज्यवादी नीति के वह समर्थक नहीं थे। अँगरेजों की इस दूषित नीति से भारत का जो अहित हो रहा था उसके प्रति वह जागरूक थे। भारतीयों पर आने वाली दैवी आपत्तियों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था और उनसे वह अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अँगरेजी-सत्ता का अपनी उग्र राष्ट्रीय भावनाओं के कारण कभी खुलकर विरोध नहीं किया। वह सदैव राज-भक्त बने

रहे; पर उन्होंने सरकारी अधिकारियों की सदैव उपेक्षा की और साधारण जनता की उठती हुई शक्ति पर अपना विश्वास दृढ़ रखा। उनका युग इतनी ही स्वतन्त्रता उन्हें दे सकता था। वस्तुतः वह सरकार की नीति के आलोचक नहीं थे, वह अपने देशवासियों के जीवन के आलोचक थे। वह अपने देशवासियों को अपने देश की परिस्थितियों से परिचित कराना चाहते थे। वह चाहते थे कि भारत के नर-नारी अपने देश की समस्याओं पर विचार करें, अपनी आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित करें और विदेश में धन जाने से रोकें। उन्होंने एक कुशल व्यापारी की भाँति भारत की आर्थिक परिस्थिति पर विचार किया था और उद्योगीकरण की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया था।

साहित्यिक क्षेत्र में भी भारतेन्दु का व्यक्तित्व बेजोड़ था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी, मराठी, गुजराती, बंगला, संस्कृत और प्राकृत के वह अच्छे विद्वान् थे। लिखने का उन्हें व्यसन था। डा० राजेन्द्रलाल के शब्दों में वह 'राइटिंग' मशीन थे। वह कई लिपियों में बड़ी सुन्दरता और सुगमता से लिख सकते थे। वह अध्ययनशील थे, अध्यवसायी थे। वह जिस काम को अपने हाथ में ले लेते थे उसे सम्पूर्ण किये बिना चैन नहीं लेते थे। उनका आशुकवित्व इतना प्रखर और प्रबल था कि उन्होंने 'अन्धेर नगरी' की रचना एक ही दिन में समाप्त की थी। जैसी भी भाषा उनके पास थी, उस पर उनका पूरा अधिकार था। वह उर्दू में भी कविता करते थे। हिन्दी-साहित्य में तो हम उनके विविध रूपों का दर्शन करते हैं। वह कवि, लेखक, पत्रकार, नाटककार, उपन्यासकार, इतिहास-लेखक, अनुवादक सभी कुछ थे। उनकी मौलिकता अछूती थी। उन्होंने भाषा का संस्कार किया, साहित्य को जीवन का क्षेत्र बनाया और उसे नयी-नयी भावनाओं से अलंकृत किया। अपने युग के वह हिन्दी-भाषा और साहित्य के नेता थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कई प्रतिभाशाली साहित्य-सेवियों को उत्पन्न किया। उनके ऐसे गुणों पर मुग्ध होकर पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने 'सार सुधानिधि' पत्र में उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव किया और सब ने मुक्तकंठ से इसका समर्थन किया। तब

से वह भारतेन्दु कहलाने लगे।

भारतेन्दु का जीवन हास्य और विनोद का जीवन था। हास्य उनके जीवन में कूट-कूट कर भरा हुआ था। होली के अवसर पर उनकी हास्य-प्रियता देखने योग्य होती थी। 'एप्रिल फूल्स डे' भी वह मनाते थे और एक क्षण में अपने विनोदमय व्यक्तित्व से सारे नगर को आनन्दमग्न कर देते थे। ताश और शतरंज के वह अच्छे खिलाड़ी थे। चतुरंग पर उन्होंने जो छप्पय लिखे हैं, वे शतरंज-प्रेमियों के लिए बड़े ही मनोरंजक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में एक अनोखा व्यक्तित्व था। उनके व्यक्तित्व में जितना था, जो कुछ था, वह सब महान् था और इसीलिए आज हिन्दी-संसार उनका आभार स्वीकार करता है।

भारतेन्दु पर प्रभाव

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतना विचार करने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि उन्हें सर्वप्रथम साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली और उन पर किन-किन जीवन-परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही काव्य-प्रेमी थे। उनके पिता के सम्बन्ध में हम यह यह बता ही चुके हैं कि वह अपने समय के अच्छे कवि थे। ऐसे पिता की सन्तान होने के कारण भारतेन्दु ने पाँच वर्ष की अवस्था में ही अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया था। बलराम-कथामृत की रचना करते समय जब उनके पिता बाणासुर-वध लिख रहे थे तब उन्होंने यह दोहा कहा था :—

लै ब्यौड़ा ठाड़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को, हनन लगे भगवान्॥

भारतेन्दु के शैशव काल का यह दोहा जहाँ उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय देता है, वहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देता है कि उतनी अल्पावस्था में उनको हिन्दू धर्म की पौराणिक कथाओं का अच्छा ज्ञान था। उनकी ऐसी कवित्व-शक्ति और ज्ञान-गरिमा को देखकर एक दिन उनके पिता ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए यह कहा था—'तू मेरा नाम बढ़ावेगा।' कालान्तर में उनके पिता की भविष्यवाणी सत्य हुई। कवि पिता ने कवि पुत्र को जन्म

देकर हिन्दी माता का रिक्त कुक्ष भर दिया। उन्होंने पं० लोकनाथ को भारतेन्दु की शिक्षा के लिए नियुक्त किया; अतः वही भारतेन्दु के काव्य-गुरु थे। उनकी देख-रेख में भारतेन्दु ने हिन्दी के रीति-ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन और मन्थन किया। उन्होंने संस्कृत के पौराणिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों की भी छान-बीन की और उनसे बहुत प्रभावित हुए। इस प्रकार अपने जीवन का प्रभात-काल उन्होंने अध्ययन में ही व्यतीत किया। इसके पश्चात् उन्होंने यात्रा की। यात्राओं से उन्हें जीवन-व्यापी अनुभव प्राप्त हुए। देश के भिन्न-भिन्न भागों में यात्रा करने से वहाँ की रीति-नीति जानने, भिन्न-भिन्न लोगों के भावों तथा विचारों से परिचित होने तथा देश की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने का जो अवसर उन्हें मिला उससे उनका मानसिक क्षितिज विस्तृत हो गया। इसके बाद ही वह साहित्य-सेवा में लग गये। सारांश यह कि अपने पिता से साहित्य-निर्माण की प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने अध्ययन और अनुभव से उसे पुष्ट किया। इस कार्य में उनकी धार्मिक भावना ने उनका अधिक पथ-प्रदर्शन किया। प्राचीन और नवीन सभ्यता के बीच उनकी धार्मिक भावना ने ही उन्हें मध्य-मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया। वह कई बातों में नवीन होकर भी प्राचीन बने रहे। भारत की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता से वह अधिक प्रभावित थे। उसके अतीत के गौरव के प्रति उनके हृदय में इतना मोह था कि वह अपने समाज की पतितावस्था देखकर उसी युग की याद करके अपने तप्त हृदय को शान्त करते थे। इन पंक्तियों में उनके हृदय का क्षोभ देखिए :—

कहाँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर,
चन्द्रगुप्त, चाणक्य, कहाँ नासे करि कै थिर,
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये कितै गिर,
कहाँ राज को तौन साजि जेहि जानत हैं चिर,
कहँ दुर्ग, सैन, धन, बल, गयो धूरहि-धूर दिखात जग।
जागो अब तो खल-बल-दलन, रक्षौ अपनो आर्य मग॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में उस युग का करुण क्रन्दन है। धार्मिक,

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में मानवता का पतन ही इस करुण क्रन्दन का कारण है और इसके लिए वह भगवान् से प्रार्थी हैं। मानव चारों ओर से थककर; अपने प्रत्येक प्रयास में विफल होकर, उसी महान् शक्ति के सामने अपनी यातनाओं के अन्त के लिये हाथ फैलाता है। भारतेन्दु अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आस्तिक हैं। सूर और तुलसी के समान वह भक्त नहीं हैं; पर ईश्वर की अनुकम्पा में, उसकी अपार शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास है।

भारतेन्दु अपने देश की राजनीतिक परिस्थितियों से भी अधिक प्रभावित हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते वह प्रत्येक स्थिति में अपने देश को कभी नहीं भूलते। इसीलिए उनकी प्रत्येक रचना राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत रहती है। साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने रीतिकालीन परम्पराओं का अनुगमन किया है। वही छन्द, वही कल्पनाएँ, वही उपमाएँ और वही अलंकार। उर्दू-कविता के सम्पर्क से हिन्दी-कविता में अनुभूतिजन्य गम्भीर भावों के चित्रण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति हुई थी। सारांश यह है कि भारतेन्दु में जहाँ नवीनता है, वहाँ प्राचीनता भी बहुत है। वह अपने प्राचीन और नवीन युगों से समान रूप से प्रभावित हैं।

पर वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का महत्त्व उन पर पड़े हुए इन प्रभावों के कारण नहीं है। लेखक और कवि अपने समय की विशेष परिस्थितियों से बराबर प्रभावित होते रहते हैं और उन प्रभावों का

भारतेन्दु का महत्त्व

चित्रण करते रहते हैं। भारतेन्दु का महत्त्वांकन करते समय हमें यह देखना होगा कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को किन परिस्थितियों से निकाल कर किस सीमा तक पहुँचाया और वह भविष्य के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें उनके महत्त्व के सम्बन्ध में जो सबसे पहली बात ज्ञात होती है वह है उनमें सफल नेतृत्व की क्षमता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के उत्थान के लिए अपने जीवन का एक-एक क्षण, अपनी सम्पत्ति का एक-एक पैसा, अपनी प्रतिभा की एक-एक

रेखा का दान कर दिया था। वह हिन्दी के महान् व्रती थे। विदेशी शासकों की परवाह न करके उन्होंने ऐसे समय में देश-प्रेम की मधुर रागिनी छेड़ी और उसका करुण स्वर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया जब राष्ट्रीय भावना की उद्भावना भी नहीं हुई थी। उनका प्रधान उद्देश्य था अकर्मण्यता और दासता के दल-दल में फँसी हुई जनता का सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास कर उसे स्वदेशाभिमान का ज्ञान कराना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रत्येक उपलब्ध साधन का सम्यक् उपयोग किया। कविता, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, समाचार-पत्र—इन सबकी ओर उनका ध्यान गया और इन सबको उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया। हिन्दी में राष्ट्रीय भावना के वह अग्रदूत थे।

भारतेन्दु के महत्त्व के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है संधि-काल में सामञ्जस्य की भावना का सफल चित्रण। संधिकाल प्राचीन और नवीन कालों के संगम का काल होता है। ऐसे काल में जन्म लेकर वही कवि और लेखक सफल हो सकता है जो अपनी रचनाओं में दोनों कालों की मान्यताओं और विश्वासों का अपनी मानसिक तुला पर उचित संतुलन कर जनता की मनोभावनाओं का सफल नेतृत्व करता है। भारतेन्दु इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। भारतीय इतिहास में उनका संधिकाल अन्य संधिकालों की अपेक्षा अधिक भयंकर था। हिन्दूकाल का अवसान होने और इस्लामी सभ्यता का प्रादुर्भाव होने पर इस देश में कवि चन्द ने हिन्दू-भावना का नेतृत्व किया, पर उनके नेतृत्व का प्रभाव चिरस्थायी न रह सका। बात यह थी कि उन्होंने तत्कालीन जनता की भावना का नेतृत्व नहीं, अपनी काव्य-कल्पनाओं का, राजपूतों की युद्ध-प्रियता का चित्रण किया। कबीर भी संधिकाल के ही कवि कहे जाते हैं; पर उनकी साधना व्यक्तिगत साधना थी। लोक-जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण आदि मध्य युग के कवि थे। अतः हिन्दी में संधिकाल का सफल नेतृत्व करने वाला यदि कोई कहा जा सकता है तो वह भारतेन्दु हैं। उनके समय में हिन्दू-सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को एक ओर इस्लामी सभ्यता की लाड़िली उर्दू भाषा से टक्कर लेनी थी और दूसरी ओर अँग-

रेज़ों की भरी-पूरी भाषा अँगरेजी से लोहा लेना था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी की रक्षा करना और उसे भारत के शिक्षित समुदाय में लोकप्रिय बनाकर पाठशालाओं में स्थान दिलाना भारतेन्दु ही जैसे कर्मठ व्यक्तियों का काम था। वह अपने साहित्य और अपनी भाषा की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझते थे। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा का संस्कार किया। काव्य की प्राचीन शैलियों का परिमार्जन कर साहित्य और जीवन में सम्पर्क एवं समन्वय स्थापित किया और नयी उठती हुई उमंगों का पथ-प्रदर्शन किया। एक ही साथ, इतने कार्य और प्रत्येक कार्य में अभूतपूर्व सफलता! भारतेन्दु अपनी इस सफलता के कारण हिन्दी-जगत् में चिरस्मरणीय हैं और इसीलिए उनके नाम से उनका युग भारतेन्दु-युग कहा जाता है।

भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नव जागरण का युग माना जाता है। इस युग से रीति-काल की परम्पराओं का अवसान और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय इतिहास में यह घटना आँधी की तरह आयी और आँधी की तरह ही निकल गयी; पर इसने प्रत्येक समाज की नस-नस को हिला दिया। मानव-हृदय में जो भावनाएँ सुप्त थीं उन्हें उसने जागरित कर दिया। देश का कोना-कोना नयी चेतनाओं से, नयी स्फूर्तियों से क्रियाशील होगया। पाश्चात्य सुसम्पन्न साहित्य और सभ्यता के आलोक में भारतवासियों ने पहली बार अपनी हीनता का अनुभव किया जिससे उनमें प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। भारतेन्दु-युग की यही पहली विशेषता है। इस युग ने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के अनुकूल बनाकर साहित्य में उन्हें स्थान दिया। फलतः तत्कालीन साहित्यकारों ने रीति-परम्परा का क्रमशः परित्याग किया और हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति की एक ऐसी भावना को जन्म दिया जिसने आगे चलकर द्विवेदी-युग और प्रसाद-युग का प्रादुर्भाव किया।

भारतेन्दु की विशेषताएँ

भारतेन्दु-काल की दूसरी विशेषता है विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करके हिन्दी के प्रति जनता में अनुराग उत्पन्न करना और हिन्दी-साहित्य

को लोक-प्रिय बनाना। रीति-कालीन साहित्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। वह रईसों, राजाओं और महाराजाओं के मनोरंजन तक ही सीमित था। इसलिए उस समय साहित्य के केवल एक अंग की—शृङ्गार और अलंकार से लदी हुई कविता की पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दुःख-सुख के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतेन्दु युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंस प्रकोष्ठों से निकाल कर अनेकरूपता प्रदान की। फलतः नाटक, उपन्यास, निबन्ध, खण्ड-काव्य, गद्य काव्य, इतिहास आदि लिखे जाने लगे। ऐसी दशा में कवियों में आश्रयदाताओं पर अपनी जीविका के लिये निर्भर रहने की जो दूषित भावना थी उसका लोप हो गया और वह जनता के प्रति उत्तरदायी हो गये।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता है अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीति-काल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था; इसलिए अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए शृंगारी रचना में प्रवृत्त कवि अपने समय और अपने समय की वास्तविक परिस्थितियों से कोसों दूर जा पड़े थे। फलतः उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ और वास्तविक चित्रण नहीं था। सन् सत्तावन की आँधी ने रीति-कालीन कवियों के आश्रयदाताओं का गढ़ तोड़ दिया। इस प्रकार विवश होकर उन्हें जनता के सम्पर्क में आना पड़ा और उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृङ्गार की प्रधानता थी, वहाँ लोक-भावनाओं की निर्मल धारा बहने लगी।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता है सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्द्धन में प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य गोष्ठी-साहित्य था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मंडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा करता था। वस्तुतः वह अपनी इष्ट-मित्र-मंडली को सुनाने के

देशों की भरी-पूरी भाषा अँगरेजी से लोहा लेना था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी की रक्षा करना और उसे भारत के शिक्षित समुदाय में लोकप्रिय बनाकर पाठशालाओं में स्थान दिलाना भारतेन्दु जी जैसे कर्मठ व्यक्तियों का काम था। वह अपने साहित्य और अपनी भाषा की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझते थे। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा का संस्कार किया। काव्य की प्राचीन शैलियों का परिमार्जन कर साहित्य और जीवन में सम्पर्क एवं समन्वय स्थापित किया और नयी उठती हुई उमंगों का पथ-प्रदर्शन किया। एक ही साथ, इतने कार्य और प्रत्येक कार्य में अभूतपूर्व सफलता! भारतेन्दु अपनी इस सफलता के कारण हिन्दी-जगत् में चिरस्मरणीय हैं और इसीलिए उनके नाम से उनका युग भारतेन्दु-युग कहा जाता है।

भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नव जागरण का युग माना जाता है। इस युग से रीति-काल की परम्पराओं का अवसान और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय इतिहास में यह घटना आँधी की तरह आयी और आँधी की तरह ही निकल गयी; पर इसने प्रत्येक समाज की नस-नस को हिला दिया। मानव-हृदय में जो भावनाएँ सुषुप्त थीं उन्हें उसने जागरित कर दिया। देश का कोना-कोना नयी चेतनाओं से, नयी स्फूर्तियों से क्रियाशील हो गया। पाश्चात्य सुसम्पन्न साहित्य और सभ्यता के आलोक में भारतवासियों ने पहली बार अपनी हीनता का अनुभव किया जिससे उनमें प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। भारतेन्दु-युग की यही पहली विशेषता है। इस युग ने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के अनुरूप बनाकर साहित्य में उन्हें स्थान दिया। फलतः तत्कालीन साहित्य-कारों ने [illegible] का स्वतः परित्याग किया और हिन्दी-साहित्य में [illegible] भावना को जन्म दिया जिसने आगे चलकर द्विवेदी-युग और प्रसाद-युग का [illegible] किया।

भारतेन्दु की विशेषताएँ

भारतेन्दु-युग की दूसरी विशेषता है विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करना और हिन्दी-साहित्य [illegible] जनता में अनुराग उत्पन्न [illegible]

को लोक-प्रिय बनाना। रीति-कालीन साहित्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। वह रईसों, राजाओं और महाराजाओं के मनोरंजन तक ही सीमित था। इसलिए उस समय साहित्य के केवल एक अंग की—शृङ्गार और अलंकार से लदी हुई कविता की पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दुःख-सुख के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतेन्दु युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंस प्रकोष्ठों से निकाल कर अनेकरूपता प्रदान की। फलतः नाटक, उपन्यास, निबन्ध, खण्ड-काव्य, गद्य काव्य, इतिहास आदि लिखे जाने लगे। ऐसी दशा में कवियों में आश्रयदाताओं पर अपनी जीविका के लिये निर्भर रहने की जो दूषित भावना थी उसका लोप हो गया और वह जनता के प्रति उत्तरदायी हो गये।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता है अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीति-काल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था; इसलिए अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए शृंगारी रचना में प्रवृत्त कवि अपने समय और अपने समय की वास्तविक परिस्थितियों से कोसों दूर जा पड़े थे। फलतः उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ और वास्तविक चित्रण नहीं था। सन् सत्तावन की आँधी ने रीति-कालीन कवियों के आश्रयदाताओं का गढ़ तोड़ दिया। इस प्रकार विवश होकर उन्हें जनता के सम्पर्क में आना पड़ा और उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृङ्गार की प्रधानता थी, वहाँ लोक-भावनाओं की निर्मल धारा बहने लगी।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता है सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्द्धन में प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य गोष्ठी-साहित्य था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मंडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा करता था। वस्तुतः वह अपनी इष्ट-मित्र-मंडली को सुनाने के

लिए ही लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के घर पर लेखकों और कवियों की बैठक होती थी। ऐसी बैठकों में हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर वाद-विवाद होता था, और नवीन रचनाओं पर टीका-टिप्पणी भी होती थी। यद्यपि उस समय की और आज की आलोचना में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि उसमें व्यक्तिगत आक्षेपों को स्थान नहीं था। प्रत्येक कवि और लेखक अपने सम्बन्ध में की गयी आलोचना को सहर्ष स्वीकार करता था और उसके आलोक में अपनी साहित्य-साधना का मार्ग निश्चित करता था। भाषा का परिमार्जन और संस्कार, काव्य-शैलियों की नवीनतम रूप-रेखा, काव्य-विषयों की छान-बीन आदि के निरूपण में सबका मत एक था। ऐसा जान पड़ता था कि उस युग के सब लेखक एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे।

भारतेन्दु-काल की इन विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दी का जो रूप आज हम देख रहे हैं वह वास्तव में उस युग का संशोधित, परिमार्जित और परिवर्द्धित संस्करण है। भक्ति-काल में कविता का विषय धर्म था, रीति-काल में शृङ्गार था। भारतेन्दु-काल से इन दोनों का साहित्य में गौण स्थान हो गया। इस युग ने देश-प्रेम, स्वतन्त्रता की भावना, समाज-सुधार की आकांक्षा आदि को प्राधान्य दिया; पर इन धाराओं के साथ प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित रहीं। सारांश यह कि भारतेन्दु-युग अपनी सीमा के भीतर नवीन और प्राचीन दोनों है। उसमें भक्ति-काल का दैन्य है, रीति-काल का माधुर्य है और इन सबके साथ ही नवीनकाल की देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावना है।

भारतेन्दु-काल की इन विशेषताओं का केन्द्र है भारतेन्दु-साहित्य। हम देख चुके हैं कि भारतेन्दु के पहले गद्य-साहित्य का सर्वथा अभाव था।

भारतेन्दु का गद्य-मार्जन

आजकल जिस अर्थ में हम गद्य-साहित्य को स्वीकार करते हैं, उस अर्थ में गद्य-साहित्य का श्रीगणेश भारतेन्दु ने किया। उन्होंने गद्य के लिए खड़ीबोली को अपनाया और उसी का प्रचार किया। हिन्दी-साहित्य में इस समय तक के जो ग्रंथ उपलब्ध थे वे प्रायः ब्रजभाषा में थे। उर्दू तथा

अँगरेजी के प्रभाव से व्रजभाषा गद्य के लिए शक्तिहीन हो गयी थी। इसके लिए खड़ीबोली ही उपयुक्त थी। और ऐसी दशा में भारतेन्दु ने खड़ीबोली में इतिहास निबन्ध, कथा और उपन्यास लिखने की ओर ध्यान दिया। उन्होंने खड़ी बोली की रूप-रेखा निश्चित की और काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, बादशाह दर्पण आदि लिख कर इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों उन्होंने उपन्यास लिखने की ओर भी ध्यान दिया, पर यह कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। उन्होंने कई निबन्ध भी लिखे। उनके निबन्ध गम्भीर, गवेषणपूर्ण, हास्य-रस-युक्त और अपने में सम्पूर्ण होते थे। समाचार-पत्रों में वह बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे। उन्होंने गद्य-गीत भी लिखे थे। उनके कथात्मक निबन्धों में 'हमीर हठ', 'राजसिंह' और एक कहानी 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' का स्थान है। ये तीनों निबन्ध अपूर्ण हैं। आख्यानों में मदालय, शीलवती, सुलोचना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। आज के दृष्टिकोण से आलोचना करने पर इन आख्यानों का मूल्य कुछ भी नहीं है, पर जिस युग में भारतेन्दु ने इनकी रचना की थी उस युग में इनका विशेष महत्त्व था, और इसीलिए आज भी उनका महत्त्व है। वेश्या-स्तोत्र, अँगरेज-स्तोत्र, पाँच पैगम्बर, कंकड़-स्तोत्र आदि उनके छोटे-छोटे हास्य लेख हैं। इन निबन्धों और लेखों के अतिरिक्त उनके गद्य-साहित्य में नाटकों का भी स्थान है। इन नाटकों की चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ हमें सारांश में यह समझ लेना चाहिए कि भारतेन्दु अपने समय के उच्च कोटि के गद्य-कार और खड़ीबोली के प्रथम आचार्य थे।

गद्य-लेखक होने के नाते भारतेन्दु अच्छे पत्रकार भी थे। उनका युग प्रचार का युग था और इसका प्रमुख साधन था समाचार-पत्र। भारतेन्दु ने हिन्दी-प्रचार के लिए इस साधन से भी पूरा लाभ उठाया। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के क्षेत्र में समाचार-पत्र और पत्र-कला का जन्म हो चुका था, पर वह अत्यन्त अधकचरी दशा में था। भारतेन्दु ने उसका संस्कार किया। सन् १८६७ ई० में

भारतेन्दु की पत्र-कला

उन्होंने 'कवि वचन सुधा' प्रकाशित की और वह इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके बाद हिन्दी-पत्रों की शृंखला कभी नहीं टूटी। पहले यह मासिक पत्रिका थी और इसमें प्राचीन सामाजिक कवियों की रचनाएँ पुस्तिका-रूप में प्रकाशित होती थीं। कुछ समय पश्चात् यह पत्रिका पाक्षिक हो गयी और इसमें राजनीति तथा समाज सम्बन्धी निबन्ध प्रकाशित होने लगे। अन्त में यह साप्ताहिक हुई। इससे इस पत्रिका की लोकप्रियता स्वयं सिद्ध हो जाती है। यह पत्रिका भारतेन्दु की मृत्यु तक बराबर निकलती रही।

पत्र-कला में भारतेन्दु का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न 'हरिश्चन्द्र मेगज़ीन' है। यह पत्र सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ। दूसरे वर्ष इसका नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' रख दिया गया। यह पत्र १८८० तक बड़ी सजधज से निकलता रहा। मासिक पत्रों में इस पत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त नाटक और पुरातत्व सम्बन्धी लेख भी रहते थे। १८८० ई० के पश्चात् आर्थिक संकट के कारण भारतेन्दु ने इससे अपना हाथ खींच लिया और यह मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के सम्पादकत्व में उदयपुर से निकलने लगा। 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से पुनः भारतेन्दु ने एक पत्रिका निकाली, पर इसकी दो संख्याएँ ही निकल पाई थीं कि उनकी मृत्यु हो गयी। उन्होंने बालिकाओं के लिए 'बाला बोधिनी' नाम की एक पत्रिका सन् १८७४ ई० में निकाली थी। यह पत्रिका भी कुछ ही समय तक निकल सकी। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक पत्रिका 'भगवद् भक्तितोषिणी' भी प्रकाशित की थी। यह वैष्णव धर्म-प्रधान पत्रिका थी। यह भी एक वर्ष तक निकल कर बन्द हो गयी।

मृत्यु के पश्चात् भी हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरती रही। भारतेन्दु के जीवन-काल ही में लगभग २५ पत्र निकलने लगे थे। उस समय हिन्दी के लिए यह बड़े गौरव की बात थी।

अब तक हमने भारतेन्दु के गद्य-साहित्य की जो चर्चा की है उसमें उनके नाटकों को स्थान नहीं मिला है। अतः यहाँ हम संक्षेप में उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। उनके नाटकों के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वे कुछ तो मौलिक हैं और कुछ अनुवादित। विषय की दृष्टि से उनके नाटक धार्मिक, सामाजिक, पौराणिक और राजनीतिक हैं। मौलिक नाटकों की रचना में भारतेन्दु ने नाटक की प्राचीन परम्पराओं का उसी सीमा तक अनुकरण किया है, जहाँ तक हिन्दी नाट्य-कला की आधुनिक आवश्यकताओं ने उन्हें आज्ञा दी है। अनावश्यक रूढ़ियों का परित्याग और नवीनता का आवश्यकतानुसार ग्रहण भारतेन्दु की एक विशेषता रही है, और इस विशेषता का यथार्थ परिचय हमें उनकी मौलिक रचनाओं में मिलता है।

भारतेन्दु के नाटक

अब हमें यह देखना है कि भारतेन्दु अपनी नाट्य-कला में कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्य के विभिन्न अंगों के परिवर्तन एवं विकास में जहाँ वह अग्रसर रहे वहाँ इस दिशा में वह प्रथम आचार्य सिद्ध हुए। उनके पूर्व हिन्दी में नाटक थे तो अवश्य, पर उन्हें नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती थी। कुछ तो गद्य की भाषा का रूप स्थिर न होने के कारण और कुछ रंगमंचों के अभाव के कारण हिन्दी में नाटकों की ओर किसी पूर्ववर्ती लेखक का ध्यान ही नहीं गया। श्रव्य काव्य का ही प्रत्येक दशा में बोलबाला रहा। मुसलमानों की धार्मिक भावना भी दृश्य काव्य-विरोधिनी थी। इसलिए उनके शासन-काल में भी हिन्दी-नाट्य-रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला। इस युग में नाटक नाम से कुछ चीजें अवश्य लिखी गयी थीं, पर उनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव था। रामचरित मानस में जो नाटकीय छटा थी उसी को लेकर रामलीला के

अवसरों पर कुछ खेल-तमाशे हो जाया करते थे। ऐसी ही कुछ मौलिक रचनाएँ भी हो चुकी थीं। ब्रज-प्रदेश में भी इसी प्रकार के संवाद और खेल कृष्णलीला के नाम से लिखे गये थे। संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी पद्य में हुए थे। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी नाटक के तीन रूप थे—(१) रासलीला के लिए दोहे-चौपाइयों में गद्य-संकेतों के साथ संवाद, (२) ब्रजभाषा-पद्य में संस्कृत से अनुवाद जिनमें प्रायः संकेत रूप में गद्य होता था, और (३) संस्कृत के गद्य-अनुवाद। नाटक के इन रूपों में कोई साहित्यिक नाट्य-कौशल नहीं था। भारतेन्दु-युग ने इस युग का अवसान देखा और नाट्य-प्रिय अँगरेज़ी सभ्यता का अभ्युत्थान। इसके अतिरिक्त खड़ीबोली का रूप भी उनके समय तक बहुत कुछ स्थिर हो गया था। अतः ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु को अपनी नाट्य-कला प्रदर्शित करने का अच्छा अवसर मिला। इस दिशा में उनके पिता ब्रजभाषा में नहुष नाटक लिखकर उनका पथ-प्रदर्शन कर चुके थे। वह नाट्य-प्रेमी थे और नाट्य-कला से भली भाँति परिचित थे। भारतेन्दु पर इसका प्रभाव पड़ा।

भारतेन्दु के नाटक मर्मस्पर्शी होते हैं। उनमें जीवन की उठान के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। उनमें जातीय आदर्शों का सौन्दर्य रहता है, सद्भावना की प्रखर प्रेरणा रहती है और राष्ट्रीय शक्ति का प्रभावशाली उद्घोष रहता है। उनको पढ़ने में जितना आनन्द आता है, उतना ही रंगमंच पर उन्हें देखने से। उनसे हमारी अधोगामिनी मनोवृत्तियाँ परिष्कृत और शुद्ध होती हैं। उनमें हास्य और व्यंग्य की मात्रा भी अधिक रहती है। उनमें आत्मनिर्भरता और कर्मठता का भाव भरा रहता है। आडम्बरशून्य होने के कारण वे रंगमंच की शोभा भी बढ़ा सकते हैं। वे साधारण रंगमंच पर भी आसानी से खेले जा सकते हैं। उनका आकार भी इतना परिमित है कि उनके आद्योपान्त अभिनय के लिए दो-तीन घंटे पर्याप्त होते हैं। उनके अभिनय द्वारा आज भी ग्रामों और नगरों में जनसाधारण के बीच राष्ट्रीय समुत्साह का प्रचार किया जा सकता है। हम जहाँ भी चाहें वहाँ जाकर उनके उपयुक्त छोटा-मोटा रंगमंच खड़ा कर सकते हैं। सारांश यह कि जन-हित की दृष्टि से नाटकों के यथार्थ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज हमें जैसे नाटकों की आवश्यकता है वैसे नाटक एकमात्र भारतेन्दु से ही हमें प्राप्त होते हैं।

रचना-शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक संस्कृत के नाटकों से अधिक प्रभावित हैं, पर उनमें सर्वत्र मौलिकता बनी हुई है। उनकी रचना-शैली में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों की रचना में न तो एकान्तिक रूप से प्राचीन नियमों का पालन किया है और न बंगला-नाटककारों की भाँति उनका सर्वथा परित्याग। अँगरेजी नाटकों का अन्धानुकरण भी उनमें नहीं है। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती है। पताका, स्थानक आदि का प्रयोग भी वह कहीं-कहीं करते हैं। इस प्रकार वह नाटकों में प्राचीन भी हैं और नवीन भी। उनकी शैली इन दोनों युगों के कूल छूती हुई चलती है। वस्तुतः उनका युगान्तरकारी स्वरूप हमें उनके नाटकों में ही देखने को मिलता है।

भारतेन्दु की श्रेष्ठ तथा सबसे अधिक लोकप्रिय कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है। इसमें सत्य का जो आदर्श अंकित है वह उनकी कला की सर्वथा

मौलिक देन है। इस नाटक की रचना में उन्होंने क्षेमीश्वर के 'चंड कौशिक' से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ली है; पर कथानक, उद्देश्य और आदर्श की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और उत्तम है। इसमें करुण, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों का परिपाक भी अच्छा हुआ है। हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैव्या का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सराहनीय है। भारतीय आदर्शों की इसमें पूर्ण रक्षा हुई है। वात्सल्य के चित्र तो बड़े ही मार्मिक हैं। नाटक के उपक्रम में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए की गयी थी; फलतः इसमें शृङ्गार का अभाव है। परन्तु पाठशाला में पढ़ायी जाने वाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भारत गहे, कर-दुख बहे' जैसी बातें लिखना, वह भी ऐसे समय में जबकि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता आज-जैसी नहीं थी, भारतेन्दु की देश-प्रेम-भावना, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है। उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देशहितैषिता की सच्ची लगन में अनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है। पूर्व गौरव की स्मृति, आत्मग्लानि, लांछना, व्यंग्य, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ समय-समय पर अपनी क्रीड़ा किया करती हैं। 'भारत-दुर्दशा' देश-भक्तिपूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और इसमें ये सब प्रवृत्तियाँ हृदय के सच्चे संयोग के साथ स्थल-स्थल पर दिखाई देती हैं। रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। इनके कारनामों का वर्णन स्वाभाविक और शिक्षाप्रद है। भारत की दुर्दशा को देखकर नीलदेवी में उन्होंने करुणानिधि का आँचल पकड़ा है। 'कहाँ करुणानिधि केसव सोए' में उनकी आत्मा का करुण क्रन्दन देखने योग्य है। 'चलहु वीर उठि करत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ' में उनकी आत्मा का समस्त उत्साह उमड़ पड़ा है। ईश्वर की अनुकम्पा और उसकी शक्ति में विश्वास रखते हुए भी भारतेन्दु क्रियाशील हैं—अपने जीवन में भी और साहित्य में भी। वह रोते हैं, पर रोकर चुप नहीं रहते; समरक्षेत्र में उतर कर लोहा लेने की क्षमता रखते हैं। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के उपयुक्त नारी-चरित्र का परम आदर्श उन्होंने नील देवी के चरित्र में चित्रित किया है। अँगरेजी रमणियों की उच्छृङ्खल विलासिता और तितलीपन से भारत

के नारी-समाज को बचाने का यह एक सफल प्रयास है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति एक महान् प्रहसन है जिसमें माँस तथा मदिरा सेवन करने वालों का मजाक उड़ाया गया है और तत्कालीन समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के पक्षपातियों और पाखंडी पण्डितों पर हास्यपूर्ण व्यंग्य कसे गये हैं। चन्द्रावली शृङ्गार-रस-पूर्ण नाटिका है। इसकी भाषा बड़ी मधुर और परिमार्जित है और इसमें पीयूषवाही प्रेम का मंजुल चित्र अङ्कित किया गया है। संयोग और विरह के मार्मिक चित्रों से यह परिपूर्ण है। प्रेम और औत्सुक्य का इसमें अच्छा सामञ्जस्य हुआ है। अन्धेरनगरी भी एक प्रहसन है। इसमें देश की वर्तमान स्थिति के बड़े आकर्षक और व्यंग्यपूर्ण चित्र हैं।

यह तो हुआ भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटकों का सामान्य परिचय। अब हम उनकी नाट्य-कला पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में हम पहले बता चुके हैं कि उन्होंने नाट्य-शास्त्र के प्राचीन सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। उनके नाटकों में न तो अर्थ-प्रकृतियों का ही पता चलता है और न संधियों का ही। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी शास्त्र-सम्मत नहीं है। उनमें क्रम-विकास का भी अभाव है। वस्तुतः उनके नाटक आधुनिक शैली के अनुकूल हैं, अतः इसी दृष्टि से हमें उन पर विचार करना चाहिए:—

(१) कथावस्तु—हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु के नाटक विषय की दृष्टि से सामाजिक पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय हैं; मुख्यतः उनके नाटकों का विषय प्रेम और राष्ट्रीयता है। उनकी राष्ट्रीयता ही आर्य-गौरव, देश-प्रेम आदि के रूप में प्रकट हुई है। उनके नाटकों में सामाजिक जीवन के भी मार्मिक चित्र हैं। वर्ण्य विषयों का आधार प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक है। प्रागैतिहासिक अथवा पौराणिक में सत्य हरिश्चन्द्र, ऐतिहासिक में नीलदेवी और काल्पनिक में भारत-दुर्दशा का मुख्य स्थान है। भारत-दुर्दशा में कोई कथावस्तु नहीं है। इसमें भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावनाएँ ही कथा के रूप में चित्रित हुई हैं।

भारतेन्दु ने अपने कथानकों का संगठन अपने निजी ढंग से किया है। उनका प्रत्येक नाटक अंकों में और फिर दृश्यों में विभाजित नहीं है। सत्य

हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली आदि तो अंकों में विभक्त हैं; पर नीलदेवी तथा भारत दुर्दशा आदि दृश्यों में। कथानक में क्रम-विकास भी स्पष्ट नहीं है। कुछ नाटक तो आदि से अन्त तक एक ही सामान बने रहते हैं। अङ्कों के छोटे-बड़े होने के नियम को भी कोई महत्व नहीं दिया गया है। साधारणतः बाद वाले अङ्कों को पिछले अङ्कों की अपेक्षा छोटा होना चाहिए, पर सत्य हरिश्चन्द्र में इस सामान्य नियम की भी उपेक्षा की गयी है। अन्धेर नगरी आदि नाटकों में दृश्य शृङ्खलाबद्ध हैं। दर्शकों की रुचि को स्थायित्व देने के लिए भिन्न-भिन्न दृश्यों में भिन्न-भिन्न रसों का समावेश किया गया है।

भारतेन्दु के कथानक मनोरंजक, प्रभावोत्पादक और रसपूर्ण हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में हास्य की कुशल योजना प्रस्तुत की है। इसके साथ ही वह राष्ट्रीयता और आर्य-गौरव को भी नहीं भूले हैं। कथानक की सामग्री एकत्र करने में उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक रही है। गरीब-अमीर, कर्मण्य-अकर्मण्य, पंडित-मूर्ख, देश-विदेश सभी ओर उनकी दृष्टि गयी है। फलतः कल्पना और अनुभूति, आदर्श और यथार्थ, आकाश और पृथ्वी का अत्यन्त सुन्दर सम्मिलन उनके नाटकों में हुआ है।

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु के नाटक चरित्र-प्रधान होते हैं, अतः उनमें घटनाओं की सर्वथा गौणता रहती है। आरम्भ में सूत्रधार और नटी आदि के सम्भाषण से नायक के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। इसके बाद समुद्र की तरंगों के समान घटनाएँ क्रम से आती रहती हैं और अपने स्पर्श और चोट से नायक के चरित्र का विकास करती हैं। भारतेन्दु अपने पात्रों के एक-एक अंग को धीरे-धीरे अनावृत करते हैं। उनके पात्र मानव और देव, सज्जन और दुष्ट, वास्तविक और कल्पित सभी प्रकार के होते हैं, जिनके गुण-दोषों का आरम्भ में निर्देश-सा कर दिया जाता है। उनके पात्र स्थिर होते हैं, परिवर्तनशील नहीं। वे एक निश्चित लीक पर उत्तरोत्तर बढ़ते हैं और अन्त में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। आरम्भ में पात्रों के जिन रूपों के धूमिल रेखा-चित्र लेकर नाटककार उपस्थित होता है, अन्त में उन्हीं रूपों का स्पष्ट और अनुरञ्जित चित्र देकर वह रंगमंच से तिरोहित हो जाता है। प्रथम झाँकी में पात्रों के

सम्बन्ध में हमारी जो धारणा बँधती है, वही अन्त तक बनी रहती है। उसमें किसी प्रकार का कहीं भी परिवर्तन नहीं होता। हरिश्चन्द्र, नीलदेवी आदि ऐसे ही पात्र हैं। विश्वामित्र इसके अपवाद रूप हैं।

भारतेन्दु का चरित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। उनके सभी पात्र जीते-जागते होते हैं और हमारे हृदय को छूने और उसे अनुप्राणित करने में समर्थ होते हैं। उनके पात्र सामान्य भूमि से ऊपर उठे हैं और कुछ अतिरंजित भी हैं। हरिश्चन्द्र और चौपट्ट राजा ऐसे ही पात्र हैं। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानव की सरल मनोवृत्तियों का ही अंकन मिलता है। सूक्ष्म मनोभावों की इनमें बड़ी कमी है। मानव-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व इन पात्रों में नहीं है। भारतेन्दु के पात्र अपने मनोविकारों और कुवृत्तियों से इतना नहीं लड़ते जितना अपनी परिस्थितियों से। इसका एक कारण है। उनके पात्र वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। हरिश्चन्द्र उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो सत्य के लिये अपना सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। चन्द्रावली, नीलदेवी आदि नारियाँ भी किसी न किसी वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु ने अपने चरित्र-चित्रण में उन सभी उपादानों से काम लिया है जिनके कारण उनकी रोचकता में अभिवृद्धि होती है। चरित्र-चित्रण में निम्न उपादान होते हैं :—

(१) कथोपकथन में पात्रों की उक्तियाँ,
(२) उनका स्वगत भाषण,
(३) उनके सम्बन्ध में अन्य पात्रों के कथोपकथन, और
(४) उनका निजी कार्य-व्यापार।

भारतेन्दु सर्व प्रथम अन्य पात्रों के कथोपकथन-द्वारा अपने नायकों का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं और तब उनके कार्य-कलापों द्वारा अपने अभिमत की परिपुष्टि करते हैं। बीच-बीच में स्वगत-कथन और आकाश-भाषित द्वारा पात्रों की मानसिक अवस्था और आन्तरिक भावनाओं पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। पात्रों की भाषा उनकी संस्कृत और सभ्यता के अनुकूल है।

(३) कथोपकथन—भारतेन्दु के नाटक इतिवृत्तात्मक होते हैं, इसलिए

उनमें कथोपकथन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। नाटक की रचना में नाटकत्व और कवित्व लाने, कथानक के प्रभाव को गतिशील और रोचक बनाने तथा पात्रों के मनोवेगों और भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिये कथोपकथन की आवश्यकता होती है। यह जितना ही सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, शिष्ट, चुटीला और देश-काल तथा पात्र के अनुकूल होता है उतना ही नाटक की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु ने पात्रोचित भाव और भाषा पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया है जो पात्र जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है अथवा जिस संगति में रहता है उसके भाव भी वैसे ही हैं; दुष्टों के विचार दुष्टतापूर्ण और सज्जन के सज्जनता-पूर्ण। इतना होते हुए भी भारतेन्दु में जब सिद्धान्तों के प्रतिपादन और राष्ट्रीयता के भाव तीव्र हो जाते हैं तब उनके कथोपकथन कुछ अस्वाभाविक हो जाते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि वह नाटककार नहीं, वक्ता है। ऐसे अवसरों पर कथोपकथन की रोचकता नष्ट हो जाती है और दर्शक का जी ऊब जाता है। कथोपकथन छोटा, संयत, गम्भीर, संदर्भपूर्ण और चुटीला होना चाहिए। भारतेन्दु स्थान-स्थान पर वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं और उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि के फेर में पड़ गये हैं।

(४) अन्य विशेषताएँ—भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटक अभिनेय हैं। उनमें मनोरंजन का केन्द्र आदि से अन्त तक बना रहता है। उनके नाटकों में कविता का विशेष स्थान रहता है। उनमें ऐसे अनूठे और विलक्षण दृश्य नहीं रहते जो रंगमंच पर न दिखाये जा सकें। उनमें प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत संगम रहता है। उनके सभी पात्रों में भारतीय संस्कृति भरी रहती है और वे अपनी तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित और प्रभावित रहते हैं। उनकी वेश-भूषा भारतीय होती है। वे उच्च उद्देश्यों और आदर्शों के पोषक और रक्षक होते हैं। जीवन की उदात्त वृत्तियाँ उनमें भरी रहती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु का वही स्थान है, जो संस्कृत के नाट्य-साहित्य में भरत मुनि का है। उन्होंने हिन्दी का रंगमंच तैयार किया और जनता का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट

किया। उनके समय में नाटकों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उनका न तो अपना रंग-मंच था और न अपनी शैली। पारसी रंगमंच पर अश्लील अभिनय होते थे, इसलिए शिक्षित समाज में नाटक का नाम लेना निन्दनीय समझा जाता था। लोगों की यह धारणा हो चली थी कि नाटक देखना चरित्र भ्रष्ट करने का एक साधन है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु ने हिन्दी-नाटकों की लोकप्रियता स्थापित की। इतना ही नहीं उन्होंने नाटक लिखे, उनका अभिनय किया और स्वयं उनमें सक्रिय भाग लिया। इसका फल यह हुआ कि शिक्षित वर्ग का नाटकों के प्रति जो प्रतिकूल दृष्टि-कोण था उसका परिमार्जन हो गया। पर केवल दृष्टिकोण का परिमार्जन करना ही उस समय अलम् न था। नाटकों को प्रेम के अश्लील क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में लाने की भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने कुछ तो प्राचीन संस्कृत-नाटकों के अनुवाद द्वारा की और कुछ मौलिक रचनाओं-द्वारा। उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता के उच्च उद्देश्य ही जनता के सामने रखे। देश के तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों से भी उन्होंने अपने नाटकों को सजाया और इस प्रकार उन्हें पूर्ण बना दिया। हिन्दी आज उनकी इस कार्य-कुशलता का आभार मानती है और अपने नाट्य-साहित्य में उन्हें प्रथम स्थान देती है।

भारतेन्दु की काव्य-साधना

नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी बहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है। वस्तुतः उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वह साधारण कवि नहीं, आशु कवि थे। इसलिए लिखने का सामान सदैव उनके साथ रहता था। उनके मन में जब तरंग उठती थी तब वह लिखने बैठ जाते थे और धारावाही रूप से लिखते थे। उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह भावावेश में जो कुछ लिखते थे वह कविता ही होती थी। भावुकता उनमें इतनी थी कि उसका उद्रेक होने पर अपनी स्थिति तक का ध्यान नहीं रहता था; वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

किया। उनके समय में नाटकों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उनका न तो अपना रंग-मंच था और न अपनी शैली। पारसी रंगमंच पर अश्लील अभिनय होते थे, इसलिए शिक्षित समाज में नाटक का नाम लेना निन्दनीय समझा जाता था। लोगों की यह धारणा हो चली थी कि नाटक देखना चरित्र भ्रष्ट करने का एक साधन है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु ने हिन्दी-नाटकों की लोकप्रियता स्थापित की। इतना ही नहीं उन्होंने नाटक लिखे, उनका अभिनय किया और स्वयं उनमें सक्रिय भाग लिया। इसका फल यह हुआ कि शिक्षित वर्ग का नाटकों के प्रति जो प्रतिकूल दृष्टि-कोण था उसका परिमार्जन हो गया। पर केवल दृष्टिकोण का परिमार्जन करना ही उस समय अलम् न था। नाटकों को प्रेम के अश्लील क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में लाने की भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने कुछ तो प्राचीन संस्कृत-नाटकों के अनुवाद द्वारा की और कुछ मौलिक रचनाओं-द्वारा। उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता के उच्च उद्देश्य ही जनता के सामने रखे। देश के तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों से भी उन्होंने अपने नाटकों को सजाया और इस प्रकार उन्हें पूर्ण बना दिया। हिन्दी आज उनकी इस कार्य-कुशलता का आभार मानती है और अपने नाट्य-साहित्य में उन्हें प्रथम स्थान देती है।

नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी बहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है। वस्तुतः उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वह साधारण कवि नहीं, आशु कवि थे। इसलिए लिखने का सामान सदैव उनके साथ रहता था। उनके मन में जब तरंग उठती थी तब वह लिखने बैठ जाते थे और धारावाही रूप से लिखते थे। उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह भावावेश में जो कुछ लिखते थे वह कविता ही होती थी। भावुकता उनमें इतनी थी कि उसका उद्रेक होने पर अपनी स्थिति तक का ध्यान नहीं रहता था; वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

भारतेन्दु की काव्य-साधना

भारतेन्दु का काव्य बड़े व्यापक रूप में मिलता है। उनकी रचनाओं में प्राचीन युग का प्रतिनिधित्व हुआ है। पर नवीन युग की जिन विशेषताओं से प्रभावित थे उनकी भी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनमें की गई थी। पर उनकी रचनाओं में कहीं भक्ति-भावना है, कहीं रीति-कालीन और कहीं एकदम शुद्ध आधुनिक। इन विविध रूपों के अतिरिक्त उनकी गज़लें और उर्दू कविताएँ भी मिलती हैं। वह अपने समय के उर्दू के प्रतिष्ठित कवि थे और मुशायरों, उर्दू-कवि-सम्मेलनों में बराबर भाग लेते रहते थे। 'रसा' उनका उपनाम था। उनकी बहुत-सी कविताएँ इस शैली में मिलती हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कविताओं को ४ भागों में विभाजित कर सकते हैं— (१) भक्ति-प्रधान, (२) शृंगार-प्रधान (३) देश-प्रेम-प्रधान, (४) सामाजिक समस्या-प्रधान।

(१) भक्ति-प्रधान-रचनाएँ—भारतेन्दु पुष्टि-सम्प्रदाय के दृढ़-भक्त थे। इससे उनकी कविता का सबसे बड़ा भाग वैष्णव-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैष्णव-कृष्ण-भक्ति काव्य के जितने भी अंग हैं, उन सब पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण इस पद में देखिए—

हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के॥

भारतेन्दु का भक्ति-साहित्य गीत-काव्य की श्रेणी में आता है। इसके अन्तर्गत हमें लगभग डेढ़ हजार पद मिलते हैं। इतने सुन्दर पद इतनी बड़ी संख्या में अष्टछाप के कवियों के पश्चात् भारतेन्दु ने ही लिखे हैं। इन पदों का विषय राधा-कृष्ण-लीला है, पर अन्य विषयों का समावेश भी कुछ पदों में हुआ है। बाल-लीला, राधा कृष्ण-प्रेम-विलास, मान, रूप-वर्णन, वंशी, दान, विरह, मिलन, भ्रमर-गीत, नैन और मन के प्रति कहे पद उनके रीति-काव्य में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति, विनय, दैन्य, होली, वसन्त, फाग, वर्षा आदि का वर्णन भी उनके पदों में पाया जाता है। इनमें हम कवि को कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा का विकास करते पाते हैं। भारतेन्दु का समस्त कृष्ण-काव्य सूर के काव्य के आधार पर खड़ा है। वही विषय, वही भाषा, वही शब्द-विन्यास, वही दैन्य,

वही भाव-भंगिमा। जयदेव के गीतगोविन्द की छाप भी इन पर पड़ी है, पर सूर की अपेक्षा कम। कुछ नमूने देखिये :—

चिर जीवो मेरे कुँवर कन्हैया।
इन नैनन हौं नित नित देखौं, राम-कृष्ण दोउ भैया॥

× × ×

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन को रज जामैं सिर भीजै॥

× × ×

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत, सब जानि जात हैं, घूँघट में न खगे॥

× × ×

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु अपने कृष्ण-काव्य में सूर की शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं और उसी के अनुकूल उनकी पद योजना हुई है। इस दृष्टि से वह कृष्ण-काव्य की परम्परा के अन्तिम कवि माने जाते हैं।

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु पर सूर का अधिक प्रभाव है; पर इस प्रभाव से सर्वत्र उनकी मौलिकता नष्ट नहीं हुई है। देवी छद्मलीला, और तन्मय लीला आदि खण्ड काव्यों में जो कथाएँ हैं, वे सर्वथा मौलिक हैं। इन मौलिक प्रसंगों के अतिरिक्त उन्होंने राधा के जन्म, प्रेम-विकास और कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव के बड़े अनूठे और सुन्दर चित्र उतारे हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त उनके कई पदों में ब्रजभूमि के कृष्ण-उत्सवों का भी सफल चित्रण हुआ है। सन्त-काव्य की शैली में उनकी एक रचना देखिए—

यारो एक दिन मौत जरूर।
फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नसे में चूर॥

इस प्रकार के पद भारतेन्दु की भक्ति-भावना के विषय नहीं हैं, पर फिर भी ऐसे ज्ञान-प्रधान पदों को लिखकर उन्होंने अपने साहित्य में सन्त-कवियों की भावना और उनकी शैली का प्रतिनिधित्व अवश्य किया है।

(२) श्रृङ्गार-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं के

पश्चात् उनकी शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ आती हैं। ऐसी रचनाएँ प्रायः कवित्त और सवैये में पायी जाती हैं। उनके कवित्त और सवैये अनुभूति से भरे हैं। इस दृष्टि से वह पद्माकर, घनानन्द और रसखान की श्रेणी में आते हैं। उन्होंने इन कवियों की भाँति अपनी रचनाओं में शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इस क्षेत्र में उनके काव्य का विषय है राधा-कृष्ण का प्रेम। उन्होंने प्रेम के दोनों पक्षों का—संयोग और वियोग का—सफल चित्रण किया है। वियोग के चित्रण में संयोग के चित्रण की अपेक्षा उन्हें अधिक सफलता मिली है। उनकी कविता में प्रेम की सरिता का अजस्र प्रवाह है। कुछ काव्य-पुस्तकों का प्रणयन ही प्रेम के नाम से हुआ है। प्रेम-फुलवारी, प्रेम-माधुरी, प्रेत-तरंग आदि काव्य-ग्रन्थ प्रेम की उदात्त वृत्तियों से भरे पड़े हैं। उनकी प्रेम-भावना संयत और शिष्ट है। रीतिकालीन कवियों की भांति उन्होंने प्रेम के अश्लील वर्णन से अपनी शृङ्गारी रचनाओं की रक्षा की है। उनकी रचनाएँ इतनी सरस, भावपूर्ण, चुटीली और प्रभावपूर्ण होती हैं कि पाठक के हृदय को अपने में तन्मय कर लेती हैं।

(३) देश-प्रेम-प्रधान रचनाएँ—वस्तुतः भारतेन्दु की जीवन-ज्योति का केन्द्रिय बिन्दु प्रेम ही है। यह प्रेम कभी गंगा के समान भगवान् के श्री चरणों से उच्छ्वसित हुआ है, कभी राधा और कृष्ण के सम्मिलित हृदय से प्रवाहित होकर काव्य की पृष्ठभूमि बना है और कभी देश और राष्ट्र के कल्याण के लिये उमड़ पड़ा है। उनके प्रेम के प्रथम दो रूपों का चित्र हम देख चुके हैं, तीसरे का चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

पृथ्वीराज जयचन्द कलह करि यवन बुलायो,
तिमिरलंग, चंगेज आदि बहु नरन कटायो।
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो,
विषय—वासना दुसह मुहम्मदसा फैलायो।
तब लों बहु सोये वत्स तुम, जागे नहिं कोऊ जतन।
अब तौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाँड़ि मन॥

भारतेन्दु का युग विक्टोरिया का शासन-काल था। इस काल में एक लम्बी अवधि के पश्चात् शान्ति स्थापित हुई थी। अतः भारतेन्दु ने इस

काल में लोगों का ध्यान देश की ओर आकृष्ट किया। सर्व प्रथम उन्होंने भारत-दुर्दशा में अपने देश-प्रेम का परिचय इस प्रकार दिया—

रोअहु सब मिलि कै, आवहु, भारत भाई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इसी नाटक के छठे अंक में उन्होंने भारत-भाग्य से यह भी कहलाया—

अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछताए कछु नहीं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में राष्ट्रीय आत्मा का जैसा स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी प्रायः समस्त रचनाएँ ऐसे चित्रों से भरी पड़ी हैं। चाहे जैसा अवसर हो, चाहे जैसी रचना हो, वह अपने देश को कभी नहीं भूलते। घूम-फिर कर उन्हें उसके पूर्व गौरव, उसकी वर्तमान हीनावस्था और उसके भविष्य का ध्यान आ ही जाता है। उस समय वह अपने विचारों को रोक नहीं सकते। भारत के प्राचीन गौरव को स्मरण करके उनका यह कहना—'सोइ भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय'—उनके क्षोभ, उनकी निराशा और उनकी उद्विग्नता को सूचित करता है। 'कहाँ करुनानिधि केशव सोए' में उनकी आत्मा का बड़ा ही मार्मिक रुदन है। विदेशी सत्ता के फौलादी पंजों से कसा हुआ भारत पग-पग पर जिन कठिनाइयों का अनुभव कर रहा था उनसे वह भली भाँति परिचित थे। वह जानते थे कि भारत के हित में विदेशी शासन घातक है। वह यह भी अनुभव करते थे कि भारत में जितनी आह और कराह है, जितना रुदन और कोलाहल है उसका कारण आर्थिक संकट ही है। इसीलिए कर-वृद्धि और विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध भी उन्होंने अपनी रचनाओं में संकेत किया। 'पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी' यह और 'उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै' आदि पंक्तियों में उनकी यही भावना चित्रित हुई है। वह यह भी कहते हैं:—

कछु तौ वेतन में गयो, कछुक राज-कर माँहिं।
बाक़ी सब व्यौहार में गयो, रह्यो कछु नाहिं॥

सारांश यह कि उनके हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जागरित हो उठती थी। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में आज की राष्ट्रीयता का प्रथम मन्त्रोच्चारण उन्होंने ही किया था।

(४) सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की सामाजिक विषयों में भी रुचि थी। वह प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन को सहायता देने के लिए बराबर तत्पर रहते थे। समाज के दोष उनसे छिपे नहीं थे। उनका कहना था—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
शैव, शक्ति, वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो, व्यभिचार प्रचार्‌यो॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में तत्कालीन हिन्दू-समाज की उन समस्याओं का विवरण है जिनकी ओर सुधारवादियों का ध्यान था। धार्मिक पाखण्ड, विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रचार, अनेक जातियों की उत्पत्ति, छुआछूत की दूषित प्रणाली, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अन्धविश्वास, समुद्र यात्रा-निषेध आदि समस्याएँ भारतेन्दु के सामने थीं। उन्होंने इन समस्याओं को अपने दृष्टिकोण के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न किया। समाचार-पत्रों द्वारा उन्होंने सामाजिक आन्दोलन चलाया और कविताएँ लिख लिखकर जनता का ध्यान सामाजिक दोषों की ओर आकृष्ट किया। उनके समय में समाज-सुधारकों के तीन दल थे—(१) अपरिवर्तनवादी सनातनी, (२) वैदिक धर्म के पक्षपाती और (३) अँगरेजी सभ्यता के पोषक। अपरिवर्तनवादी युग-परिवर्तन की ओर आँखें बन्द करके लकीर के फकीर बने थे। वैदिक धर्म के पक्षपाती स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में सनातनियों का खण्डन और ईसाई तथा इस्लाम धर्म का विरोध कर रहे थे। अँगरेजी सभ्यता के पोषकों को न तो अपने समाज की चिन्ता थी और न अपने देश की। भौतिकता की आँधी में वे उड़े चले जा रहे थे। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। वह न तो हिन्दू-समाज को छोड़ने के लिए तैयार थे और न

उसे ज्यों का त्यों अपनाने के लिए। उन्होंने समाज में सुधारों का समावेश सामंजस्य की भावना की दृष्टि से किया। धार्मिक एकता स्थापित करते हुए उन्होंने जैन कुतूहल में कहा—

खंडन जग में काको काजै।
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै ॥

× × ×

नहिं मन्दिर में, नहिं पूजा में, नहिं घटा की घोर में।
हरीचन्द वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में ॥

भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि स्त्रियाँ शिक्षित होकर वीर-प्रसविनी बनें। पाश्चात्य स्त्री-समाज के वह पोषक नहीं थे। इसलिए समयानुसार वह अपने स्त्री-समाज के लिए उन्हीं बातों को अपनाना चाहते थे जिनसे देश और साहित्य का मस्तक ऊँचा हो। सारांश यह कि भारतेन्दु केवल साहित्यकार ही नहीं, समाज-सुधारक भी थे। उनका साहित्य उनके नेतृत्व का एक रूप है। उन्होंने जन-साहित्य भी लिखा है। ठुमरी, लावनी, गजल, ख्याल, नौटंकी के गाने और सामाजिक आचार-व्यवहार तथा उत्सवों पर गाये जाने वाले गानों की भी उन्होंने रचना की है। अपनी इस जन-शैली में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है।

भारतेन्दु ने प्रकृति के भी चित्र उतारे हैं, पर इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। उनके मानव-प्रकृति के चित्र शुद्ध और यथार्थ हैं।

भारतेन्दु का प्रकृति-चित्रण

इसका एक कारण है। भारतेन्दु का समस्त जीवन एक नगर के बीच भव्य भवन में व्यतीत हुआ था। उन्हें उद्यानादि की भी विशेष रुचि नहीं थी। पर्यटन आदि में भी यह अन्य शोभा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुए थे। फलतः प्रकृति-चित्रण में उन्हें विशेष आनन्द नहीं मिला। इसीलिए शुद्ध प्राकृतिक-वर्णन का उनके साहित्य में अभाव है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में जिस गंगा का वर्णन है वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होने वाली गंगा

न होकर काशी की विशालकाय घाट-माला के नीचे प्रवाहित होने वाली गंगा-धारा का है। इस गंगा-धारा के धार्मिक महत्त्व से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने उसका जो चित्र अंकित किया है, उसमें मानव-प्रकृति का ही विशेष रूप से चित्रण हुआ है। देखिए—

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन-मन विविधि मनोरथ करत-मिटावत॥

'चन्द्रावली' में यमुना की शोभा भी कुछ इसी प्रकार चित्रित हुई है। उसमें कवि-कौशल ही अधिक है, शुद्ध प्रकृति की शोभा की ओर दृष्टि कम है। उसमें उन्होंने मानव-हृदय पर प्राकृतिक दृश्य द्वारा पड़े हुए प्रभावों को ही विशेष रूप से अंकित किया है। देखिए—

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमँगे प्रिय-प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्रकृति के मनोमुग्धकारी व्यापारों पर भारतेन्दु मुग्ध भी नहीं होने पाते थे कि मानव-प्रकृति का वेग उन्हें अपने साथ बहा ले जाता था और वह प्रकृति का वर्णन करते-करते मानव-प्रकृति का वर्णन करने लग जाते थे।

पक्षियों का नाम गिनाना या उनकी बोलियों को अपनी भाषा द्वारा व्यक्त करना प्रकृति-चित्रण नहीं है। भारतेन्दु ने अपने प्रकृति-वर्णन में इस प्रकार का भी प्रयास किया है—

कूजत कहुँ कल हंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल कुक्कट धावत॥

यह प्रकृति का सांगोपांग चित्र नहीं, उसका इधर-उधर बिखरा हुआ वर्णन-मात्र है। इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण एक कवि का प्रकृति-चित्रण नहीं कहा जा सकता। प्रकृति-चित्रण में कवि अपनी आत्मा का प्रकृति की आत्मा के साथ सामंजस्य स्थापित करता है और तब उसका चित्रण करता है। प्रकृति के ऐसे चित्रों में सजीवता होती है। भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण

में सजीवता नहीं है। उसके पढ़ने से कवि का काव्य-कौशल तो सामने आता है, प्रकृति का यथार्थ चित्रण नहीं। ऐसी दशा में हम भारतेन्दु को प्रकृति-चित्रण का सफल कवि नहीं कह सकते। पर एक दृष्टि से उनका महत्व अवश्य है। उनके पहले प्रकृति-चित्रण एक बँधी हुई सीमा के भीतर केवल परम्परा पालन की दृष्टि से किया जाता था। रीतिकालीन कवियों का प्रकृति के प्रति अनुराग नहीं था, वे तो नारी-सौंदर्य के उपासक थे। यदि कभी प्रकृति-वर्णन की ओर झुके भी तो वे केवल नारी-सौदर्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए। उनके ऐसे प्रकृति-वर्णनों में काव्य-कौशल ही रहता था, प्रकृति-सुन्दरी का चित्र नहीं। भारतेन्दु ने अपने युग में साहित्य के इस अंग विशेष पर भी विशेष ध्यान दिया। प्रकृति-चित्रण का कोई काव्यमय आदर्श उनके सामने नहीं था, अतः उन्होंने अपने ढंग से उसका चित्र अंकित किया। इसका फल यह हुआ कि उनका संकेत पाकर तत्कालीन कतिपय कवियों ने प्रकृति के बड़े ही भव्य चित्र उतारे और आज भी उतारते चले आ रहे हैं।

भारतेन्दु की रस-योजना

भारतेन्दु की रस-योजना उनके साहित्य में दो स्थलों पर देखने को मिलती है—एक नाटकों में और दूसरे काव्यों में। भारतेन्दु के नाटकों की आलोचना करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपने 'हरिश्चन्द्र' नाटक में करुण, वीर, रौद्र, वात्सल्य, वीभत्स तथा भयानक रस के बड़े ही स्वाभाविक स्थल उपस्थित किये हैं। विद्यार्थियों की दृष्टि से लिखा जाने के कारण इसमें शृङ्गार का अभाव है। चन्द्रावली नाटिका में शृङ्गार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। उसमें संयोग और वियोग—दोनों के चित्र हैं। वियोग का चित्र संयोग के चित्र की अपेक्षा अधिक मार्मिक और व्यंजनापूर्ण है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, और इसके चार मुख्य भेद हैं—(१) युद्धवीर, (२) धर्मवीर, (३) दानवीर और (४) दयावीर। हरिश्चन्द्र में प्रथम रूप के अतिरिक्त शेष तीनों रूपों का चित्रण हुआ है।

करुण रस से तो 'सत्य हरिश्चन्द्र' भरा हुआ है। रोहिताश्व को धूल में लोटता हुआ देखकर कवि के हृदय में रस का उद्रेक देखिये—

जेहि सहसन परिचारिका राखति हाथहिं हाथ।
सो सुत लोटत धूरि में, दास-बालकन साथ ॥

शान्त, रौद्र, भयानक, वीभत्स, वात्सल्य, अद्भुत तथा हास्य रसों का परिपाक भी इतना ही सफल हुआ है। उनके काव्य में शृङ्गार और शान्त रसों का प्राधान्य है। विलास, उद्दाम, काम-वासना अथवा व्यभिचार को प्रोत्साहन देना भारतेन्दु की शृङ्गारिक रचनाओं का उद्देश्य नहीं था। उनकी शृङ्गारिक रचनाएँ वस्तुतः उनके तत्सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरण स्वरूप ही हैं। इस दृष्टि से वह इस क्षेत्र में भी युगान्तरकारी सिद्ध हाते हैं। उन्होंने प्राचीन रसों से भिन्न कुछ नवीन रसों की योजना भी की है। मनोवैज्ञानिक एवं विद्वत्तापूर्ण तर्कों के आधार पर वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द इन चारों रसों की उद्भावना हिन्दी-काव्य को उनकी मौलिक देन है।

भारतेन्दु की अलंकार-योजना

रसों के साथ-साथ भारतेन्दु की रचनाओं में अलंकार की छटा भी दिखाई देती है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग किया है। रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों की कलाबाजी से अपनी रचनाओं को बहुत बचाया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, उदाहरण, सन्देह, उदात्त, वक्रोक्ति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, प्रतीप, विभावना, निदर्शना, स्वभावोक्ति, अनुज्ञा, अत्युक्ति, व्याजस्तुति आदि अलंकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं—कहीं अपने स्वाभाविक रूप में और कहीं अपने कृत्रिम रूप में। सत्य हरिशचन्द्र में प्रायः इन सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अन्य रचनाओं में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता है। रूपक का एक उदाहरण लीजिए—

पल पटुता पै प्रेम-डोर की लगाय चारु
आभा ही के खंभ दोय गाढ़ के धरत हैं।
सुमका ललित काम पूरन उछाह भर्‌यो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं ॥

हरीचन्द आँसू दृग नीर बरसाय प्यारे
पिया-गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोटन बढ़ाय सदा,
विरह-हिंडोर नैन झूल्योई करत हैं॥

इस उदाहरण में भारतेन्दु के काव्य-कौशल का चमत्कार अधिक है, स्वाभाविकता कम। ऐसे अवसरों पर वह रीतिकालीन परम्परा में आ जाते हैं। यह दोहा भी रीतिकालीन परम्परा का एक उदाहरण है—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकन्द।
जनहित कमला तजन जय, शिव नृप कवि हरिचन्द॥

यह श्लेष का उत्कृष्ट उदाहरण है और शिव, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीकृष्ण, चन्द्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है। अनुप्रास और उत्प्रेक्षा की छटा इन पंक्तियों में देखिए—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥

निदर्शना का एक उदाहरण लीजिए—

यहाँ सत्य भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचन्द को, करन, इन्द्र-उर सोक॥

भारतेन्दु की रचनाओं में ऐसे स्थल, जहाँ अलंकारों की छटा दिखायी गयी है, नीरस और क्लिष्ट हैं; पर जहाँ भावावेश का आग्रह है वहाँ उनके प्रवाह में उन्हें अलंकारों की चिन्ता का अवसर ही नहीं मिला है। ऐसे अवसर पर उनकी रचनाओं में अलंकार स्वाभाविक रीति से आते हैं।

रस और अलंकार-योजना के समान ही उनकी छन्द-योजना भी अत्यंत सफल है। उन्होंने इस क्षेत्र में रीतिकाल की प्रक्रिया और प्रणाली को ही अङ्गीकार किया है, किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं की है। उसमें छन्द-सौन्दर्य का नवीन उपक्रम भी लक्षित नहीं होता। भक्ति तथा रीतिकाल के पद, कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छन्दों का उनकी रचनाओं में प्रचुर विधान है। कवित्त में मनहरण और सवैया में

भारतेन्दु की छन्द-योजना

मत्तगयन्द, दुर्मिल तथा अरसात मिलते हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त हरिगीतिका, वसन्ततिलका, ललित पद, चौपाई, बरवै आदि भी मिलते हैं। उनका छन्दों का चुनाव विषय के अनुकूल हुआ है। भक्ति-भावना की अभिव्यजंना के लिए गेय पद ही उपयुक्त होते हैं। भारतेदु सूर की शैली के अनुकरण पर अपनी भक्तिभावना का प्रकाशन गेय पदों में ही करते हैं। शृंगारी रचनायें अधिकांश कवित्त और सवैये में ही समर्थ होती हैं। भारतेन्दु ने उर्दू-छन्दों को भी अपनाने का प्रयास किया है, पर उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली है।

इन काव्य-छन्दों के अतिरिक्त लोक-साहित्य के सृजन के लिए भारतेन्दु ने ठुमरी, दादरा, ख्याल, नौटंकी की शैली के गाने, गजल, लावनी, कजली, बन्ने आदि में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया है। उनके समय में लावनी का बड़ा आदर था, इसलिए उन्होंने लावनी को साहित्यिक रूप देकर उसे हिन्दी-छन्द-योजना में स्थान दिया है। यह नवीन प्रयोग तो नहीं था, पर इससे काव्य क्षेत्र में कुछ नूतनता अवश्य आगयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की छन्द-योजना समयानुसार सफल है और कवि के पिंगल-ज्ञान की समर्थक है। उनकी छन्द-योजना निर्दोष, विषयानुकूल और विविधरूपिणी है।

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु का लक्ष्य था हिन्दी का भारतीय जनता में प्रचार और इस प्रचार द्वारा हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि। इस कार्य में

भारतेन्दु की भाषा

सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें जनता की भाषा अपनाना आवश्यक था। उस समय शिक्षित समाज की भाषा खड़ीबोली थी और राजकीय कार्यालयों में उर्दू की गद्य-भाषा का बोलबाला था। हिन्दी का गद्य पिछड़ा हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशाअल्लाखाँ, सदासुखलाल प्रभृति लेखकों की गद्य-रचनाओं में न उर्दू-गद्य-साहित्य की-सी मिठास थी और न चुलबुलापन था। किसी में ब्रजभाषापन था, किसी में पूर्वीपन और किसी में पण्डिताऊपन। गद्य की भाषा में जैसी चुस्ती और शक्ति होनी चाहिए, वैसी इन लेखकों की शैलियों में से किसी में भी नहीं थी। इनके शब्द-

विन्यास असंगत, वाक्य-विन्यास शिथिल और प्रभावशून्य होते थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की शैली परिष्कृत अवश्य थी, पर वह वास्तव में नागरी-लिपि में उर्दू-शैली थी। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इन सबसे भिन्न थी। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम् शब्दों से भरी हुई थी। हिन्दी के प्रचार में ये सब शैलियाँ बाधक थीं। आवश्यकता थी ऐसी भाषा की जो सरल, सुबोध, प्रभावपूर्ण और प्रसादयुक्त होने के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल न हो। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने की। उन्होंने गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए खड़ीबोली को अपनाया और उसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया। उन्होंने तत्कालीन सभी शैलियों के अध्ययन से एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनकी इस शैली में न तो उर्दू-फारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उनकी भाषा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा थी। अपनी इस भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिये उन्होंने तत्कालीन हिन्दी-शब्द कोष से ऐसे समस्त अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया जिनसे भाषा के प्रवाह में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया उन पर हिन्दी की छाप लगा दी। भाषा का रङ्ग-रूप सँवारने में उन्होंने हिन्दी-व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखा। उन्होंने कर्ण-कटु शब्दों को मधुर बनाया और उन्हें हिन्दी के साँचे में ढालकर अपनी भाषा में स्थान दिया। वह अपनी भाषा की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते थे। वह उसकी आवश्यकताओं से भी परिचित थे। इसलिए उन्होंने इस क्षेत्र में जो काम किया वह स्थायी रूप से हिन्दी के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपने इस कार्य में बड़ी-बड़ी बाधाओं का—भाषा-सम्बन्धी जटिलताओं एवं राजकीय कर्मचारियों की अड़चनों का—सामना करना पड़ा, पर उन्होंने अपने बुद्धि-बल और अध्यवसाय से सब पर विजय प्राप्त की और हिन्दी को लोक-भाषा बना दिया।

खड़ीबोली का जैसा संस्कार भारतेन्दु ने किया वैसा ही उन्होंने ब्रज-भाषा का भी किया। उनके समय में ब्रजभाषा काव्य-भाषा थी, पर वह

इतनी जटिल और दुरूह हो गई थी कि पाठकों को उसमें विशेष आनन्द नहीं मिलता था। खड़ीबोली में काव्य-रचना का प्रयास यद्यपि प्रारम्भ हो गया था, तथापि उसमें अभी इतना साहित्य न था कि वह लोकरञ्जन में समर्थ हो सके। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने ब्रजभाषा का भी परिमार्जन किया। उन्होंने उसमें से ऐसे बहुत से शब्द निकाल दिये जो अप्रचलित और कुण्ठित हो गये थे। उन शब्दों के स्थान पर उन्होंने नये प्रचलित शब्दों को भाषा में ढालकर चालू किया। सारांश यह कि उन्होंने गद्य और पद्य साहित्य के दोनों क्षेत्रों की भाषा को समुन्नत, ग्रहणशील और प्रसाद-गुणयुक्त बनाकर अन्य भाषाओं पर हिन्दी का सिक्का जमा दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी-भाषा के निर्माता थे। उनके समय में जो शब्द जिस रूप में जनता में प्रचलित था उसे उसी रूप में उन्होंने स्वीकार कर लिया। यही उनका भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण था। संस्कृत, अरबी, फारसी, अंगरेजी आदि भाषाओं से उन्हें चिढ़ नहीं थी; पर हिन्दी को व्यावहारिक रूप देने के लिए वे इन समस्त भाषाओं के उन्हीं शब्दों को ग्राह्य समझते थे जो जनता में प्रचलित थे, चाहे वे उनके तत्सम रूप हों चाहे तद्भव। उनके नाटकों में भाषा का यह अभिनव रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

अब भारतेन्दु की भाषा पर विचार कीजिए। जैसा कि अभी बताया गया है उनकी भाषा के दो रूप हैं—(१) खड़ीबोली और (२) ब्रजभाषा। उनकी बोली शुद्ध खड़ीबोली नहीं है। हिन्दी शब्दों का बाहुल्य होने के साथ-साथ उसमें फारसी, अरबी, अँगरेजी और संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं; पर वे हैं सब हिन्दी के साँचे में ढले हुए। उन्होंने विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में स्वीकार न करके तद्भव रूप में स्वीकार किया है। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास आ गयी है। ब्रजभाषा का भी पुट उनके शब्दों पर रहता है। फालतू और भरती के शब्द उनकी रचनाओं में बहुत कम रहते हैं। उनका शब्द-चयन अर्थपूर्ण होता है और उनके वाक्य भावानुकूल कभी बड़े और कभी छोटे होते हैं। उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, सरल, सरस, प्रसादगुणयुक्त, चुटीली और बोधगम्य होती है। उन्होंने

कोमल शब्दों को अधिक अपनाया है। अंचल के बदले आँचल, स्वभाव के बदले सुभाव, स्नेह के बदले नेह उन्हें अधिक प्रिय हैं। देशज शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है। फारसी, अरबी और अँगरेजी के शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। नाटकों में इनका प्रयोग कम हुआ है। जहाँ कहीं भी उन्होंने इनका प्रयोग किया है, भाषा सजीव हो गयी है। संस्कृत की उक्तियाँ और वाक्यांश भी उनकी भाषा में पर्याप्त हैं।

भारतेन्दु के समय में हिन्दी-भाषा-शैली के दो रूप थे—(१) राजा शिवप्रसाद की शैली और (२) राजा लक्ष्मणसिंह की शैली। भारतेन्दु ने इन दोनों शैलियों को त्याग कर पहले-पहल भाषा को सर्वविषयोपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंग्यात्मक परिहासात्मक आदि जिस प्रकार के भी विषय थे उनके व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने तदानुकूल भाषा-शैली को जन्म दिया। अपनी शैली के इस गुण के द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में सर्वदा पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया। जो जिस स्थान का पात्र है, जिस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिस सभ्यता का उपासक है, उसी के अनुकूल उसकी भाषा है। उच्च पात्रों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है और निम्न वर्गों के पात्रों के लिए गँवारू भाषा का। मराठी और बंगाली पात्रों के उच्चारण और शब्द उन प्रान्तों के निवासियों के अनुकूल ही हुए हैं। इससे उनके कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता आगयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी शैली का आदर्श उनके नाटकों में मिलता है। विषय के अनुसार उनकी शैली के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं—

भारतेन्दु की शैली

(१) परिचयात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने साधारण विषयों के प्रतिपादन में किया है। इतिहास के साधारण वर्णन तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं उनकी इस शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का बाहुल्य रहता है और न फारसी के

प्रचलित शब्दों का बहिष्कार। इस प्रकार उनकी यह शैली राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह की शैलियों के बीच की शैली है। इसमें छोटे-छोटे वाक्य और जनता के बीच प्रचलित शब्द होते हैं। इसलिए यह शैली सरल, सुबोध और प्रसाद-गुणयुक्त होती है। मुहावरे और कहावतों का भी प्रयोग इसमें होता है।

(२) भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने अपनी अनुभूतिजन्य रचनाओं में किया है। हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह प्रेम आदि के चित्रण में इसी शैली का मान है। इसलिए भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चंद्रावली आदि नाटकों में यही शैली पायी जाती है। आवेशपूर्ण स्थलों पर छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग और उनका गठन, सरल शब्दों का प्रयोग तथा प्रवाह देखने योग्य होता है। भारतेन्दु की इस शैली में इन सब विशेषताओं का पूर्णरूप से समावेश हुआ है। उनकी यह शैली सर्वोत्कृष्ट है।

(३) गवेषणात्मक शैली—भारतेन्दु में इस शैली के दो रूप मिलते हैं। इसका एक रूप उनके साहित्यिक निबन्धों में है और दूसरा रूप ऐतिहासिक निबन्धों में। साहित्यिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली ऐतिहासिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली की अपेक्षा सरस, मधुर और आकर्षक है। इन दोनों की भाषा संस्कृत-शब्द-प्रधान है। तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त होती है। इसमें वाक्य छोटे-बड़े अवसरानुकूल सभी प्रकार के होते हैं। पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग होता है।

(४) व्यंगात्मक शैली—भारतेन्दु व्यंगात्मक शैली के जन्मदाता हैं। उनके पहले इस शैली का हिन्दी-साहित्य में अभाव था। सामाजिक कुरीतियों और पाखंडी पण्डितों का खण्डन करने के लिए उन्होंने इस शैली का सहारा लिया। इस शैली का उनके जीवन-काल ही में अत्यधिक प्रचार हुआ। उनकी इस शैली में हास्य-विनोद और व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती है। श्लिष्ट शब्दों द्वारा वह अपनी बात को इतने अनूठे ढङ्ग से कहते हैं कि पाठक पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। कङ्कर-स्तोत्र में उनकी व्यंगात्मक शैली देखने योग्य है।

संक्षेप में इन शैलियों की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) भारतेन्दु की शैली सरल, सरस, भावानुकुल, प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणयुक्त होती है।

(२) भारतेन्दु की शैली विषयानुकुल परिवर्तित होती रहती है। जैसा विषय होता है, उसी के अनुकूल वह अपनी शैली का रूप स्थिर करते हैं।

(३) भारतेन्दु की शैली पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप रहती है। समसामयिकों की भाषा-शैली से वह मेल नहीं खाती। उसमें कृत्रिमता का सर्वथा अभाव है।

(४) भारतेन्दु अपनी शैली का लोक-जीवन के साथ समन्वय स्थापित करते हैं। उनकी शैली लोक-जीवन का प्रतिविम्ब होती है।

(५) भारतेन्दु की शैली में कहीं-कहीं पण्डिताऊपन भी मिलता है। इस दृष्टि से उनकी शैली सदल मिश्र की से किंचित् मेल खा जाती है। भई, सो, करके इत्यादि शब्द पण्डिताऊपन के द्योतक हैं। भारतेन्दु की शैली में व्याकरण के भी दोष हैं। श्यामता के लिए श्यामताई, अधीरमन के लिए अधीरजमना, कृपा की है के लिए कृपा किया है व्याकरण-सम्मत नहीं हैं। इस प्रकार के दोषों के लिए वह क्षम्य हैं। उनके युग में व्याकरण का इतना प्रचार नहीं था जितना आज है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु कई शैलियों के जन्मदाता हैं और उन शैलियों की विशेषताओं से वह भली भाँति परिचित भी हैं।

अब तक हमने भारतेन्दु-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। हमने यह देखा है कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिक हैं। उनके विषय नये हैं, उनकी भावना नयी है, उनकी भाषा और शैली नयी हैं।

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का स्थान

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके जन्म से एक नये अध्याय का, एक नये युग का प्रादुर्भाव होता है। इस नये युग के वह नेता हैं। अपने नेतृत्व से उन्होंने हिन्दी को गौरवान्वित किया है। आज हम जो कुछ हिन्दी में देख रहे हैं वह

उन्हीं की देन है—उन्हीं का प्रसाद है। हिन्दी के तत्कालीन एवं परवर्ती लेखकों को उनसे स्फूर्ति मिली है। उन्होंने अपने युग की लोक-भावना को वाणी दी है और उसका संस्कार किया है। उनके साहित्य में हम उनके कई रूप देखते हैं। वह वैष्णव-भक्त, देश-भक्त, समाज-सेवी और समाज-सुधारक सब एक साथ हैं और अपने प्रत्येक रूप में महान् हैं। उनके जीवन में अद्भुत सामंजस्य है। उनका एक रूप दूसरे से भिन्न नहीं है। उनका ईश्वर-प्रेम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलता है, उनका राष्ट्र-प्रेम जीवन के प्रत्येक स्थल को छूता हुआ प्रवाहित होता है, उनका सामाजिक प्रेम जीवन के प्रत्येक पक्ष को आन्दोलित और अनुप्राणित करता है। वह भक्त होते हुए भी राष्ट्रप्रेमी हैं और राष्ट्रप्रेमी होते हुए हिन्दू-समाज-प्रेमी। वह अपने युग की, अपने राष्ट्र की, अपने समाज की और अपने साहित्य की आवश्यकताओं से परिचित हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच है। अपनी इस पहुँच के कारण ही उन्होंने अपने साहित्य में सुधारों की योजना प्रस्तुत की है। उनका साहित्य वस्तुतः लोक-साहित्य है, जीवन का साहित्य है। उसमें हम सब कुछ पाते हैं।

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु खड़ीबोली और ब्रजभाषा के उन्नायक हैं। खड़ीबोली को सजा-सँवार कर उन्होंने उसे साहित्यिक गद्य का रूप दिया है और इस योग्य बना दिया है कि वह पद्य की भाषा भी बन गयी है और बहुत से दोषों से मुक्त हो गयी है। उनके नेतृत्व में उसका रूप निखर आया है। ब्रजभाषा का भी उन्होंने संस्कार किया है। अप्रचलित, रूढ़, कुत्सित और कर्कश शब्दों को उसकी शब्दावली से निकाल कर उन्होंने उसे जनता के बीच पुनः लोकप्रिय बना दिया है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में कविवर सुमित्रानन्दन पंत का यह कहना, कि 'हमारी भारती की वीणा का निर्माण भारतेन्दु ने ही किया था' अक्षरशः सत्य है। उनके पहले किसी को भी यह ठीक-ठीक नहीं मालूम था कि हिन्दी भाषा को किस रूप में ढाला जाय। वस्तुतः उनके पहले हिन्दी दलबन्दी के दलदल में फँसी हुई थी। उसे दलदल से निकाल कर शुद्ध करना और फिर लोक-जीवन में उसका सम्बन्ध स्थापित करना उन्हीं जैसे प्रतिभाशाली

कलाकार का काम था। हिन्दी-जगत् उनके इस महत्त्व को आज मुक्त हृदय से स्वीकार करता है और उन्हें भाषा के सुधारकों में सर्वोच्च स्थान देता है।

भावना के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का महत्त्व कम नहीं है। उनके साहित्य की आलोचना करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को एक नहीं; अनेक नवीन भावनाओं से अलंकृत और अनुप्राणित किया है। उन्होंने अपने साहित्य में सभी युगों का सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया है। संत कवियों की दार्शनिकता, भक्त कवियों की सरसता, रीतिकालीन कवियों की अलंकार-प्रियता और शृंगारिकता के साथ-साथ उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-प्रेम और जातीय-प्रेम का भी अङ्कन हुआ है। उन्हें जहाँ प्राचीन युग से साहित्य-निर्माण की उत्प्रेरणाएँ मिली हैं, वहाँ उन्हें अपने युग से भी प्रोत्साहन मिला है। दोनों युगों का सुन्दर सामंजस्य उनके साहित्य की एक विशेषता है। अपने युग के वह प्रथम राष्ट्रीय और सामाजिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक रचना राष्ट्रप्रेम से ओतप्रोत है। देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के उन्होंने बड़े भावपूर्ण और मार्मिक चित्र उतारे हैं। उनके इन चित्रों में भारत की तत्कालीन भावनाओं का इतिहास अपने प्रकृत रूप में चित्रित हुआ है। इस दृष्टि से वह हिन्दी-साहित्य में अपने युग के प्रधान कवि हैं। उनकी कला का प्रकाशन साहित्य के संधिकाल में हुआ है। इसलिए उनका साहित्य प्राचीन और नवीन युग का संगमस्थल है। उनकी रसिकता दुरंगी है। वह सात्विक तथा राजस दोनों है। सात्विक रसिकता साहित्य में ईश्वर-भक्ति और देश-भक्ति के रूप में प्रकट हुई है और राजस रसिकता शृंगारी रचनाओं के रूप में। इन दोनों प्रकार की रचनाओं से उनकी प्रकृत अनुभूति लक्षित होती है। उनके प्रत्येक विषय में देश-भक्ति का राग अत्यन्त प्रबल है। समाज-सुधार की ओर भी उनकी प्रवृत्ति गयी है। इस प्रकार वह एक में अनेक और अनेक में एक हैं। उनका प्रत्येक रूप अपने में महान है।

हिन्दी-साहित्य-सृजन में उनके कई रूप हैं। वह नाटककार हैं,

निबन्धकार हैं, इतिहास-लेखक हैं, कथाकार हैं, कवि हैं, आलोचक हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में वह हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं। हिन्दी में नाटक-रचना का सूत्रपात उन्हीं के नाटकों से हुआ है। उनके नाटक मौलिक भी हैं और अनूदित भी। नाट्य-शास्त्र पर उन्होंने एक निबन्ध भी लिखा है। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं जो भाषा, भाव और विषय आदि की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन संस्कृत परम्परा के अनुसार उन्होंने व्यायोग, भाण, हास्य-रूपक, सट्टक आदि नाटकों की रचना की है। सत्य हरिश्चन्द्र और भारत दुर्दशा उनके नाटकों में सर्वोच्च हैं। ये अभिनेय भी हैं। इन नाटकों द्वारा उन्होंने जनता की रुचि का परिष्कार किया है और उसे प्रकृत नाट्य-कला से परिचित कराया है। अन्धेर नगरी आदि उनके व्यंग्यपूर्ण नाटक हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने कई गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं। काश्मीर-कुसुम, बादशाह दर्पण आदि उनके ऐतिहासिक निबन्ध हैं। सुलोचना, शीलवती, सावित्री आदि उनके आख्यान हैं। उन्होंने गम्भीर और हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। तत्कालीन जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत करने के लिए उन्होंने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा बाला-बोधिनी का सम्पादन भी किया है। इन साहित्यिक सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी काम किया है। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, छुआछूत, धार्मिक पाखण्ड, समुद्र-यात्रा, गो-रक्षा आदि सामाजिक समस्याओं पर भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और उन विचारों से तत्कालीन जनता का परिचय कराया है। अपने युग में वह इन सब कार्यों के केन्द्र रहे हैं। उनके समय तक हिन्दी का कोई कवि इतने प्रकार की समस्याओं को एक साथ लेकर साहित्य की सेवा में संलग्न नहीं हुआ। अतः इस दृष्टि से भी वह सर्वोपरि हैं — सब से ऊंचे हैं।

भारतेन्दु ने कुल चौंतीस वर्ष की आयु पायी। अपने जीवन के सोलहवें वर्ष से उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और लगभग अठारह वर्ष तक वह बराबर एक लगन से, एक मन से, हिन्दी, हिन्दू-जाति और

राष्ट्र की सेवा करते रहे। इस अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है। जब तक हिन्दी भाषा और उसके बोलने वाले संसार में जीवित रहेंगे, तब तक भारतेन्दु मर कर भी अमर हैं। हिन्दी के लिए उनकी सेवाएँ महान् हैं और वह आधुनिक युग के साहित्यकारों में सर्व-प्रथम और सर्वोच्च हैं।



२

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म-सं०	मृत्यु-सं०
१९२२	२००२

महाकवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्णा ३, सं० १९२२ को निजामाबाद, जिला आजमगढ़ में हुआ था।

जीवन-परिचय

उनके पूर्वज बदाऊँ-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। लोदी-वंश के शासनकाल में जब कुछ साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण दिल्ली-निवासी गौड़ कायस्थों को इब्राहीम लोदी का कोप-भाजन बनना पड़ा, तब हरिऔध के पूर्वज धर्म पण्डित ने उन्हें [illegible] कहकर उनकी रक्षा की। लोदी-वंश के पतन के पश्चात् जब मुगल-साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ तब गौड़ वंशज महाबलराम के साथ इस वंश के पण्डितों का आगमन निजामाबाद में हुआ और गौड़ कायस्थों ने [illegible] उन्हें अपना पुरोहित मानकर सम्मानित किया। थोड़े दिनों बाद [illegible] गुरु नानक की शिक्षाओं के प्रभाव में आकर नानकपंथी हो गये। यह देखकर इस ब्राह्मण वंश के लोगों ने भी उस धर्म

में दीक्षा ले ली। इस प्रकार दोनों वंश सिख हो गये।

हरिऔध के पिता का नाम पं० भोलासिंह था। पं० भोलासिंह बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उनके भाई पं० ब्रह्मासिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। वह निःसन्तान थे। अपने भतीजों को वह बहुत मानते थे। इसलिए उनके भतीजों पर उनके जीवन का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हीं की देख-रेख में हरिऔध की शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हुई। पहले उन्हें फ़ारसी पढ़नी पड़ी। सात वर्ष की अवस्था में उनका प्रवेश स्थानीय तहसीली स्कूल में हुआ। वहाँ से उन्होंने सं० १९३६ में सम्मान सहित मिडिल पास किया जिसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वह काशी के क्वींस कालेज में अंग्रेजी पढ़ने के लिए भेजे गये, पर वहाँ स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वह आगे नहीं पढ़ सके। इसलिए घर पर ही वह फ़ारसी, उर्दू तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करते रहे।

सं० १९३९ में हरिऔध का विवाह हुआ। उनका प्रारम्भिक जीवन आर्थिक संकटों का जीवन था। उनके पिता और चाचा खेती-बारी और पुरोहित का कार्य करते थे। अपने भाई गुरुसेवकसिंह की शिक्षा का भी उन्हें ध्यान था। इसलिए विवश होकर उन्हें सं० १९४१ में नौकरी करनी पड़ी। सर्वप्रथम वह निजामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और संवत् १९४४ में उन्होंने नार्मल परीक्षा पास की। इस प्रकार कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् बन्दोबस्त के समय में वह कानूनगो हो गये और अध्यवसाय तथा योग्यता के कारण उत्तरोत्तर उन्नति करके रजिस्ट्रार कानूनगो, सदर नायब कानूनगो तथा सदर कानूनगो हो गये। इन पदों पर लगभग चौंतीस वर्षों तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् उन्होंने पेन्शन ले ली और अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा में अर्पित कर दिया। उस समय काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिये एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता थी, अतः हरिऔधजी ने १ नवम्बर सन् १९२३ से वहाँ अवैतनिक अध्यापक के रूप में अध्यापन-कार्य करना स्वीकार कर लिया और सन् १९४१ तक वह बड़ी सफलतापूर्वक यह कार्य करते रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के

पश्चात् उन्होंने आजमगढ़ को स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाया और वहीं मार्च सन् १६४५ को उनका स्वर्गवास हो गया।

हरिऔध का जीवन भारतीय जीवन का आदर्श था। उनके भाई गुरुसेवकसिंह ने इंगलैंड जाकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में सिक्ख-धर्म का बाना त्याग दिया, पर हरिऔधजी ने अपना पण्डिताऊ रहन-सहन नहीं छोड़ा। वह अपनी बाल्यावस्था से ही निजामाबाद के सिक्ख गुरु बाबा सुमेरसिंह के प्रभाव में आ गये थे। बाबा सुमेरसिंह के सत्संग से उनमें धार्मिक भावना का जो विकास हुआ उसने उनकी जीवन-दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। इसलिए कर्मकाण्डी पण्डितों के वंश में जन्म लेने पर भी उनमें वास्तविक अर्थ में शुद्ध सनातनी पण्डितों की धार्मिकता का विकास नहीं हो पाया। सिक्ख-धर्म में उनका विश्वास था और अन्त समय तक वह सिक्ख बने रहे।

हरिऔध आजमगढ़ की दिव्य विभूति थे। अपनी जन्म-भूमि निजामाबाद से उन्हें विशेष प्रेम था। वह अपने गाँव के छोटे-बड़े प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह जानते और पहचानते थे। सरकारी नौकरी करते समय वह प्रायः आजमगढ़ में ही रहते थे, पर प्रति शनिवार को संध्या समय वह निजामाबाद में आ जाया करते थे। वह सदर कानूनगो थे। उस समय सदर कानूनगो होना साधारण बात न थी, पर अपने इस पद का गर्व उनमें नहीं था। उनके स्वभाव में कृत्रिमता नहीं थी, चांचल्य नहीं था। बाल्यावस्था से ही वह सौम्य और गम्भीर थे। अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् तो वह और भी गम्भीर हो गये थे और उनमें वैराग्य की भावना आ गयी थी। उनके स्वभाव में कोमलता और व्यवहार में उदारता थी। अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति उनका अटल अनुराग था। राज-नीति में भी वह भाग लेते थे, पर बहुत कम। एकान्त जीवन उन्हें अधिक प्रिय था। वह अच्छे वक्ता और आलोचक भी थे। संवत् १६८० में दिल्ली में होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वह सभापति भी रह चुके थे। 'प्रियप्रवास' पर उन्हें संवत् १६८५ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला और सम्मेलन की 'विद्यावाचस्पति' की

उपाधि से भी विभूषित किये गये थे। उनके इकलौते पुत्र पं० सूरजनारायण इस समय आजमगढ़ में रहते हैं।

हरिऔध की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। अनूदित रचनाएँ शैली की दृष्टि से भी दो प्रकार की हैं—गद्य और पद्य (१) गद्य में 'वेनिस का बाँका' अनूदित उपन्यास है; 'रिपवान विंकिल' हिन्दी में उर्दू-रिपवान विंकिल का अनुवाद और कहानी है; 'नीति-निबन्ध' अनूदित निबन्धों का संग्रह है। (२) पद्य में 'उपदेश-कुसुम' के तीन भाग गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय के अनुवाद हैं और विनोद-वाटिका गुलजार दबिस्तां का रूपान्तर है। अरिऔध की मौलिक रचनाएँ चार प्रकार की हैं :—

हरिऔध की रचनाएँ

(१) **महाकाव्य**—प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास।

(२) **स्फुट काव्य संग्रह**—रुक्मिणी-परिणय, प्रद्युम्न-विजय, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रस-कलस, पद्यप्रसून, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन प्रेम-पुष्पोपहार, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह और प्रेमाम्बु-वारिधि।

(३) **उपन्यास**—ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल।

(४) **आलोचनात्मक**—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास, कबीर-वचनावली की आलोचना आदि।

हरिऔध की इन रचनाओं से उनकी साहित्यिक प्रतिभा तथा अध्ययन-शीलता का अच्छा परिचय मिल जाता है।

हम पहले बता चुके हैं कि आरम्भ में हरिऔध की जीवन-दिशा को मोड़ने में बाबा सुमेरसिंह का हाथ था। बाबा सुमेरसिंह अपने समय के सिक्ख गुरु ही नहीं, एक प्रसिद्ध कवि भी थे। बालक हरिऔध अपने पिता और चाचा के साथ उनके यहाँ प्रायः जाया करते थे और सत्संग में भाग लिया करते थे। उनके सत्सङ्गों में दो ही बातों की चर्चा होती थी—सूर, कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों की पवित्र वाणियों का कीर्तन

हरिऔध पर प्रभाव

या समस्या-पूर्ति। प्रतिदिन उनके सत्संग में कोई न कोई नया गायक या कवि आ ही जाता था और अपनी वाणी से बाबाजी का मनोरञ्जन करता था। ऐसे सत्सङ्गों में हरिऔध को विशेषरूप से आनन्द आता था। वह घण्टों बैठकर गायकों की पवित्र वाणी और कवियों की समस्या-पूर्ति का रसास्वादन करते थे। ऐसे वातावरण में रहकर जहाँ हरिऔध में धार्मिक चेतना जागरित हुई, वहाँ उनकी साहित्यिक अभिरुचि को भी पर्याप्त बल मिला। बाबा सुमेरसिंह ने उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों का नेतृत्व किया। वह हरिऔध के धार्मिक गुरु ही नहीं साहित्यिक गुरु भी थे। उनका उपनाम था 'हरिसुमेर' अथवा 'सुमेर हरि'। इस उपनाम से प्रभावित होकर अयोध्यासिंह ने अपना उपनाम 'हरिऔध' रक्खा। बाबा सुमेरसिंह भारतेन्दु के समकालीन थे। ब्रजवाणी का उस समय बोलबाला था और कवि वही समझा जाता था जो इस भाषा में घनाक्षरी अथवा सवैया में समस्या-पूर्तियाँ कर लेता था। इसलिए हरिऔध का काव्य-जीवन समस्या-पूर्तियों से ही प्रारम्भ हुआ। वह रीति-कालीन समस्त परम्पराओं को लेकर काव्य क्षेत्र में आये और उसी भाव-धारा में कुछ समय तक डूबते-उतराते रहे; पर द्विवेदी युग का अभ्युदय होने पर उनकी भाव-धारा में परिवर्तन आ गया। इस युग के प्रभाव में आकर उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली में कविता करना आरम्भ किया। खड़ीबोली में उनकी काव्य-प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ और उन्होंने कई महाकाव्यों की इसी भाषा में रचना की। द्विवेदी-युग केवल भाषा के संस्कार का युग था। उस युग में गद्य और पद्य दोनों की भाषाओं का यथेष्ट परिमार्जन हुआ। इसलिए हरिऔध को इस युग में अपनी भाषा को मांजने-संवारने और परिष्कृत करने का अच्छा अवसर मिला। द्विवेदी-युग समाप्त होने पर नवीन युग अपनी नयी समस्याओं, नयी अनुभूतियों और नयी कल्पनाओं को लेकर आया और उसने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र को आन्दोलित किया। हरिऔध इस युग के प्रभाव से भी न बच सके। इस युग में उन्होंने जो कुछ लिखा, विचार [illegible] है। उसे देखने से ऐसा [illegible]

होता है कि हरिऔध इसी युग की उपज थे, पर यह कथन सम्पूर्णतः सत्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक दृष्टि से हरिऔध का केवल एक बार जन्म हुआ, पर यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो हरिऔध का तीन बार जन्म हुआ है—भारतेन्दु-काल के हरिऔध, द्विवेदी-काल के हरिऔध और नवजागरण-काल के हरिऔध। भारतेन्दु-काल उनके काव्य-जीवन का शैशव काल था, द्विवेदी-काल उनके काव्य-जीवन का तरुण काल था और वर्तमान युग—प्रसाद, पन्त और निराला का युग—उनके काव्य-जीवन का प्रौढ़ काल था। उनके साहित्य में इन तीनों युगों की समस्यायें हैं, तीनों युगों की चेतनाएँ हैं और तीनों युगों की मान्यताएँ हैं। अपने व्यक्तित्व और प्रखर प्रतिभा से उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में इन तीन युगों की मान्यताओं की त्रिवेणी बहायी है। अपनी साहित्य-साधना में वह बैरोमीटर की भांति सदैव सचेत रहे हैं। इसलिए उनका साहित्य भाव और भाषा के उतार-चढ़ाव का साहित्य है। वह अपने साहित्य में कभी नीचे से ऊपर गये हैं और कभी ऊपर से नीचे आये हैं। स्थिर रूप से एक युग में रहकर उन्हें अपनी प्रतिभा का विकास करने का अवसर ही नहीं मिला। वह कभी भावों के पीछे दौड़े, कभी भाषा के पीछे और कभी भाव और भाषा दोनों के पीछे। प्रत्येक युग में उनका विकास एक निश्चित सीमा के भीतर हुआ। इसलिए प्रसाद की भांति हम उनकी रचनाओं में विकास की रेखा नहीं पाते। युग के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी काव्य-धारा में मोड़ आता रहा, जो उन्हें कभी ऊँचे ले गया और कभी नीचे। उनकी साहित्य-साधना का यही रहस्य है।

हरिऔध का गद्य-साहित्य हिन्दी के उस काल का साहित्य है जब उसका परिमार्जन और परिष्कार हो रहा था। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य का उदय-काल है और द्विवेदी-युग उसकी पुष्टि और परिमार्जन का। इन दोनों युगों के संक्रमण-काल में ही हरिऔध का गद्य-साहित्य पनपा और पुष्पित हुआ है।

हरिऔध का गद्य-साहित्य

वेनिस का बांका उनके गद्य-साहित्य की पहली कड़ी है। यह अनूदित उपन्यास है। इसकी भाषा क्लिष्ट और पण्डिताऊपन

लिए हुए है। इसके बाद रिपवान विंकिल का उर्दू से हिन्दी में अनुवाद है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है। ठेठ हिन्दी का ठाठ सं० १९५९ की रचना है। यह उनका प्रथम मौलिक उपन्यास है। यह उस समय की कृति है जब हमारे साहित्य में उपन्यास-तत्व का प्रवेश भी नहीं हुआ था। उस समय बँगला-साहित्य में बंकिम बाबू के उपन्यासों की बड़ी धूम थी। हरिऔध ने बंगला भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् बंकिम बाबू के उपन्यासों का अध्ययन किया। वह उनके देश तथा जाति-प्रेम से अत्यधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार इन उपन्यासों के प्रभाव ने देश और जाति की दुर्दशा के प्रति वेदना की अनुभूति का संचार करके उनकी कला के स्वरूप-निर्माण के लिए एक सामग्री प्रस्तुत की। इन्हीं दिनों डा० ग्रियर्सन ने खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर पटना के अध्यक्ष श्री रामदीनसिंह का ध्यान ठेठ हिन्दी में कोई ग्रन्थ प्रकाशित करने की ओर आकृष्ट किया। बाबू रामदीनसिंह हरिऔध से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके अनुरोध से हरिऔध ने ठेठ हिन्दी का ठाठ लिखा। यह उपन्यास इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए स्वीकार कर लिया गया। इससे शिक्षित वर्ग में उनकी ख्याति बढ़ी और साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए उन्हें पर्याप्त बिल मिला। हरिऔध का यह सामाजिक उपन्यास था। इसके बाद अधखिला फूल लिखा गया। इन दोनों उपन्यासों का औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतना महत्व नहीं है जितना कि भाषा के महत्व तथा हरिऔध की औपन्यासिक कला के विकास की दृष्टि से। वस्तुतः इन दोनों उपन्यासों से उनके मानसिक विकास का श्रीगणेश होता है।

कबीर-ग्रन्थावली तथा प्रियप्रवास की भूमिका के रूप में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक रुचि का अच्छा परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ से उनकी अध्ययनशीलता, पांडित्य, सारग्राहिणी शक्ति और आलोचनात्मक शैली का पर्याप्त आभास मिल जाता है। उन्होंने कुछ मौलिक निबन्ध भी लिखे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस युग में उन्होंने गद्य-साहित्य-निर्माण करना आरम्भ किया

उस युग की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। उनका गद्य-साहित्य आज के गद्य-साहित्य की आधार-शिला है।

हरिऔध अपने गद्य की अपेक्षा अपने काव्य के लिए हिन्दी-साहित्य में अधिक लोकप्रिय हैं। वह आरम्भ से ही हमारे सामने कवि के रूप में आते हैं और इसी रूप में उनके साहित्यिक जीवन का अवसान होता है। उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ दोहों में हैं। एक दोहा देखिए:—

हरिऔध की काव्य-साधना

जाको माया-दाम में बँधे विरंचि लखाहिं।
प्रेम-डोरि गोपिन बँधे सो डोलत जग माहिं॥

इस प्रकार के दोहों की रचना हरिऔध ने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही की थी। इसके तीन वर्ष पश्चात् सन् १८८५ ई० में उन्होंने रुक्मिणी-परिणय और प्रद्युम्न-विजय व्यायोग की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों का काव्य-कला की दृष्टि से अधिक महत्व न होने पर भी हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उनके प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेमाम्बु-प्रवाह नामक तीन संग्रह सन् १८९९ के लगभग प्रकाशित हुए हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में श्रीकृष्ण कहीं ब्रह्म के रूप में और कहीं साधारण मानव के रूप में अंकित हुए हैं। प्रेम-प्रपंच भी इसी समय के लगभग की रचना है। पहले ये चारों पृथक्-पृथक् थे, पर बाद में काव्योपवन में उनका सङ्कलन कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उनकी ये समस्त रचनाएँ भारतेन्दु-काल में आती हैं और उन समस्त विशेषताओं से प्रभावित हैं जिनके लिए भारतेन्दु-काल प्रसिद्ध है। शृङ्गार-सिन्दूर के रूप में रस-कलश की भूमिका भी इसी काल में लिखी गई है।

हिन्दी में जब द्विवेदी-युग आया तब हरिऔध की काव्य-प्रतिभा ने अपनी दिशा में परिवर्तन कर दिया। उस समय व्रजवाणी के स्थान पर खड़ी-बोली को अपनाकर उन्होंने प्रियप्रवास नामक महाकाव्य की रचना की।

अपने इसी भिन्न-तुकान्त वर्णिक महाकाव्य के कारण वह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं। इसी युग का उनका दूसरा महाकाव्य वैदेही वनवास है। काव्य-कला की दृष्टि से इस महाकाव्य का उतना महत्व नहीं है जितना प्रियप्रवास का, पर भाषा-सौष्ठव इसमें भी देखने योग्य है। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में बोलचाल, चोखे चौपदे और चुभते चौपदे जैसी उनकी कृतियाँ हैं। बोलचाल में बाल से लेकर तलवे तक सब अङ्गों तथा चेष्टाओं के प्रचलित मुहावरों पर बोलचाल और चलती हुई भाषा में भाव-मयी कविताएँ हैं। इन साढ़े तीन सहस्र से अधिक चौपदों में हरिऔध ने समाज और राज, व्यष्टि और समष्टि, लोक और परलोक, नीति और धर्म, संस्कृति और सभ्यता, आचार और विचार आदि जीवन के प्रायः सभी पक्षों पर सूक्तियाँ सजा दी हैं। देखिए—

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूँछ क्या है ऐंठते।

ऐसी सूक्तियों से हिन्दी-साहित्य का कोष समृद्ध ही हुआ है। चोखे चौपदे में भी ऐसी ही सूक्तियाँ हैं, पर इनमें समाज-कल्याण और मानव-हित की शुद्ध भावनाओं का चित्रण हुआ है। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उनका एक चौपदा देखिये —

मन्दिरों, मसजिदों कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ-कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें॥

इन चौपदों में भाषा का लालित्य तो है ही, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के प्रति कटु व्यंग्य और भावों का सौष्ठव भी है। अतः यह कहना, कि उन्होंने काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उद्देश्यों और व्यंग्यों-द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार होने के कारण ही इन काव्यों की रचना की, अन्याय और असंगत है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपनी ऐसी कृतियों में मानसिक व्यायाम अधिक करना पड़ा है, पर उनकी साहित्यिकता नष्ट नहीं हुई है। मुहावरों में जो मिठास,

चुटीलापन और साहित्यिक सौन्दर्य होता है उसका सर्वत्र बड़ी सफलता-पूर्वक निर्वाह हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से बोलचाल में स्थायी साहित्य की यथेष्ट सामग्री है, किन्तु चोखे चौपदे में उसकी प्रचुरता है। कवित्व की दृष्टि से 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' दोनों ही से 'चोखे चौपदे' का स्थान ऊँचा है। चोखे चौपदे में शक्ति है, विचारों का संघर्ष है, चमत्कार-सौन्दर्य है, अलंकारों की स्वाभाविक आभा है और शृंगार, वात्सल्य आदि के मनोरम चित्र और स्फीत उद्‌गार हैं।

इस प्रकार हरिऔध ने भारतेन्दु-काल के पश्चात् खड़ीबोली के आन्दोलन में विजातीय शैली को हिन्दी का रूप देकर इतनी सुगमता से अपना लिया कि वह भी हमारे साहित्य की अद्वितीय सम्पत्ति बन गयी। इसलिये ऐतिहासिक तथा साहित्य-निर्माण की दृष्टि से भी इन मुहावरेदार कला-कृतियों की एक विशेषता है।

खड़ीबोली में साधारण बोलचाल की जिन रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा अभी की गयी है उनके अतिरिक्त हमें हरिऔध की व्रजभाषा की कृतियाँ भी द्विवेदी-युग में मिलती हैं। 'रस कलश' उनका ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है। व्रजवाणी के प्रति साहित्यिक जीवन के उषा-काल में उनका जो मोह था वह भारतेन्दु-काल से छनता, निखरता और परिष्कृत होता हुआ द्विवेदी-युग में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा है। इसलिये व्रजभाषा के हरिऔध को हम उस क्रान्ति-युग में भी जीवित पाते हैं। द्विवेदी युग में हरिऔध में काव्य-जीवन के तीन रूप हैं—१. प्रियप्रवास के हरिऔध, २. चौपदों के हरिऔध और ३. रस कलश के हरिऔध। अपने इन तीनों रूपों में हरिऔध एक दूसरे से भिन्न हैं; पर अपने तीनों रूपों पर उनका समान अधिकार है। उनकी प्रतिभा की धारा एक ही कवि-हृदय से निकल कर तीन दिशाओं में प्रवाहित होती है, पर उनका कहीं भी मेल नहीं होता। प्रियप्रवास के हरिऔध को आप चौपदों और रस कलश के हरिऔधों से मिलाकर देखिए, प्रत्येक अवसर पर हरिऔध का एक पृथक् व्यक्तित्व मिलेगा। प्रियप्रवास में यदि वह भावुक होगये हैं तो चौपदों में उपदेशक और रस-कलश में प्राचीन काव्य रीतियों के आचार्य। हमें

आश्चर्य होता है उनकी प्रतिभा पर, उनकी कव्य-शक्ति पर। प्रत्येक युग की माँग के प्रति उनकी प्रतिभा को इतना मोह है कि वह उनका संवरण नहीं कर सकती।

रस कलश हरिऔध का एक श्रेष्ठ रीति-ग्रन्थ है। इसमें हरिऔध की प्रतिभा अपने दो रूपों में है—१. परम्परागत और २. मौलिक। रीति-कालीन परम्परा के रूप में उनकी प्रतिभा ने उन समस्त विशेषताओं को अपनाया है जिनके लिए रसगंगाधर-कार, साहित्यदर्पण-कार, केशव, बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। हरिऔध ने अपनी ऐसी रचनाओं में कला-पक्ष और भाव-पक्ष का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। अलंकारों की सजावट अथवा रस निरूपण के झोंक में उन्होंने न तो कहीं भाषा के सौष्ठव पर आघात किया है और न विषय के संतुलन पर आँच आने दी है। उन्होंने प्रत्येक रस को उचित स्थान दिया है और उसके उदाहरणों में सहृदयता और सरसता भर दी है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में एक त्रुटि है। उनमें शृंगार और उसके उदाहरणों के प्रति रीतिकार की जैसी अभिरुचि दिखाई देती है वैसी अन्य रसों और उनके उदाहरणों के प्रति नहीं, पर रस-कलश इस दोष से मुक्त है।

यह तो हुई उनकी रीति-कालीन परम्पराओं की आलोचना। मौलिकता की दृष्टि से उन्होंने अपने नायिका-भेद-वर्णन में कुछ ऐसी नायिकाओं की उद्भावना की है जो हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। लोक-सेविका, निजतानुरागिनी, जन्मभूमि-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका और परिवार-प्रेमिका उनकी ऐसी ही नवीन नायिकाएँ हैं। इन नायिकाओं की कल्पना एवं उद्भावना के पीछे हरिऔध की धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जातीय, सुधारवादी तथा उपदेशात्मक मनोवृत्ति ही प्रमुख रूप से दिखाई देती है; इसलिये इन नायिकाओं के वर्णन में रसा-नुभूभि का अभाव है। नायिका-वर्णन के साथ-साथ उन्होंने स्वतन्त्र निरीक्षण के आधार पर ऋतु-वर्णन द्वारा भी अपनी काव्य-शक्ति और भावुकता का परिचय दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोहों और घनाक्षरी छन्दों का यह रस-ग्रन्थ भाषा, भाव और मौलिकता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में

अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। हरिऔध ने अपनी इस रचना में नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण का शारीरिक एवं मानसिक धरातल पर बड़ी संयत और सभ्य भाषा में वर्णन किया है।

हरिऔध समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए हैं। पारिजात यद्यपि उनकी द्विवेदी-काल की स्फुट रचनाओं का संग्रह है, तथापि उसमें नवीन युग के अंकुर वर्तमान हैं। इस काव्य-ग्रन्थ में उनकी अधिकांश दार्शनिक रचनाएँ सङ्कलित हैं। इन रचनाओं से उनके आध्यात्मिक विचार और भावों की गम्भीरता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। तत्कालीन मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं उनमें हरिऔध अपने नवीन रूप में मिल सकते हैं। नवीन धारा की की उनकी एक रचना का अंश देखिये—

क्या समझ नहीं सकती हूँ,
प्रियतम, मैं मर्म तुम्हारा ?
पर व्यथित हृदय में बहती,
क्या रुके प्रेम की धारा ?

हरिऔध की इस शैली पर 'प्रसाद' के आँसू-छन्दों का प्रभाव है। नवीन भाव और नवीन शीर्षक के साथ गेय गान, अकल्पनीय की कल्पना इत्यादि पारिजात में सुन्दर रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ हरिऔध के विकास में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात करती हैं और उन्हें नवयुग के कवियों में लाकर बैठा देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी काव्य-प्रतिभा विविधरूपिणी है। वह अपनी रचनाओं में कहीं रीति-कालीन हैं तो कहीं भारतेन्दु-कालीन और कहीं द्विवेदी-कालीन हैं तो कहीं नवयुग कालीन। उनके इन समस्त रूपों में उनका द्विवेदी-कालीन रूप ही प्रमुख है। अपने इसी रूप में वह पनपे और विकसित हुए हैं। इस युग की उनकी समस्त रचनाएँ तीन प्रकार की हैं—(१) भावात्मक, (२) उद्‌गारात्मक और (३) उपदेशात्मक। अपनी भावात्मक रचनाओं में हरिऔध पूर्णतः कवि हैं। गोधूलि के समय कृष्ण गायें चराकर लौट रहे हैं। उस समय उनकी शोभा का उन्मादकारी चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

कुकुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते व्रजवल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों कर वर्धित कालिमा,
विलसता नभ में नलिनीश है॥

इन सरस पंक्तियों में उन्होंने उपमाओं और उत्प्रेक्षा के सहारे कृष्ण का जो काल्पनिक चित्र उतारा है उसमें भाव और भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य तो है ही तल्लीनता, सजीवता और आकर्षण भी है।

हरिऔध की दूसरे प्रकार की रचनाएँ उद्गारात्मक हैं। माता के हृदय के स्फीत उद्गारों का करुणापूर्ण चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

प्रिय पति! वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है?

मातृ-हृदय के इन स्वाभाविक और वात्सल्य-रसपूर्ण उद्गारों में पत्थर को भी पिघला देने की शक्ति है। ऐसे मार्मिक स्थलों के चित्रण में हरिऔध कुशल हैं।

हरिऔध की तीसरी प्रकार की रचनाएँ उपदेशात्मक हैं। उपदेश देने की प्रवृत्ति हरिऔध में अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी कोई काव्य-पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें वह उपदेशात्मक न हों। दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण में, भावों के चित्रण में, उद्गारों के वर्णन में उनकी प्रवृत्ति उनके विकास में बाधक हुई है। इसका एक कारण है। हरिऔध में लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। अपनी जाति, समाज और देश की समस्याओं से वह इतने अधिक प्रभावित हैं कि वह अपने काव्य-जीवन से उनको पृथक् करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। इसीलिए उनका अधिकांश काव्य किसी न किसी सामाजिक समस्या को लेकर ही सामने आया है। 'एक बूँद' में उनकी सामाजिक भावना देखिए—

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से,
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी।

सोचने फिर-फिर यही जी में लगी—
आह, क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी ॥
दैव मेरे भाग्य में है क्या बदा,
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में ।
या जलूँगी गिर अंगारों पर कहीं,
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में ॥

हरिऔध की इन पंक्तियों में जो सामाजिक भावना है, बहिर्जगत् में मानस-जगत् की जो प्रतिष्ठा है, उसके पीछे उनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही काम कर रही है। इसलिए ऐसी रचनाओं में वह कवि की अपेक्षा उपदेशक ही हो सके हैं। उनका महाकाव्य प्रियप्रवास भी इस दोष से नहीं बचा है।

हम हरिऔध के काव्य-साहित्य पर संक्षेप में विचार कर चुके। अब हम उनके महाकाव्य 'प्रियप्रवास' पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उन्होंने महाकवि के रूप में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में उनका सम्मान उनकी काव्य-रचना प्रियप्रवास द्वारा ही बढ़ा है। यह उनके काव्य-जीवन की विमल कीर्ति है। यदि उन्होंने उपन्यास न लिखे होते, चोखे चौपदे आदि ग्रन्थों की रचना न की होती, रस-कलश आदि की ओर अपनी प्रतिभा न दौड़ायी होती तो भी केवल यही महाकाव्य उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर बनाने के लिये पर्याप्त था।

हरिऔध महाकवि

हरिऔध आधुनिक हिन्दी—खड़ीबोली—के प्रथम महाकवि हैं। उन्होंने प्रियप्रवास हिन्दी को उस समय दान किया जब उसके पास तुलसी, जायसी और केशव के महाकाव्यों के अतिरिक्त कोई महाकाव्य नहीं था। इसलिए प्रियप्रवास स्वर्गीय देन के रूप में हिन्दी को मिला और वह निहाल हो गयी। फिर तो हिन्दी में कई महाकाव्यों की रचना हुई; पर उन सब में 'साकेत' के अतिरिक्त कोई उसके समकक्ष आने का साहस न कर सका। स्वयं हरिऔध अपने दूसरे महाकाव्य 'सीता वनवास' में उतने सफल नहीं हुए जितने 'प्रियप्रवास' में। बात यह है कि जिस ऊँची

उठान के साथ उन्होंने इस महाकाव्य का प्रणयन किया उसका निर्वाह बड़ी सफलतापूर्वक अन्त तक उसमें हुआ। हम इस महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय यहां देते हैं—

(१) **प्रियप्रवास का संदेश**—प्रत्येक महाकाव्य का मानवता के लिए एक संदेश होता है। 'प्रियवास' इससे शून्य नहीं है। हम बता चुके हैं कि हरिऔध में लोक-संग्रह की भावना बड़ी प्रबल है। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बनाया है और इस आदर्श के अनुकूल ही उन्होंने 'प्रियप्रवास' द्वारा हिन्दू-जाति को समाज-सेवा, स्वार्थ-त्याग विश्व-प्रेम, परोपकार, देश-सेवा आदि उदात्त वृत्तियों का सन्देश दिया है। विषाद और विरह की पृष्ठ-भूमि पर इन उदात्त और मंगलमय वृत्तियों के जैसे सुन्दर चित्र कृष्ण और राधा के रूप में उतारे गये हैं, वह अपने में महान् और काव्य-सौष्ठव के प्रतीक हैं।

(२) **प्रियप्रवास में महाकाव्य के लक्षण**—साहित्यदर्पण-कार के अनुसार महाकाव्य के सभी लक्षण प्रियप्रवास में नहीं हैं। हरिऔध ने इस महाकाव्य में रूढ़ियों का उल्लंघन करके एक प्रकार से अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का परिचय दिया है। वास्तव में महाकाव्य भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से महा-कवित्वपूर्ण होना चाहिए। उसका उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जो समाज के लिए स्वास्थ्यकर हो और उसके लिए कल्पद्रुम का काम दे सके। इस दृष्टि से जब हम प्रियप्रवास पर विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि इसमें १७ सर्ग हैं; कथानक पौराणिक है; कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं; वात्सल्य और करुण रस का संचार है; काम की सिद्धि है; किसी सर्ग में एक-से और किसी में अनेक प्रकार के छन्द हैं; सर्गों में निबन्धन है; पर अन्त में आगामी सर्ग की सूचना नहीं है; प्राकृतिक दृश्यों का विशद वर्णन है; चरित्र के नाम पर नाम-संस्करण हुआ है और प्रत्येक सर्ग एक विषय को लेकर सामने आया है। महाकाव्य में नायक के सम्पूर्ण जीवन का चित्र होना चाहिए। 'प्रियप्रवास' में कृष्ण के प्रवास की ही कथा है। इसके अतिरिक्त इसमें नाटकों की संधियाँ भी ठीक नहीं हैं, पर इतनी कमी होते हुए भी है यह महाकाव्य ही। इसका उद्देश्य महाकाव्य का उद्देश्य है।

(३) प्रियप्रवास का कथानक—प्रियप्रवास की कथा है कृष्ण का गोकुल से प्रवास। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन में यह घटना अपना एक विशेष महत्व रखती है। जिस गोकुल की धूल में खेलकर वह बड़े हुए, जिस यशोदा और नन्द की गोद में उन्होंने अमृतपान किया, जिन गोप-गोपिकाओं के साथ उन्होंने बाल-क्रीड़ाएँ कीं और जिस राधा के साथ उन्होंने प्रेम-लोक में विहार किया, उन सबको सहसा त्यागकर राज-भोग के लिए उनका मथुरा चला जाना एक ऐसी ही घटना है जो समस्त गोकुल-वासियों के लिए विरह, विषाद और विलाप का कारण बन जाती है। इस वातावरण की विरहाकुल आधार-शिला पर प्रियप्रवास का प्रासाद खड़ा किया गया है। इस प्रासाद में यदि हम झाँकें और उसे भीतर से देखें तो हमें उसमें करुणा का वेदनामय स्वर मिलेगा, छटपटाते हुए जीवन की झाँकियाँ मिलेंगी, वात्सल्य रस के स्फीत उद्‌गार मिलेंगे और मिलेंगे मोह-मग्ना राधा की उदात्त वृत्तियों के मोहक चित्र। इन चित्रों में हमें राधा के जीवन-विकास की रेखाएँ मिलेंगी। हम यह देखेंगे कि कृष्ण के वियोग में छटपटाती हुई राधा व्यक्तिगत प्रेम के संकुचित प्रकोष्ठ से निकलकर किस प्रकार अपना अवशिष्ट जीवन और उस जीवन की समस्त कामनाओं को विश्व-प्रेम और लोक-सेवा में परिणत कर देती है। राधा की यह चेष्टा अपूर्ण-मानव का पूर्ण होने के लिए प्रयास है; मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ने का प्रयत्न है। विरह और निराशा के वेदनामय वातावरण में साँस लेने के पश्चात् वह किस प्रकार अपने जीवन का उत्सर्ग करती है और विश्व के मंगलमय जीवन में अपने आनन्द की आभा देखती है। यही प्रियप्रवास के कथानक की 'थीम' है। हरिऔध अपनी इस 'थीम' के प्रतिपादन में आदि के अन्त तक सफल हैं। पर, जहां अपने कथानक के चुनाव में उन्हें सफलता मिली है वहाँ महाकाव्य की दृष्टि से उसमें एक दोष आ गया है। प्रियप्रवास का विषय एक खण्ड-काव्य का विषय है। महाकाव्य के लिए कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन सामने आना चाहिए था। हरिऔध ने इस दोष का परिहार कृष्ण के जीवन की महत्त्वपूर्ण और मार्मिक घटनाओं के संघटीकरण से किया है। शास्त्रीय दृष्टि से इन घटनाओं

से कथानक के विकास में विशेष सहायता नहीं मिली है। वस्तुतः इन घटनाओं का आयोजन कृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिये हुआ है। ऐसी दशा में प्रबन्ध-काव्य का जैसा गठन और सौष्ठव हमें तुलसी और जायसी में मिलता है वैसा हरिऔध में नहीं है। हरिऔध के प्रबन्ध-काव्य का कथानक अव्यवस्थित और बिखरा हुआ है।

(४) प्रियप्रवास में चरित्र-चित्रण—प्रियप्रवास चरित्र-चित्रण महाकाव्य है इसमें कृष्ण, यशोदा और राधा—तीन के ही चरित्र प्रमुख हैं। हमें इन तीनों के चरित्रों पर यहाँ संक्षेप में आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे—

१. श्रीकृष्ण—प्रियप्रवास में पूर्ववर्ती साहित्य के अवतारी, माखन-चोर और गोपियों के साथ दिन-रात अठखेलियाँ करने वाले श्रीकृष्ण कर्मयोगी के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनके इस रूप में तीन गुणों की प्रधानता है—शक्ति, शील और सौन्दर्य। अपने इन तीन गुणों के कारण वह मनमोहक हैं, लोक-सेवक हैं, परोपकारी हैं, कर्त्तव्य-परायण हैं। जब तक वह गोकुल में गोप-ग्वालों और गोपियों के बीच रहते और उनके साथ आनन्दोत्सव में भाग लेते हैं तब तक ग्रामवासियों के प्रति उनकी उदारता और कार्यशीलता का स्पष्ट परिचय हमें उनके कार्य-कलापों से मिलता रहता है। महावृष्टि, कालिया नाग और अग्नि से पीड़ित ग्वालों की रक्षा के लिए उनके हृदय के उद्‌गार इन पंक्तियों में देखिये—

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का,
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का,
मनुष्य का सर्वप्रधान कृत्य है।

श्रीकृष्ण की इन पुनीत भावनाओं में हमें उनके लोकोपकारी और लोकसंग्रही रूप का दर्शन मिलता है। यह उनके गोकुल-वास की झाँकी है। इस झाँकी के लोकोत्तर आनन्द का अवसान होता है उस समय, जब अक्रूर के आने पर नन्द को श्रीकृष्ण के साथ कंस की सेवा में उपस्थित होना पड़ता है। 'प्रियप्रवास' का आरम्भ यहीं से होता है। कंस की दूषित मनोवृत्ति की धारणा से गोप-गोपिकाओं और यशोदा तथा राधा के हृदय

पर इस अकस्मात् प्रवास से जो ठेस लगती है, उससे व्रजमण्डल का समस्त वातावरण विरह-वेदना से छटपटा उठता है। वह छटपटाहट उस समय और भी तीव्र हो जाती है जब नन्द और उसके साथी कृष्ण की बाँसुरी लेकर गोकुल लौट आते हैं। कृष्ण के जीवन का दूसरा अध्याय इसी घटना से प्रारम्भ होता है। गोकुल में कृष्ण का जो रूप है उसमें प्रेम और कर्त्तव्य की छीना-झपटी है। ऐसा जान पड़ता है कि उनका भौतिक प्रेम उन्हें कर्त्तव्यों की ओर उन्मुक्त कर रहा है। गोकुल-वासियों की ओर ज्यों-ज्यों उनके प्रेम की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह उनके प्रति कर्त्तव्य-परायण भी होते जाते हैं। इसकी परीक्षा का समय उनके जीवन में प्रथम बार आता है गोकुल से मथुरा जाने पर और कंस का वध करने के पश्चात्। उस समय उनके सामने प्रेम और कर्त्तव्य का संघर्ष साकार हो जाता है। एक ओर व्रजवासियों का अनन्त प्रेम और दूसरी ओर कर्त्तव्यों की पुकार; एक ओर व्यक्तिगत ऐश्वर्य का मोहक चित्र और दूसरी ओर कर्त्तव्य-परायणता का कंटकाकीर्ण शून्य पथ। ऐसे ही अवसरों पर मानव विचलित होता है। श्रीकृष्ण भी मानव हैं। उनके हृदय में भी एक ज्वार आता है और इस ज्वार का दमन उस समय होता है जब वह अपने व्यक्तिगत सुखों को, अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य को लोक-हित की पवित्र वेदी पर उत्सर्ग कर देते हैं। उनके इसी प्रकार के उत्सर्ग में उनके जीवन का सौन्दर्य है। उद्धव उनकी इस कर्त्तव्य-परायणता का परिचय इस प्रकार देते हैं—

वे जी से हैं जगत-जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा॥

पर अपनी कर्त्तव्य-परायणता की धुन में वह अपने शैशव के सहचरों और राधा को नहीं भूलते। उनकी याद भी उन्हें सताती रहती है—

शोभा संभ्रमशालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका,
माता थी प्रत्यक्ष प्रीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता पिता।
प्यारे गोप-कुमार प्रेम-मणि के पाथोधि-से गोप वे,
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा॥

श्रीकृष्ण के हृदय और मस्तिष्क का, मनोविकारों और बुद्धि का,

अनुराग और विराग का, प्रेम और कर्त्तव्य का यह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व जितना ही स्वाभाविक और वास्तविक है उतना ही करुण, सजीव और आकर्षक है; श्रीकृष्ण का अपनी मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय-लाभ है।

२. यशोदा—प्रियप्रवास में यशोदा का चित्र बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। जिस वृद्धा की लकड़ी किसी क्रूर ने छीन ली हो, जिसकी आँख का तारा, दाम्पत्य जीवन की समस्त कामनाओं का आधार लुट गया हो, उसकी वेदनाओं का अनुमान करने के लिए बहुत पोढ़े कलेजे की आवश्यकता है। वास्तव में यशोदा कृष्ण की सगी माता नहीं हैं। देवकी के गर्भ से जन्म लेकर कृष्ण ने यशोदा की पवित्र गोद में अपना शिशुत्व व्यतीत किया है। यशोदा के चरित्र की यह महत्ता है कि उन्होंने कृष्ण को कभी पर-पुत्र के रूप में नहीं देखा। वह सदैव उन्हें अपना ही पुत्र समझती रही हैं। वही दुलार, वही प्यार, वही फटकार! उन्होंने कृष्ण को कभी यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि वह उनकी माता नहीं हैं। अक्रूर के आने पर उसका मातृ-हृदय भावी अनर्थ की आशंका से इतना प्रभावित हो उठता है कि वह कृष्ण को अकेले नहीं जाने देतीं, नन्द को उनके साथ कर देती हैं और कहती हैं—

मधुर फल खिला के दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे॥

इन पंक्तियों को पढ़कर यशोदा को कृष्ण की माता होने में किसी को संदेह करने का स्थान ही नहीं मिलता। नन्द के लौटने पर जब श्रीकृष्ण नहीं आये तब उनका विलाप देखिये—

प्रिय पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?

यशोदा के इस विलाप में उनका मातृ-हृदय झलक रहा है। कृष्ण का मथुरा-गमन उनके जीवन की एक पहेली बन गया है। कृष्ण के प्रति उनके हृदय में बड़ी ममता है। वह निराश होकर उनके आगमन की आशा से कभी द्वार पर बैठती हैं और कभी पथिकों से पूछती हैं। इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते, आशा और निराशा के बीच जीते और मरते जब

बहुत दिन बीत जाते हैं, तब एक दिन उद्धव का आगमन होता है। उद्धव से कुछ न पूछकर वह केवल यही पूछती हैं—

मेरे प्यारे सकुशल, सुखी और सानन्द तो हैं ?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?

प्रत्येक माता अपने इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर पाकर जिस स्वर्गीय सुख का अनुभव करती है, यशोदा भी उसी सुख से अपने व्याकुल हृदय की दुर्बलताओं को धो डालना चाहती हैं, पर इतने ही से उन्हें सन्तोष नहीं होता। देवकी के प्रति उनका व्यंग्य भी मातृ-हृदय की दुर्बलता का एक उदाहरण है। देखिए—

छीना जाये लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो! कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का॥

यशोदा की इन पंक्तियों में आहत हृदय से निकले हुए उनके व्यंग्य तो हैं ही, साथ ही कृष्ण पर उनके अधिकार की अमिट छाप है। यशोदा अपने इस अधिकार की, माता के रूप में न सही, धात्री के रूप में ही, रक्षा करना चाहती हैं। माता होने का जो अधिकार ईश्वर की ओर से देवकी को मिल चुका है उससे वह उनको वंचित नहीं करना चाहतीं, पर साथ ही वह अपना अधिकार भी नहीं खोना चाहतीं। देखिए—

प्यारे जीवें प्रमुदित रहें और बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला जायँ वारेक और॥

कैसी मंगल-कामना है यशोदा की इन पंक्तियों में! अपने मातृ-हृदय की व्याकुलता और छटपटाहट दूर करने के लिए वह धात्री होना ही स्वीकार करती हैं और यह सब इसलिए कि कृष्ण उन्हें मिल जायँ, उनकी साध पूरी हो जाय। यशोदा अपनी इसी साध के कारण जगवन्दनीया हैं।

२. राधा—राधा प्रियप्रवास के कथानक की नायिका हैं। कृष्ण 'प्रियप्रवास' के भौतिक शरीर हैं और राधा उस शरीर की आत्मा हैं। प्रियप्रवास का पूरा ढाँचा उनकी आत्मा को लेकर खड़ा किया गया है। आदि में, मध्य में और अन्त में हमें राधा ही राधा के दर्शन होते हैं। राधा प्रियप्रवास की क्रिया-केन्द्र हैं। शैशव के स्नेहपूर्ण वातावरण से निकल

कर जब राधा और कृष्ण बाल्यावस्था में पदार्पण करते हैं तब दैनिक बालक्रीड़ाओं में भाग लेने के कारण उनमें एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है और यौवन-काल के आते-आते यह आकर्षण प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है। कृष्ण राधा-मय हो जाते हैं और राधा कृष्ण-मय। पर जीवन का प्रवाह सदा एक गति से नहीं बहता। अक्रूर के आने पर दोनों के जीवन में मोड़ आ गया। राधा ब्रज में रह गयीं और कृष्ण मथुरा चले गये। कृष्ण ने कर्त्तव्य की गुरुता को राधा के प्रेम की अपेक्षा अधिक महत्व दिया और वह फिर ब्रज लौटकर नहीं आए। ऐसी दशा में विरहिणी राधा के अन्तस्तल की वेदना उमड़ पड़ी है। भ्रमर को उलाहना देते हुए वह कहती हैं—

अय अलि! तुझमें भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है ध्यान दे के नहीं तू।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर हो के दृगों से।
मत बन निर्मोही नैन के सामने तू॥

इन पंक्तियों में वियोगिनी राधा के अन्तःकरण से प्रसूत व्यंग्य और उपालम्भ भरे हुए हैं। जीवन की ऐसी मार्मिक परिस्थितियों में पड़कर प्रत्येक नारी उबल ही पड़ती है। राधा यद्यपि उच्चवंशीय नारी-रत्न हैं और कृष्ण की प्रेमिका हैं, तथापि उनका नारी-सुलभ हृदय उन समस्त दुर्बलताओं का आगार है जिनके कारण नारी-जाति कोमल समझी जाती है। इन्हीं दुर्बलताओं के बीच राधा के चरित्र का विकास होता है। एक बात और है, राधा कृष्ण की प्रेमिका हैं, प्रेम-पात्री नहीं। यही कारण है कि कृष्ण के वियोग में राधा की जो स्थिति है, वह राधा के वियोग में कृष्ण की स्थिति नहीं है। ऐसी दशा में राधा की दुर्बलताओं का चित्र काव्य का सौन्दर्य बनकर आया है। कृष्ण पहले कर्त्तव्य-परायण हैं, बाद को प्रेमी हैं; राधा पहले प्रेमिका हैं, बाद को कर्त्तव्यशील। पर समय उनकी इस शोकाकुल परिस्थिति में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। इस नवजात परिवर्तन से सम्पूर्ण प्रकृति, कृष्ण का प्रतिरूप बनकर राधा के सामने आती है। कृष्ण के इस नव रूप मे वह इतनी तन्मय हो जाती हैं कि अपना विरह-सन्ताप भूलकर चिर

आनन्द का आभास पाने लगती हैं और अन्ततः अपने जीवन को लोक-जीवन में घुला-मिलाकर विराट् भावना में परिणत कर देती हैं। इस प्रकार राधा को कृष्ण के उदार उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना प्रेम दबाना पड़ता है। राधा सेवा-भाव और विश्वप्रेम को अपनाती हैं। राधा के व्यक्तिगत प्रेम-प्रधान जीवन में मोड़ लाने का सारा श्रेय कवि की कल्पना का विलास ही कहा जायगा। पर आधुनिक समाज के कोलाहलपूर्ण वातावरण में जब हम नारी-समाज को भौतिकता की ओर झुकता हुआ पाते हैं, तब हम उसके त्राण के लिए, उसमें भौतिकतापूर्ण जीवन का परिष्कार और संस्कार करने के लिए, उसमें मातृत्व की ममता और आकांक्षा जागरित करने, उसमें विश्व-प्रेम, लोक-सेवा और राष्ट्र-सेवा की लगन उत्पन्न और उद्भासित करने के लिए साहित्य के पुनीत क्षेत्र में इस प्रकार के कल्पना-विलास का सहर्ष अभिनन्दन करते हैं। इस दृष्टि से हरिऔध का यह प्रयोग सफल और स्तुत्य है। एक बात और है; साहित्य-क्षेत्र में अब तक नवधा भक्ति का उपयोग केवल मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में होता रहा है। हरिऔध ने अपने बौद्धिक विलास के कारण उसका उपयोग मातृ-भूमि और समाज-सेवा के लिए उपयुक्त समझा है और इसका महत्त्व राधा के मुख से वर्णन कराया है। इस प्रकार प्रिय-प्रवास की राधा न तो सूर की राधा हैं और न रीतिकालीन कवियों की। अपने नवीन रूप में हरिऔध की राधा लोक-सेविका हैं।

(५) **प्रियप्रवास में विरह-वर्णन**—हम अन्यत्र बता चुके हैं कि विरह की आधारशिला पर ही प्रियप्रवास का प्रासाद खड़ा किया गया है। अतः इस महाकाव्य में हमें विरह के अनूठे चित्र देखने को मिलते हैं और हम यह कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह विरह-वर्णन-प्रधान महा-काव्य है। इसका विषय ही कुछ ऐसा है जो विरह से भरा हुआ है। अक्रूर का ब्रज में जाना और कृष्ण का उनके साथ शेष जीवन के लिए मथुरा में चले जाना—बस यही एक घटना समस्त ब्रज-वासियों के विषाद और विरह का कारण बन जाती है। इस विरहाग्नि में सभी जलते और छटपटाते हैं, पर यशोदा और राधा की दशा अत्यन्त करुणाजनक है।

यशोदा इसलिए दुखी हैं कि उनका पुत्र अब देवकी का पुत्र हो गया है; और राधा इसलिए दुखी हैं कि वह जिसे प्यार करती थीं वह उनसे बिछुड़ कर मथुरा चला गया है। जायसी भी अपने महाकाव्य पद्मावत में कुछ ऐसी ही परिस्थितियों से गुजरे हैं। रत्नसेन के सिंहल चले जाने पर उनकी माता उसी प्रकार कातर होती और छटपटाती हैं जिस प्रकार यशोदा; पर यशोदा और रत्नसेन की माता की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। यशोदा वास्तविक माता नहीं हैं। धात्री के रूप में उन्होंने कृष्ण को पुत्रवत् ही माना है। कृष्ण भी उन्हीं को अपनी माँ समझते हैं। ऐसी दशा में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा के मातृ-हृदय पर ठेस लगती है। वह यह जानकर और भी व्याकुल हो जाती हैं कि अब उन्हें कृष्ण नहीं मिलेंगे। इस लिए उनकी विरह-वेदना में निराशा और मातृ-हृदय की व्यंजना अधिक है रत्नसेन की माँ के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह जानती हैं कि उनका पुत्र राजा है, वीर है और पद्मावती को लेकर लौट आयेगा। इसलिए उनका वियोग-सन्ताप केवल एक निश्चित अवधि तक ही सीमित है। यशोदा कृष्ण के तरुण होने और उनकी शक्ति और वीरता का परिचय पाने पर भी, उन्हें बालरूप में ही देखती हैं। इसलिए मथुरा-गमन के अवसर पर वह नन्द को कृष्ण के साथ कर देती हैं। पर रत्नसेन की माता एक वीर राजा के रूप में अपने पुत्र को देखती हैं, इसलिए उनके मातृ-हृदय में उन कोमल वृत्तियों का प्रस्फुरण नहीं हो पाता जिनके लिए माता यशोदा के हृदय का द्वार सदैव खुला रहता है। इस प्रकार यशोदा के विरह वर्णन में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण हरिऔध को जो सफलता मिली है वह जायसी को नसीब नहीं हुई है। अब रहा राधा और नागमती का विरह-वर्णन। नागमती रत्नसेन की विवाहिता पत्नी है और रानी है। वह जानती है कि रत्नसेन पद्मावती की रूप प्रशंसा सुनकर उसे अपनाने के लिए जा रहा है और कभी न कभी वह अवश्य लौटेगा। पर राधा की दशा इससे भिन्न है। राधा कृष्ण की प्रेमिका हैं। प्रेमिका अपने प्रेम-पात्र का सदैव सामीप्य चाहती है। वह एक क्षण के लिए उसे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकती। ऐसी दशा में

कृष्ण का सहसा मथुरा चले जाना और फिर लौटकर कभी न आना ही राधा की विरह-वेदना का कारण बन जाता है। परिस्थितियों में इस प्रकार की विभिन्नता के कारण जायसी और हरिऔध के विरह-वर्णन में अन्तर आ गया है। जायसी ने नागमती के विरह के जो चित्र उतारे हैं, उनमें एक हिन्दू-सती के हृदय के उद्गार हैं अवश्य, पर उनमें काम की लिप्सा भी है। नागमती जानती है कि पति के लौटने और सामीप्य होने पर भी वह रत्नसेन को अपना नहीं सकेगी। पर राधा की चिन्तनधारा इससे भिन्न है; उनके विरह में आध्यात्मिकता है। वह कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं कृष्ण के सामीप्य के लिए छटपटाती हैं और अन्त में उनकी छटपटाहट कृष्ण की कर्त्तव्य-निष्ठा के आदर्श, समय के प्रभाव तथा ज्ञान के प्रादुर्भाव से विश्व-प्रेम, लोक-सेवा और विराट् भावना में परिणत हो जाती है। राधा की विरह-वेदना में एक आदर्श है, अपूर्ण से पूर्ण होने की एक चेष्टा है। नागमती की विरह-वेदना में पति-पत्नी के आदर्श प्रेम का प्रलाप है। एक बात और है जिसे हम जायसी के विरह-वर्णन में नहीं पाते। हरिऔध ने अपने विरह-वर्णन में कालिदास के मेघदूत की भाँति पवनदूत की उद्भावना की है। विरह-वेदना से सन्तप्त राधा प्रातःकालीन शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन को मेघ के समान अपना दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती हैं और कहती हैं—

छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगा के॥

हरिऔध के इस पवनदूत पर कालिदास के मेघदूत की स्पष्ट छाप अवश्य है, पर राधा के विरह-वर्णन में इससे जो गम्भीरता आ गयी है वह सराहनीय है। जायसी का विरह-वर्णन अधिक ऊहात्मक है। उस पर फ़ारसी साहित्य का प्रभाव है; हरिऔध के विरह-वर्णन पर संस्कृत साहित्य का। विरह वर्णन में प्रकृति की संवेदनशीलता दोनों में समान है।

(६) प्रियप्रवास में प्रकृति-वर्णन—प्रकृति ईश्वर की परम विभूति है। उसमें नियम भी हैं और नैसर्गिक सुषमा भी। वैज्ञानिक उसमें नियम खोजता है और कवि सुषमा। कवि की असाधारण प्रतिभा इस दिशा में कई प्रकार

से काम करती है। प्रकृति-प्रेमी कवि कभी उसके नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रभावित होता है, कभी उसे अपने मनोभावों के रङ्ग में रंगा हुआ पाता है, कभी उसे अपने विचारों के प्रस्फुरण में सहायक पाता है, कभी उसमें मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता पाता है और कभी समस्त सृष्टि के व्यापारों के पीछे एक विराट् सत्ता का आभास पाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस कवि की जितनी पहुँच है, प्रकृति के प्रति जितना जिसका अनुराग है, उसी के अनुसार वह प्रकृति का चित्रण करता है। हिन्दी के काव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण की जितनी शैलियाँ प्रचलित हैं, हरिऔध ने अपने महाकाव्य में अवसरानुकूल उन समस्त शैलियों का प्रयोग किया है और प्रकृति के बड़े कलापूर्ण और भावात्मक चित्र अङ्कित किये हैं, पर हमें उनके चित्रों में प्रकृति की सहज प्रफुल्लता और उसका मनोमुग्धकारी रूप देखने को नहीं मिलता। बात यह है कि प्रियप्रवास विरह-प्रधान काव्य है। आदि से अन्त तक उसका एक ही स्वर है—विरह-विलाप और रुदन। नन्द, यशोदा, राधा, गोप-गोपिकाएँ सब कृष्ण के वियोग में विकल हैं। ऐसे विषादमय वातावरण को अपने कथानक का विषय बनाने के कारण महाकाव्यकार को प्रकृति का सुस्मित रूप दिखाने का कहीं अवसर नहीं मिला। इसलिए यह दोष हरिऔध और उनकी काव्य-कला का नहीं, वरन् उसके विषय का है। वैदेही वनवास भी उनका इसी प्रकार का महाकाव्य है। इसलिए हम उसमें भी प्रकृति के मनोमोहक चित्र नहीं पाते। ऐसा जान पड़ता है कि विरह के प्रति हरिऔध का इतना झुकाव है, उसके प्रति उनके हृदय में इतनी आत्मीयता है कि वह उसका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी दशा में हमें यह देखना चाहिए कि हरिऔध ने किन परिस्थितियों के बीच प्रकृति का चित्रण किया है और उसमें वह कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सर्वप्रथम प्रकृति का सरल स्वरूप-चित्रण मिलता है। प्रियप्रवास का प्रथम सर्ग ही इन पंक्तियों से आरम्भ होता है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण, हरिऔध उसी कला से करते हैं

जो एक चित्रकार में होती है। चित्रकार रेखाओं की सहायता से चित्र अंकित करता है और हरिऔध अपने शब्दों से। इसलिए प्रकृति के इन चित्रों से हमें कवि-हृदय की प्रेरणा का आभास नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि कवि सान्ध्य प्रकृति-सुन्दरी के प्रति विरक्त होकर बैठा है और निर्लिप्त मन से उसकी नैसर्गिक सुषमा के साधारण चित्र उतारता चलता है। इसका कारण कवि-हृदय की भावी आशंका है जो उसे प्रकृति में तल्लीन होने से रोकती है। कृष्ण के आगमन पर उनके दर्शन की लालसा से गोप-गोपिकाओं की जब भीड़ लग जाती है तब कवि प्रकृति के प्रति पहले की अपेक्षा अनुरक्त अवश्य होता है, पर थोड़ी ही देर में जब यह देखता है कि—

अरुणिमा जगती-तल वंधिनी,
वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नव रागमयी दिशा,
तरल धार विकार विरोधिनी॥

तब उसके हृदय का सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस विरह-कथा को लेकर वह अपने महाकाव्य का ढाँचा खड़ा करने जा रहा है, उसका आभास वह सर्वप्रथम प्रकृति-चित्रण द्वारा करा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके ये चित्र साधारण हैं, पर अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने में ये सफल हैं।

प्रकृति के इन सादे और साधारण चित्रों के साथ हमें ऐसे भी चित्र मिलेंगे जिनमें उन्होंने मानवी मनोविकारों का आरोप किया है। राधा कृष्ण के प्रयाण का समाचार सुनकर कहती हैं—

यह सकल दिशाएँ आज रो-सी रही हैं,
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।

प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप इन पंक्तियों में देखिए—

नीला प्यारा उदक सरिका देख के एक श्यामा,
बोली खिन्ना विपुल वन के अन्य गोपांगना से।

कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता,
प्यारी न्यारी जलद-तन की मूर्ति है याद आती ॥

उपाध्यायजी ने जिन प्राकृतिक दृश्यों को लिया है उनका सफलता-पूर्वक वर्णन किया है। कुछ स्थलों पर केशव का भी प्रभाव उन पर पड़ा है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने पेड़ों के नाम गिनाने की झोंक में देश और काल की चिन्ता नहीं की है; और फिर भी आश्चर्य यह कि करील को वे भूल गये। पर सौभाग्यवश ऐसा बहुत स्थलों पर नहीं हुआ है। उन्होंने प्रकृति के इन साधारण चित्रों के साथ-साथ वर्षा आदि ऋतुओं का भी वर्णन बड़े अनूठे ढंग से किया है। बिजली के चमकने, मेघों के गरजने इत्यादि के दृश्य तथा शब्द की ओर उनका ध्यान गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में उनकी कला सफल है। उन्होंने प्रकृति के उत्तेजक और उन्नायक दोनों रूपों के चित्र उतारे हैं। प्रकृति के उन्नायक रूप का चित्र देखिए—

कञ्जों का या उदित शशि का देख सौंदर्य आँखों,
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती,
प्यारे के पाँ, मुख, मुरलिका नाद जैसा उन्हें पा ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में प्रकृति ने अपने ही रूप में राधा को उसके प्रियतम का दर्शन करा दिया। केवल यही नहीं, विश्व-नियन्ता उस विराट् पुरुष का दर्शन भी राधा को प्रकृति की गोद में रहकर ही हुआ है। इस दिव्य दर्शन से प्रकृति के नगण्य पदार्थों का महत्त्व बढ़ गया और राधा की दृष्टि में उसका अपरिमित मूल्य हो गया। हरिऔध के प्रकृति-चित्रण की यह कला उनकी कवित्व-शक्ति का समुज्ज्वल रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है। पात्र-रूप में पवनदूत का विधान करके उन्होंने प्रियप्रवास का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। यह बात अवश्य है कि उनके प्रकृति-चित्रण में हमें उसकी आधुनिक शैलियाँ नहीं मिलतीं, पर उनके समय को देखते हुए हम उन्हें इस दिशा में सफल पाते हैं।

अब तक हमने 'प्रियप्रवास' के केवल भाव-पक्ष पर ही विचार किया

है। उसके कला-पक्ष की मीमांसा हम हरिऔध की समस्त कृतियों को ध्यान में रखकर अगली पंक्तियों में करेंगे। हम यह देखेंगे कि उन्होंने अपने अलङ्कार, रस तथा छन्द-योजनाओं में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। पहले उनकी अलंकार-योजना लीजिये।

हरिऔध की अलङ्कार-योजना

वर्तमान युग अलंकारों का युग नहीं है, पर जिस समय हरिऔध ने अपनी लेखनी उठायी थी, वह अलङ्कारों का युग था। इसलिए उनके काव्य-ग्रन्थ में, विशेषतः रस-कलश में हम उनकी एक निश्चित अलङ्कार-योजना पाते हैं। वह अलङ्कार-प्रिय हैं, पर पर उनकी कविता-कामिनी अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को ऐसे और इतने अलंकारों से सजाया है जितने से उसकी स्वाभाविक सौंदर्य-वृद्धि में उन्हें सहायता मिली है। उन्होंने दोनों प्रकार के अलङ्कारों—शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों—का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों की योजना से उन्होंने अपनी भाषा की सौष्ठव-वृद्धि की है और अर्थालङ्कारों के सम्यक् प्रयोग से भावों की। इस प्रकार भाषा और भाव दोनों का सुन्दर समन्वय उनकी रचनाओं में हो सका है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक श्लेष आदि का प्रयोग मिलता है और अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, श्लेष, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन अलङ्कारों के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रियप्रवास में मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि प्रियप्रवास की रचना करते समय उनकी कला अपनी चरम सीमा पर थी।

हरिऔध की रचनाओं में उनकी रस-योजना भी दर्शनीय है। शृङ्गार वात्सल्य और करुण के उन्होंने बड़े सुन्दर और आकर्षक चित्र उतारे हैं।

हरिऔध की रस-योजना

उनके इन चित्रों में मानव-हृदय बोलता हुआ सुनायी पड़ता है। उनके शृङ्गार-वर्णन में वियोग-पक्ष की ही प्रधानता है। प्रियप्रवास में विरह-वर्णन के अन्तर्गत हम उनके विप्रलंभ शृङ्गार की और यशोदा के चरित्र-चित्रण में हम उनके वात्सल्य-भाव की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम करुण

रस पर संक्षेप में विचार करेंगे। करुण रस का स्थायी भाव है शोक। शोक में प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास दोनों भरे हुए हैं। इस रस ने उनमें इतनी वेदना, इतनी टीस, इतनी छटपटाहट और व्याकुलता भर दी है कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते आँखों में आँसू छलछला आते हैं। उनके प्रेम-मूर्ति राधा और माता सीता के वियोग के चित्रों में मानव-हृदय का इतना हाहाकार और इतनी वेदना भरी हुई है कि उससे पत्थर भी पिघल जाता है। पर इन सब रसों का अवसान शान्त रस में होता है।

हरिऔध की छन्द-योजना बड़ी विस्तृत है। उन्होंने अपनी रचनाओं में छन्दों का प्रयोग काव्य-विषय के अनुकूल ही किया है। उनकी छन्द-योजना हमें चार रूपों में मिलती है—१. ग्रामीण छन्द, २. उर्दू-शैली के छन्द, ३. रीति-कालीन छन्द और ४. संस्कृत-साहित्य के छन्द। ग्रामीण छन्दों में उनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। एक नमूना देखिए—

हरिऔध की छन्द-योजना

बिगरल मोर करमवाँ, नहिं जानों कौन करनवाँ,
घर गाँव छूटल, दियार-देश छूटल, छुटि गेलें सिगरे सजनवाँ।

उनके इस प्रकार के ग्रामीण छंदों तथा लोक-गीतों पर भारतेन्दु और प्रेमघन का यथेष्ट प्रभाव है। प्रेमघन तथा प्रतापनारायण आदि भारतेन्दु-कालीन कवि अपने इन्हीं छन्दों द्वारा जनता तक पहुँचे थे। अतः हरिऔध ने भी उन पर अपनी लेखनी उठायी और सफलता प्राप्त की। इनकी उर्दू-शैली के छन्दों का प्रयोग हमें काव्योपवन, प्रेम पुष्पोपहार आदि में मिलता है। वह आरम्भ से ही द्विपद, चतुष्पद और षट्पद—छप्पय नहीं—लिखा करते थे। उर्दू व फारसी के वह अच्छे पण्डित थे, इसलिए आरम्भ में उन्होंने इन्हीं भाषाओं की शैलियों को अपनाया। नमूने देखिये—

इस चमकते हुए दिवाकर से,
रस बरसते हुए निशाकर से।

× × ×

मौलवी ऐसा न होगा एक भी,
खूब जो उर्दू न होवे जानता।

आप पढ़ते भी नहीं इनको कभी,
किस तरह है आपका मन मानता ॥

हरिऔध ने शार्दूलविक्रीड़ित छन्द को हिन्दी मात्रिक छन्द का रूप दिया था। इनमें १८-१२ के विराम से ३० मात्राओं की पंक्ति का विधान था। इन्हीं के आधार पर उन्होंने बोल-चाल और चौपदों की रचना की।

तीसरे प्रकार की उनकी छन्द-योजना रस-कलश में मिलती है। इसमें दोहा, सवैया और कवित्त आदि छन्दों का विधान रीति-कालीन परम्परानुगत किया गया है। इन छन्दों की भाषा ब्रजभाषा है। चौथे प्रकार की उनकी छन्द-योजना संस्कृत-साहित्य की देन है। भारतेन्दु-काल समाप्त होने पर जब द्विवेदी-युग का सूत्रपात हुआ तब उसकी प्रेरणा से तत्कालीन कवि मैथिलीशरण गुप्त, देवीप्रसाद 'पूर्ण', गिरिधर शर्मा, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक आदि कवि संस्कृत-वृत्तों का हिन्दी में प्रयोग करने लगे। संस्कृत-वर्ण-वृत्तों में सहज आकर्षण भी था, इसलिए अधिक-से-अधिक कवि उनकी ओर झुके। द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा आदि की वैजयन्तियाँ हिन्दी के साहित्याकाश में भ्रमण करने लगीं और दोहों, चौपाइयों, कवित्तों, सवैयों और लावनियों का सारा शृङ्गार हतप्रभ हो गया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के पुनीत काव्य-क्षेत्र में संस्कृत-वर्ण-वृत्तों का प्रवेश हुआ। उनके प्रवेश से भाषा और भाव, शरीर और प्राण दोनों का सौन्दर्य बढ़ा। गुप्त जी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा गिरिधर शर्मा आदि नवीन छन्दों में बड़ी सुन्दर रचनायें करते थे। पर 'तुक—अन्त्यानुप्रास' का बन्धन उन्हें अब तक जकड़े हुए था। हरिऔध ने सबसे पहले अतुकान्त संस्कृत-वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया और वह सफल हुए। प्रियप्रवास उनके अतुकान्त संस्कृत-वर्ण-वृत्तों का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हिन्दी-जगत् में प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसने यह घोषित कर दिया कि अन्त्यानुप्रास की मधुरिमा से पृथक् होकर भी कविता मधुर रह सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध अपनी छन्द-योजना में पूर्णतः सफल हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राचीन तथा नवीन सभी छन्दों का प्रयोग किया है।

छन्दों के निर्वाचन में हम हरिऔध की कला-प्रियता का परिचय पा चुके, अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। वस्तुतः शैली ही लेखक अथवा कवि का वह साधन है जिसके आलोक में हम उसके व्यक्तित्व की, उसकी योग्यता की परीक्षा करते हैं। हरिऔध अपनी शैली के स्वयं जन्मदाता हैं। उनकी शैली पर किसी का स्पष्ट प्रभाव नहीं है। प्रियप्रवास, रस-कलश, वैदेही-वनवास, बोलचाल तथा चौपदे उनकी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों पर अपनी लेखनी उठायी है। गद्य में उनकी शैली कुछ पण्डिताऊपन लिए हुए अलंकृत शैली है। अनुप्रास की छटा, लम्बे-लम्बे समासयुक्त पद, मुहावरों की भरमार, संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य, कहीं-कहीं लम्बे वाक्य उनकी गद्य-शैली में अधिक पाये जाते हैं। इसके साथ ही उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य और ओज सभी गुण मिलते हैं। उनकी शैली में प्रवाह और चमत्कार भी है। काव्य-साहित्य में उनकी शैली के चार रूप हमें मिलते हैं—(१) उर्दू की मुहावरेदार शैली, (२) हिन्दी की रीतिकालीन शैली, (३) संस्कृत काव्य की शैली और (४) वर्तमान शैली। अपनी इन शैलियों में हरिऔध सर्वथा नवीन हैं। प्रियप्रवास की शैली उच्च हिन्दी का दिग्दर्शन है, पर लम्बे-लम्बे समासों के कारण कहीं-कहीं उसका स्वरूप छिप-सा गया है। अप्रसिद्ध शब्द भी आ गये हैं। विदेशी शैली का बुर्का और पायजामा उतारकर उन्होंने उर्दू-छन्दों को हिन्दी की साड़ी में इस प्रकार सजाया और सँवारा है कि उसमें चटकीलापन आ गया है। इस दिशा में हरिऔध का प्रयास अत्यन्त सफल है। इस शैली में मुहावरे भाषा के प्राण बनकर आये हैं। वास्तव में उनका समस्त साहित्य मुहावरों का विशाल कोष है।

हरिऔध की शैली

संस्कृत-काव्य की शैली में अनुकान्त कविता के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। वर्तमान शैली के नमूने पारिजात और वैदेही-वनवास में अधिक मिलते हैं। वृत्तों और विषयों के अनुकूल भाषा का होना उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में कृत्रिमता नहीं स्वाभाविकता है। उन्होंने

अपनी शैली को प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए अनुप्रासों, उपमाओं और रूपकों से सहायता ली है, पर अपनी इस चेष्टा में उन्होंने अपनी भाषा की स्वाभाविकता और उसके प्रवाह पर आँच नहीं आने दी है। संस्कृत और फारसी के ज्ञाता होने के कारण वह प्रत्येक शब्द की आत्मा और विशिष्टता से परिचित हैं। इसलिए उनका शब्द-शोधन कवित्वपूर्ण और सरस है। उनकी शैली में संगीत का तत्व है और संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल होने पर भी वह कर्ण-कटु नहीं है।

हरिऔध की भाषा

हरिऔध की छन्द-योजना और शैली के अनुरूप ही हमें उनकी भाषा भी कई रूपों में मिलती है, जिससे ज्ञात होता है कि भाषा पर उनका बड़ा अधिकार है। गद्य और पद्य—साहित्य के इन दोनों क्षेत्रों में—उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। वह सरल से सरल भाषा लिख सकते हैं और कठिन से कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। वह अपने आस-पास की शुद्ध ग्रामीण भाषा भी लिख सकते हैं और शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भी। उनकी भाषा के मुख्यतः चार रूप हमें मिलते हैं—(१) उर्दू-शैली से प्रभावित हिन्दी, (२) ब्रजभाषा, (३) सरल साहित्यिक हिन्दी और (४) तत्सम शब्द प्रधान हिन्दी। बोल-चाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोपहार, काव्योपवन, आदि काव्य-ग्रन्थों में उनकी भाषा उर्दू-शैली से प्रभावित हिन्दी है। यह इतनी सरल, सुबोध और मुहावरेदार है कि उसे समझने में किसी को देर नहीं लग सकती। रस-कलश में उनकी रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने शुद्ध रूप में नहीं है और उस पर खड़ीबोली का यथेष्ट प्रभाव है; पर है वह सरल, साहित्यिक और ब्रजभाषा के नियमों से बँधी हुई। शिथिलता उसमें नहीं है। रीति-कालीन कवियों ने तुकबन्दी और व्यर्थ के शब्दों की ठूँस-ठाँस से जिस प्रकार अपनी भाषा को बिगाड़ा है उस प्रकार का प्रयत्न हरिऔध ने नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को उन्होंने ब्रजभाषा के साँचे में ढालकर मधुर बना दिया है। इस प्रकार भाषा को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार नया रूप देने

में वह बड़े ही कुशल हैं।

हरिऔध की तीसरे प्रकार की भाषा है सरल हिन्दी। प्रियप्रवास और 'वेनिस का बाँका' के अतिरिक्त उनके शेष खड़ीबोली के ग्रन्थों में सरल हिन्दी है। प्रियप्रवास के बाद 'वैदेही वनवास' की भाषा प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी-जनता के सामने आयी है। प्रियप्रवास की भाषा चौथे प्रकार की है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से इतनी बोझिल और दबी हुई है कि कहीं-कहीं उसमें हिन्दी खो-सी गयी है। देखिए—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी कलहासिनी, सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।

वृत्तों के अनुकूल ऐसी भाषा के लिखने में हरिऔध ने न तो अपने पाठकों का ध्यान रखा है और न उस भाषा के व्याकरण का जिसमें वह प्रियप्रवास लिख रहे थे। इसलिए उनसे व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी हुई हैं और वह अपनी भाषा को बहुत आकर्षक नहीं बना सके हैं। इससे उनके काव्य की रोचकता भी नष्ट हुई है। उनका शब्द-चयन भी शिथिल है। व्रजभाषा के भी कुछ शब्द खड़ीबोली में आ गये हैं जो खटकते हैं। पर इन दोषों के रहते हुए भी हरिऔध के भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृतगर्भित भाषा के प्रति उनकी लालसा है, उनका मोह है। इस लालसा और इस मोह की प्रियप्रवास में उन्होंने पूर्णतः रक्षा की है। भाषा के क्षेत्र में उनका प्रयोग अत्यन्त नवीन और मौलिक है। उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह, संगीत और लालित्य है और वह उसके भावों को वहन करने में पूर्णतः समर्थ है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीनों शक्तियों से काम लेकर शब्दालंकारों से उन्होंने अपनी भाषा के आभ्यन्तरिक तथा बाह्य स्वरूप को जिस प्रकार सौन्दर्य प्रदान किया है वह अद्वितीय है।

हरिऔध की काव्य-साधना के भाव और कला पक्षों पर सम्यक विचार हो चुका। अब हम उनकी तथा उनके समकालीन गुप्तजी की कला-कृतियों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। हरिऔध के सम्बन्ध में हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपनी आँखों से हिन्दी के उत्थान-काल

के तीन युग—भारतेन्दु-काल, द्वितीय-काल और वर्तमान-काल—देखे हैं।

हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त

भारतेन्दु-काल में बाबा सुमेरसिंह से प्रभावित होकर उन्होंने व्रजभाषा को अपनाया। द्विवेदी-काल में खड़ीबोली को प्रोत्साहन मिलने से उन्होंने खड़ीबोली में अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया, पर इसके साथ ही व्रजभाषा के प्रति उनका जो मोह था उसका परित्याग उन्होंने नहीं किया। नवीन काल में यद्यपि उनकी काव्य-प्रतिभा अधिकांश द्विवेदी-कालीन रही, तथापि हिन्दी को उन्होंने अपनी फुटकर रचनाओं के रूप में योग दान दिया और इस प्रकार वह अपने तीनों कालों में समान रूप से हिन्दी काव्य की अभिवृद्धि करते रहे। गुप्तजी को काव्य-प्रेरणा मिली अपने पूज्य पिता से। उनके पिताजी कवि थे और व्रजभाषा में कविता करते थे, पर गुप्तजी ने व्रजभाषा को नहीं अपनाया। उनके काव्य-जीवन का प्रभात-काल द्विवेदी-युग का प्रभात-काल था। इसलिए द्विवेदी-युग के प्रभाव से उन्होंने खड़ीबोली में कविता करना आरम्भ किया। इस प्रकार गुप्तजी ने अपनी आँखों से हिन्दी-काव्य के दो युग देखे हैं—द्विवेदी-युग और वर्तमान-युग। द्विवेदी-युग से गुप्तजी अधिक प्रभावित हैं; उनके काव्य-जीवन का विकास इसी काल में हुआ है। हरिऔध भी द्विवेदी-युग से उतने ही प्रभावित हैं जितने गुप्तजी ; पर हरिऔध पर रीति-कालीन परम्पराओं का यथेष्ट प्रभाव है। गुप्तजी इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त हैं। वह शुद्ध द्विवेदी-कालीन हैं।

धार्मिक क्षेत्र में हरिऔध के सिद्धान्त अधिक व्यापक हैं। वह मानवता के रूप में अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन', उनके इस विचार के अनुसार मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। यही उनका अवतारवाद है। वह ईश्वर को साकार रूप में स्वीकार नहीं करते। अपनी इस धारणा के कारण उन्होंने प्रियप्रवास में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में ही चित्रित किया है। इसी धारणा के कारण उनमें सामाजिक चेतना का विकास हुआ है और विश्व-प्रेम की उद्भावना हुई है। राधा और कृष्ण उनकी इसी

भावना के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आते हैं। गुप्तजी की धारणा इससे भिन्न है। गुप्तजी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। इसलिए पौराणिक अवतारवाद में उनका विश्वास है। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। जो 'रमा है सब में राम' वही निर्गुण से सगुण साकार बनकर अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देता है। उसका उद्देश्य है—

पथ दिखाने के लिये संसार को,
दूर करने के लिये भू-भार को।

गुप्तजी की यह भक्ति-भावना भक्ति-कालीन कवियों में उन्हें लाकर बिठा देती है। हरिऔध की विचार-धारा पर सन्त-कवियों का प्रभाव है। सिक्ख धर्म में दीक्षित होने के कारण उनकी साहित्य-साधना सन्त-कवियों की साहित्य-साधना बन गयी है। उनका काव्यगत दृष्टिकोण उनकी धारणा के अनुकूल है। गुप्तजी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शों से ओतप्रोत हैं। उनकी रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं में उनका वही स्वर है जो रामचरित-मानस में तुलसी का। राष्ट्रीयता के नव जागरण-काल में जन्म लेने के कारण जातीय तथा धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं का भी सम्मिश्रण ऐसी रचनाओं में कर दिया है; पर गुप्तजी भक्त कवि नहीं, प्रमुखतः राष्ट्र-कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना के समान ही उनकी राष्ट्र-भावना का विकास हुआ है। हरिऔध सामाजिक प्रवृत्तियों के कवि हैं। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गुप्तजी का जितना मोह है उतना हरिऔध का नहीं है। इसलिए जहाँ हरिऔध सुधारक और उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं वहाँ गुप्तजी हमारी राष्ट्रीय चेतना में प्राण फूँकते पाये जाते हैं। इसका कारण कुछ तो आदर्शों की विभिन्नता और कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। गुप्तजी स्वतन्त्र वातावरण में पनपे और विकसित हुए हैं हरिऔध को अपनी जीविका चलाने के लिए सरकारी नौकरी करनी पड़ी है। इसलिए, राष्ट्रप्रेमी होते हुए भी हरिऔधजी ने राष्ट्रीय चेतनाओं का कभी खुलकर समर्थन नहीं किया। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक भावना उनकी राष्ट्रीय-भावना को दबाकर आगे निकल गयी। गुप्तजी की राष्ट्रीय भावनाओं का विकास सामाजिक भावनाओं के

बीच हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों में बराबर भाग लेने के कारण उनकी सामाजिक भावनाओं को राष्ट्रीय भावनाओं के सामने दब जाना पड़ा। हिन्दू होने के नाते दोनों महाकवि अपनी जातीय समस्याओं से परिचित हैं और उनके प्रति उदार हैं। उनका उद्देश्य ही उनके काव्य-कर्म की मुख्य प्रेरणा है।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में हरिऔध की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। उपन्यास और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य पर उनकी विवेचना उनकी गद्य-शैली की द्योतक है। प्रियप्रवास तथा वैदेही-वनवास उनके दो महाकाव्य हैं। रस-कलश उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। गुप्तजी ने एक महाकाव्य साकेत और जयद्रथ-बध आदि कई खण्ड-काव्यों तथा गीति-काव्यों की रचना की है। गद्य की ओर उनकी प्रतिभा उन्मुख नहीं हुई। आलोचना भी उनका विषय नहीं रहा। वह केवल कवि हैं। उनके कथानकों का आधार पौराणिक कथाएँ हैं। 'किसान' आदि उनकी स्वतन्त्र रचना के उदाहरण हैं। हरिऔध ने अपने दो महाकाव्यों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही की है, पर उनमें पौराणिकता नहीं है। अपने आदर्शों के आलोक में उन्होंने अपनी कथाओं को नवीन और मौलिक रूप दिया है। गुप्तजी के कथानकों में इस प्रकार की चेष्टा नहीं है। इसलिए हरिऔध की भाँति वह अपनी रचनाओं की किसी नूतन आदर्श की स्थापना नहीं कर सके हैं। हरिऔध अपनी महाकाव्येतर रचनाओं में मुख्यतः सामाजिक हैं, गुप्तजी मुख्यतः राष्ट्रीय। नवीन धारा से, काव्य के नवीन वादों से, गुप्तजी हरिऔध की अपेक्षा अधिक प्रभावित हैं। गुप्तजी अब छायावादी और रहस्यवादी कविताएँ भी लिखने लगे हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हरिऔध को जो सफलता राधा के चरित्र-चित्रण में मिली है वह उन्हें माता सीता के चरित्र-चित्रण में नसीब नहीं हुई। 'साकेत' की उर्मिला भी राधा की भाँति वियोगिनी हैं, पर जहाँ राधा का विरह निराशा-जन्य है वहाँ उर्मिला का आशा-जन्य। उर्मिला जानती हैं कि लक्ष्मण चौदह वर्ष पश्चात् अवश्य लौटेंगे। इसलिए उनकी

विरह-वेदना में वह तड़पन नहीं है जो राधा के विरह में है। राधा विचारशीला हैं, वियोग ही में उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रकृति से सहानुभूति की प्रेरणा पाकर वह विश्व को कृष्णमय समझने लगती हैं। और अन्त में लोक-सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देती हैं। उर्मिला मौनव्रती महिला हैं। वह अपनी आग में सुलगती हैं, पर इस प्रकार कि वह उसका धुआँ तक बाहर नहीं जाने देतीं। सास, परिचारिकाएँ इत्यादि उनकी मुखाकृति से यह नहीं भाँप पातीं कि उन्हें पति-वियोग का दुःख है। बड़ा संयम है उर्मिला को अपने मनोगत भावों पर। राधा का विरह ऐसा नहीं है। उसके व्यक्तित्व पर उर्दू-कवियों का प्रभाव है। उसकी विरहाग्नि का धूम्र चारों ओर फैला है और जो उसके सम्पर्क में आता है वही सन्तप्त हो जाता है। उर्मिला का विरह एक बड़े घर की लज्जाशीला वधू का विरह है और राधा का एक प्रेमिका का। उर्मिला हमारे सामने एक पारिवारिक जीवन का आदर्श उपस्थित करती हैं और राधा एक आदर्श प्रेमिका का। हरिऔध की समस्त रचनाओं में राधा का चरित्र ही उच्च कोटि का है, गुप्तजी की रचनाओं में कई नारी-चरित्र महान् हैं। मानव के चरित्र में गुप्तजी की कला का हरिऔध की कला की अपेक्षा अच्छा विकास हुआ है।

कथोपकथन की दृष्टि से गुप्तजी के कथोपकथन का क्षेत्र विस्तृत और विशाल है। हरिऔध के कथोपकथन एक सीमित क्षेत्र के भीतर चलते हैं। इसलिए गुप्तजी की अपेक्षा हरिऔध को अपनी उक्तियों का, अपने उद्गारों और विचारों का सम्बन्ध करने में बाधाएँ मिली हैं। हरिऔध अपनी सीमा के भीतर सफल और स्पष्ट हैं, गुप्तजी अपने विशाल क्षेत्र में कहीं-कहीं जटिल हो गये हैं। हरिऔध में उपदेशात्मक प्रवृत्ति है, गुप्तजी में कलात्मकता; इस प्रकार दोनों अपने-अपने क्षेत्र में सफल कलाकार हैं।

चरित्र-चित्रण की भाँति गुप्तजी का प्राकृतिक वर्णन भी श्रेष्ठ है। उनकी रचनाओं में हमें प्रकृति के अनेक रूप मिलते हैं। उन्होंने प्रकृति के आलम्बन रूप के बड़े आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं; देखिए —

सखि, निरखि नदी की धारा।
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा।
सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तरता-तरता।

हरिऔध के प्रकृति-वर्णन में केवल विषाद के चित्र हैं। उनकी प्रकृति रोती अधिक है, हँसती कम है। विषय की विभिन्नता के कारण प्रकृति-चित्रण में गुप्तजी हरिऔध की अपेक्षा आगे हैं। हरिऔध के प्रकृति वर्णन पर नवीन युग की छाप नहीं है, गुप्तजी ने नवीन शैली को अपनाकर अपने प्रकृति वर्णन को और भी सजीव और रोचक बना दिया है।

काव्य-कला के क्षेत्र में हम हरिऔध को गुप्तजी से आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। हरिऔध आचार्य हैं। उनकी रचनाओं में अलंकार, रस, छन्द, भाषा आदि का अत्यन्त सुन्दर विधान हमें मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा दोनों महाकवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से आये हैं। इसके आयोजन में हरिऔध को वियोग-शृङ्गार, वात्सल्य और करुण रसों के परिपाक में प्रशंसनीय सफलता मिली है। अपने रस ग्रन्थ रस-कलश में उन्होंने सभी रसों का परिचय दिया है। भाषा वह हर तरह की लिख और बोल सकते हैं। गुप्तजी में आचार्यत्व नहीं है। उनकी भाषा में ओज माधुर्य, प्रसाद सब कुछ है, पर यह सब है खड़ीबोली में। उस पर उनका अधिकार हरिऔध की अपेक्षा अधिक है; पर वह ब्रजभाषा में नहीं लिख सकते और न बोलचाल की भाषा ही अधिकार के साथ लिख सकते हैं। गुप्तजी की भाषा साहित्यिक हिन्दी है जिसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और न उर्दू शब्दों की भरमार। हरिऔध के समान गुप्तजी का मुहावरों पर भी अधिकार नहीं है। हरिऔध और गुप्त दोनों अपनी छन्द-योजना में नवीन हैं। हरिऔध ने संस्कृत-वृत्तों का उपयोग किया है और गुप्तजी ने हिन्दी-छन्दों का। गुप्तजी गीतिकार भी हैं। उन्होंने उर्दू के छन्दों का प्रयोग नहीं किया है। इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से देखने पर हम दोनों कलाकारों को अपने-अपने क्षेत्र में भाव, भाषा और कला की दृष्टि से महान पाते हैं।

हरिऔध हिन्दी के महान् कलाकार थे। हिन्दी के ब्रजभाषा युग में

हिन्दी-साहित्य में हरिऔध का स्थान

जन्म लेकर जाति, देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का विकास किया और अपनी साहित्यिक धारणाएँ निश्चित कीं। बाबा सुमेरसिंह से काव्य-प्रेरणा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने अपनी साहित्य साधना का पथ स्वयम् निर्माण किया। वह कई भाषाएँ जानते थे। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फारसी साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन भाषाओं के अतिरिक्त वह अँग्रेजी, बंगला और गुरुमुखी भी जानते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। सरकारी कामों से छुट्टी पाने के पश्चात् उनके पास जो समय बचता था वह साहित्य-साधना में ही व्यतीत होता था। संस्कृत साहित्य का मन्थन जैसा उन्होंने किया था वैसा उनके समकालीन कवियों में नहीं देखा जाता। वह अध्यवसायी और परिश्रमी थे। आरम्भ से ही उन्होंने हिन्दी साहित्य सेवा का व्रत ले लिया था। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् तो उन्होंने अपने शेष जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दी की सेवा में अर्पण कर दिया था। काशी विश्व-विद्यालय में अवैतनिक रूप से हिन्दी की सेवा करते हुए उन्होंने ऐसे कई छात्रों को जन्म दिया जो इस समय हिन्दी का मस्तक ऊँचा कर रहे हैं।

साहित्य निर्माण के क्षेत्र में हम हरिऔध को दो रूपों में पाते हैं—गद्यकार और पद्यकार। गद्यकार की हैसियत से हरिऔध की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। वेनिस का बाँका, रिपवान-विंकिल तथा कुछ निबन्ध उनकी अनूदित रचनाएँ हैं। ठेठ हिन्दी का ठाट, अधखिला फूल, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। इन अनूदित तथा मौलिक रचनाओं में हरिऔध की गद्य-शैली परिष्कृत और अलंकृत है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि वह सरल और संस्कृत गर्भित दोनों प्रकार की भाषाएँ लिख सकते थे। उनकी आलोचनात्मक शक्ति का परिचय हमें उनकी भूमिकाओं से मिलता है। इस प्रकार गद्य में वह अपने काल के सफल लेखक थे। उनमें भावुकता की शक्ति भी थी।

पद्यकार की दृष्टि से हरिऔध ने हिन्दी को जो दान किया, वह उनके गद्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में यद्यपि यह रत्नाकर से टक्कर नहीं ले सकते तथापि उनका ब्रजभाषा-काव्य आचार्यत्व की दृष्टि से अपना एक विशेष महत्व रखता है। रीतिकालीन आचार्यों की शृङ्खला में वह आधुनिक युग की अन्तिम कड़ी थे। 'रस-कलश' उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। खड़ीबोली के क्षेत्र में वह महाकवि हैं। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य उनकी कीर्ति का स्तम्भ है। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण को आलम्बन रूप में ग्रहण करके रीतिकालीन कवियों ने उनके प्रति जो अन्याय किया था, यह महाकाव्य उनकी प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया है। इसमें राधा और कृष्ण लौकिक रूप में चित्रित किये गये हैं। कर्त्तव्यपरायणता की प्रेरणा से राधा के प्रेम को ठुकरा कर कृष्ण का मथुरा गमन और राधा का कृष्ण के वियोग में समस्त विश्व को कृष्णमय समझकर उसकी उपासना करना—यही प्रियप्रवास का मुख्य 'थीम' है। यद्यपि यह 'थीम' महाकाव्य का विषय होने की क्षमता नहीं रखता, तथापि हरिऔध ने अपनी काव्य-कला के साधनों से इस कथानक को विस्तृत रूप देकर महाकाव्य का विषय बना दिया है। 'वैदेही-वनवास' उनका दूसरा महाकाव्य है। इसमें श्रीराम ने लोकापवाद के कारण वैदेही को जो वनवास दिया था उसका करुण वर्णन है। इस काव्य में करुण रस का उतना परिपाक नहीं हुआ है जितना प्रियप्रवास में; फिर भी इसमें आर्य आदर्शों के अनुसार नारी के कर्त्तव्य के निर्वाह का पूरा ध्यान रक्खा गया है। कवित्व की दृष्टि से प्रियप्रवास ही उनका उच्चकोटि का महाकाव्य है। इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त चोखे चौपदे, चुभते चौपदे. बोलचाल आदि उनके काव्य ग्रन्थ हैं। इनकी भाषा सरल और मुहावरों से लदी हुई है। इनमें कवित्व कम और भाषा का लालित्य अधिक है। सामाजिक विषयों को लेकर उन्होंने इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। पिछले पृष्ठों में हम इन समस्त ग्रन्थों की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहेंगे कि हरिऔध प्रियप्रवास में महाकवि हैं और अन्य काव्य-ग्रन्थों में कवि। क्या मानव

प्रकृति-चित्रण और क्या बाह्य दृश्य-चित्रण; क्या भाव-पक्ष और क्या कला-पक्ष, प्रत्येक दृष्टि से प्रियप्रवास अपने ढंग का अनोखा महाकाव्य है। हरिऔध ने दार्शनिक विषयों को भी लेकर अपनी रचना का कौशल दिखाया है। 'पारिजात' उनकी ऐसी ही रचनाओं का संग्रह है। इसमें उन्होंने अपनी अवस्था के अनुकूल अंतर्जगत्, सांसारिकता, प्रलय, संयोग-वाद, वियोगवाद, सत्य का स्वरूप, परमानन्द आदि पारमार्थिक तत्वों का निरूपण किया है। कहने का तात्पर्य यह कि हरिऔध की काव्य-प्रतिमा ने अपने विकास के लिए मानव-जगत का कोना-कोना टटोला है और अपनी रुचि के अनुकूल विषय पाने पर उसे कवित्व के साँचे में ढालकर सरस और सुन्दर बनाया है।

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने काम किया है, उसी प्रकार हम भाषा के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा को संलग्न पाते हैं। व्रजभाषा, सरल हिन्दी, संस्कृत-शब्द-प्रधान हिन्दी सब ओर उनकी समान गति है। संस्कृत-छन्दों में खड़ीबोली को स्थान देने का श्रेय सर्वप्रथम उन्हीं को प्राप्त हुआ है। द्विवेदी-समुदाय की गद्यात्मक शुष्कता और कर्कशता उनकी भाषा में नहीं है। प्रियप्रवास की भाषा में मधुरता और कवित्व दोनों हैं। इस प्रकार भाव, भाषा और कला के क्षेत्र में उनके प्रयोग अपना निजी महत्व रखते हैं और प्रत्येक दृष्टि से सफल हैं। उनकी कला अछूती और शुद्ध है। हिन्दी-संसार में उनका व्यक्तित्व इतना महान् है कि वह भुलाये नहीं जा सकते।



३

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्म	मृत्यु
सं० १९२३	सं० १९८९

कविवर श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म भादों सुदी ५, सं० १९२३ को काशी में हुआ था। वह अग्रवाल-कुल-भूषण थे। उनके पूर्वज पानीपत-निवासी थे और मुगल-सम्राटों के दरबार में उच्च पदों पर काम करते थे। कालान्तर में मुगल-साम्राज्य का पतन होने पर वे लखनऊ चले आये परन्तु राज-घराने से उनका सम्बन्ध बना ही रहा। कहते हैं कि एक बार जहाँदारशाह के साथ सेठ तुलाराम काशी आये और तब से वह वहीं रहने लगे। वह रत्नाकरजी के परदादा थे। रत्नाकरजी के पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था। वह फारसी के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ फारसी तथा हिन्दी-कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनकी बड़ी मित्रता थी। वह प्रायः उनके कवि-समाज में सम्मिलित भी हुआ करते थे। इससे रत्नाकरजी को भी भारतेन्दु

जीवन-परिचय

के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। इस प्रकार बचपन से ही उनके बाल-हृदय में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, और उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही अपनी कवित्व शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि भारतेन्दुजी ने उनकी एक रचना से प्रसन्न होकर कहा—यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा। भारतेन्दु का यह आशीर्वाद विद्यार्थी जगन्नाथदास ने सत्य कर दिया।

रत्नाकरजी की शिक्षा काशी में हुई। आरम्भ में उन्हें समय की प्रगति के अनुसार फारसी भाषा का अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिन्दी भी सीखी। सन् १८९१ ई० में उन्होंने फारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एम० ए० में भी फारसी पढ़ी, परन्तु किसी कारण से वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा न दे सके। एक धनिक परिवार में जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन में सैकड़ों बाधाएँ आ सकती थीं, पर बिना विक्षेप बी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना उनके लिए एक असाधारण घटना थी। इसे हम उनके अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल ही कह सकते हैं।

विद्यार्थी-जीवन के समाप्त करने के पश्चात् सन् १९०० ई० के लगभग रत्नाकरजी ने अवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी की। वहाँ का जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न था। ऐसी दशा में उन्होंने वहाँ से पद त्याग दिया और काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर रहने के पश्चात् उन्होंने अयोध्या-नरेश के यहाँ नौकरी करली और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। सन् १९०६ ई० में अयोध्या-नरेश के स्वर्गवास के पश्चात् अयोध्या की महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अन्त तक वह इसी पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक काम करते रहे। आषाढ़ सौर ७ सं० १९८९ को हरद्वार में उनका शरीरान्त हुआ।

रत्नाकरजी बड़े हँसमुख और विनोद-प्रिय व्यक्ति थे। उनके साथ वार्तालाप करने में वास्तविक आनन्द प्राप्त होता था। उनका स्वभाव बड़ा कोमल और मधुर था। वह अँगरेज़ी के ग्रेजुएट थे; परन्तु अँगरेज़ी-सभ्यता का उन पर लेशमात्र भी प्रभाव न था।

रत्नाकर का व्यक्तित्व

उनकी रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों की-सी थी। उनकी मित्र-मण्डली भी बहुत बड़ी थी। अपनी मित्र-मण्डली में जब वह कविता पाठ करते थे, तब उनकी मुद्रा देखने योग्य हो जाती थी। वह बड़े भावुक थे और उनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। काव्य-प्रेमी होने के कारण अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह 'ज़की' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे। धीरे-धीरे उनकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी। इस प्रकार उर्दू के 'ज़की' हिन्दी में 'रत्नाकर' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए। 'सरस्वती' के प्रथम प्रकाशन के अवसर पर सम्पादकों में उनका नाम आया था। वह कई कवि-सम्मेलनों के सभापति भी हो चुके थे। संवत् १९८७ में वह कलकत्ता हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी हुए थे। वह हिन्दी के वैष्णव कवि थे और प्राचीन हिन्दी की काव्य धारा में रचना करते थे। उनकी प्रकृति भी इसी साँचे में ढली थी। उनकी विशेषता लीक पर ही चलने की थी। वह 'मैथ्यू आर्नल्ड' की भाँति, हिन्दी के अन्तिम 'क्लासिकल' कवि थे। उन्होंने हमें पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलायी और हमारे विस्मृत स्वर का संधान किया। यद्यपि वह अपने काव्य में जीवन की कोई मौलिकता और नवीनता लेकर नहीं आये तथापि उनका उक्ति-कौशल, उनकी अलंकार योजना, उनकी भाषा की कारीगरी और छन्दों की सुघरता हिन्दी को उनकी विशिष्ट देन है।

हिन्दी में प्रवेश करने पर रत्नाकरजी ने कई मौलिक ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, घनाक्षरी नियम रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृङ्गार लहरी, गंगा विष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कल काशी तथा उद्धव शतक नामक काव्य ग्रन्थ लिखे। उनकी सबसे पहली कविता पुस्तक 'हिंडोला' है।

रत्नाकर की रचनाएँ

यह संवत् १९५१ में प्रकाशित हुई थी। यह प्रबन्ध काव्य है। समालोचनादर्श इसके बाद की रचना है। 'हरिश्चन्द्र' उनकी तीसरी रचना है। यह भी खण्ड काव्य है। 'कल काशी' उनकी अपूर्ण रचना है। इसके

बाद 'उद्धव-शतक' का स्थान है। इसकी पहली पाण्डु-लिपि चोरी हो जाने से दूसरी बार इसकी रचना हुई है। इसमें कुछ पहले की स्मृति से लिखी रचनाएँ हैं और कुछ पुनः रचित। गंगावतरण महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। कुछ जब अधूरा ही था तब महारानी ने इनकी रचना से प्रसन्न होकर उन्हें १०००) पुरस्कार दिया। उन्होंने यह पुरस्कार स्वयं न लेकर नागरी-प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। इस काव्य-ग्रन्थ पर उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी से भी ५००) का पुरस्कार मिला।

रत्नाकरजी ने कुछ फुटकर कविताएँ भी की हैं। उन्होंने चन्द्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हित-तरंगिणी और दूलह के कंठाभरण का भी सम्पादन किया था। उन्होंने अँगरेजी-कवि पोप के समालोचना सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य Essay on Criticism का रोला छन्दों में अनुवाद किया। कई वर्षों तक वह अपने सहयोगियों के साथ 'साहित्य-सुधानिधि' नाम का मासिक पत्र भी निकालते रहे। इस पत्र में उनके कुछ काव्य तथा दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे, जिन्हें डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी 'लाल-चन्द्रिका' में उद्धृत किया। उन्होंने बिहारी-रत्नाकर नामक बिहारी सतसई की एक ललित टीका भी लिखी है जिसका हिन्दी-संसार में बड़ा आदर है। अपने अन्तिम जीवन में उन्होंने सूर-सागर के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन की ओर भी ध्यान दिया और बड़े परिश्रम से उसका कार्य किया; परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से यह कार्य अधूरा ही रह गया। उनकी समस्त रचनाओं का एक संग्रह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'रत्नाकर' के नाम से प्रकाशित किया है। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह केवल कवि ही नहीं भाष्यकार, भाषा-तत्त्वविद् और पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। प्राकृत का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

रत्नाकर गद्य-लेखक भी थे। उन्होंने कई ऐसे लेख लिखे थे जिनके कारण उस समय हिन्दी-संसार में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। उनके लेख बड़े गवेषणापूर्ण, भावपूर्ण और रचनात्मक होते थे।

रत्नाकर की रचनाओं से स्पष्ट है कि वह अपने समय के व्रजभाषा के कवि थे। उनकी काव्य-धारा रीतिकालीन काव्य-धारा से अत्यधिक प्रभावित

रत्नाकर पर प्रभाव

थी। द्विवेदी-युग में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपने काव्य-पथ का स्वयं निर्माण किया और अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से उसका शृङ्गार किया। हम अन्यत्र यह बता चुके हैं कि द्विवेदी-युग खड़ीबोली के परिमार्जन, परिवर्धन और विकास का युग था। उस समय साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन चेतना, नवीन भाव-धारा और नवीन प्रयोगों का समावेश हो रहा था। रीतिकालीन-काव्य-भाषा—व्रजभाषा—के स्थान पर खड़ीबोली काव्य-भाषा के उपयुक्त बनायी जा रही थी और उसका रूप-रंग सँवारा जा रहा था। ऐसे समय में 'रत्नाकर' ने व्रजभाषा का ही दामन पकड़ा। वह उस नवीन चेतना-सम्पन्नयुग में भी व्रजभाषा को ही काव्य भाषा के उपयुक्त समझते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह नयी धारा को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। नवीन-युग की नवीन आवश्यकताओं, नवीन उमंगों और नवीन दृष्टिकोणों से वह भली भाँति परिचित थे, पर इतना होते हुए भी उनके हृदय में व्रजभाषा के प्रति इतना आग्रह, इतना मोह और इतनी लालसा थी कि वह उसका संवरण नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन काव्य-ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन का भी उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ा था। वह उसकी त्रुटियों, अभावों और दोषों से भी परिचित थे। वह यह समझते थे कि जिन दोषों के कारण व्रजभाषा अपनी लोकप्रियता खो रही है उनका परिष्कार एवं परिमार्जन आवश्यक है। इसलिए उस नवीन चेतनासम्पन्न युग में भी उन्होंने उसका पल्ला नहीं छोड़ा; अपनी स्वतंत्र बुद्धि से उसी का परिमार्जन और संस्कार करते रहे। वह फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। उर्दू कविता की प्रवाहमयी भाषा से भी परिचित थे। अँग्रेजी-कवियों की विचारधारा से भी उनका सम्पर्क स्थापित हो गया था। द्विवेदी-युग की नवीन दिशाओं से भी वह प्रभावित थे। ऐसी दशा में 'रत्नाकर' को व्रजभाषा के संस्कार का अच्छा अवसर मिला और उन्होंने उसे पुनः लोकप्रिय बनाने की भरपूर चेष्टा की। फारसी, उर्दू, संस्कृत और अँग्रेजी, जिस साहित्य से उन्हें जो मिला उसे उन्होंने व्रजभाषा के परिमार्जन एवं शृङ्गार में ही लगा दिया। इस प्रकार द्विवेदी-

युग में रह कर भी उन्होंने द्विवेदी युग के प्रभावों से अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता पर आँच आने का अवसर नहीं दिया।

रत्नाकर रीतिकालीन परम्परा के अन्तिम कवि थे। अपने विद्यार्थी जीवन से ही वह फारसी तथा उर्दू कवियों के प्रभाव में आ गये थे। कवि-गोष्ठियों में भाग लेने के कारण उनमें कविता करने की अभिरुचि का स्वाभाविक विकास हुआ था। भारतेन्दु के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और उनकी काव्य-प्रतिभा से भी वह प्रभावित थे। विद्यार्थी जीवन की यह ललक और लालसा उच्च शिक्षा का आधार पाकर और भी विकसित हुई। अँग्रेजी साहित्य से ज्यों-ज्यों उनका सम्पर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों नयी-नयी विचार-धाराएँ उनके उर्वर मस्तिष्क को आन्दोलित करती रहीं। इस प्रकार के मानसिक संघर्षों को प्राचीन हिन्दी काव्य-साहित्य के अध्ययन से बहुत बल मिला। रत्नाकर अपने समय के उच्च शिक्षा प्राप्त साहित्यकार थे। वह जो कुछ कहते अथवा लिखते थे उसकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट हो जाता था। इसलिये वह स्वयं अपने कथन में सावधान रहते थे। ब्रजभाषा का संस्कार उन्होंने जितनी सावधानी, जितनी सोच-समझ से किया वह उनके गम्भीर चिन्तन का परिणाम है।

रत्नाकर रीतिकालीन कवियों की परम्परा में पद्माकर से अधिक प्रभावित थे। वही छन्द-प्रियता, वही रस-प्रियता, वही अलंकार-प्रियता और वही भाषा का श्रृङ्गार जो पद्माकर में था, रत्नाकर ने अपनी सहज बुद्धि और संकलन-शक्ति से अपनी प्रतिभा का संबल बनाया और काव्य-क्षेत्र में अपनी नूतनता का परिचय दिया।

इस प्रकार वह नवीन-युग में जन्म लेकर भी प्राचीन और प्राचीन होकर भी चिर नवीन हैं। वस्तुतः उन्होंने अपनी योग्यता, अपनी प्रतिभा और अपनी कार्यकुशलता से नयी बोतलों में साहित्य की पुरानी मदिरा भर कर उसे नया रूप-रंग प्रदान किया है।

रत्नाकर का काव्य-विषय शुद्ध पौराणिक है। उन्होंने सूर आदि भक्त-कवियों की भाँति पौराणिक कथाओं को ही अपनाया है। उद्धव-शतक, गंगावतरण, हरिश्चन्द्र आदि उनकी रचनाएँ हमारे

सामने प्राचीन युग का उच्च आदर्श ही उपस्थित करती हैं। भक्त-कवियों ने जहाँ इन कथाओं में अपनी भावुकता का मिश्रण करके अपने सरस हृदय का परिचय दिया है, वहाँ रत्नाकर ने उनमें भावों की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण करके उन्हें ओजपूर्ण बना दिया है। इस प्रकार रत्नाकर हमारे सामने एक कलाकार के रूप में ही आते हैं। भक्त कवियों में रस की धारा बहती है, रत्नाकर में सूक्तियाँ मिलती हैं; वस्तुतः उन्होंने भक्ति-कालीन भावनाओं को रीतिकालीन आलंकारिकता के साथ अभिव्यंजित किया है। उनकी रचनाओं में धार्मिक भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना भी मिलती है।

रत्नाकर की काव्य-साधना

रत्नाकर की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। उनके प्रबन्ध काव्य में हरिश्चन्द्र, गङ्गावतरण तथा उद्धव-शतक की गणना की जाती है। हरिश्चन्द्र में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है। गङ्गावतरण में सगर सुतों के पाताल-प्रवेश और गङ्गा के स्वर्ग से आगमन की कथा है, उद्धव-शतक में गोपियों का उद्धव से संवाद है। यही शतक रत्नाकर की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें उनके भावों की मौलिकता तथा उक्तियों की नवीनता का अपूर्व आनन्द मिलता है। यह उनका कृष्ण-काव्य है। इन समस्त प्रबन्ध-काव्यों में रत्नाकर ने व्रजभाषा के प्राचीन कवियों की अपेक्षा अपनी भावुकता से अधिक काम लिया है। घटना और पात्रों का निर्वाह करने की चिन्ता में व्रजभाषा के प्राचीन कवियों ने प्रबन्ध-काव्य के भीतर जिन विषयों का समावेश नहीं कर पाया, उन विषयों की ओर रत्नाकर ने ध्यान देकर एक बहुत बड़ी कमी को पूरा कर दिया है।

रत्नाकर ने मुक्तक काव्य की भी रचना की है। उन्होंने फुटकर पदों में ऋतु-सम्बन्धी अष्टक लिखे हैं जो व्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन की तुलना में आगे बढ़े हुए हैं। इनमें उनका कलाविद् रूप अधिक स्पष्ट है। उन्होंने समस्यापूर्ति भी की है; परन्तु उनके ऐसे पदों में उच्च कोटि का सङ्गीत नहीं है। उनसे मन को उत्तेजना मिल सकती है, मन में टीस उत्पन्न नहीं हो सकती।

भावना के क्षेत्र में रत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भाव लोक के कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने भावों का चित्रण एक फोटोग्राफर की भाँति किया है। इतना ही नहीं, भावनाओं के चित्रण के साथ ही उन्होंने मानवीय व्यापारों की—क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की बाह्य चेष्टाओं की—अत्यन्त सुन्दर सजीव और आकर्षक तसवीरें उतारी हैं। इसका कारण है उनकी निरीक्षण-शक्ति। वह किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नहीं खींचते। वह दृश्यों के चित्राङ्कन में अपनी निरीक्षण-शक्ति से काम लेते हैं। इसलिए उनकी शैली इतनी सजीव है, उनकी कला इतनी जागरूक है।

रत्नाकर केवल मानवीय व्यापारों के ही चितेरे नहीं हैं, वह पशु जगत् के व्यापारों से भी परिचित हैं। उनका उन्होंने स्वयं निरीक्षण किया है। यही कारण है कि मानवीय व्यापारों के चित्राङ्कन के समान ही उन्हें पशु-जगत् के व्यापारों के चित्रण में भी पूरी सफलता मिली है। रत्नाकर की दृष्टि रीति-कालीन कवियों की अपेक्षा बहुत पैनी है। वह रीति-कालीन कवियों की भाँति किसी परिपाटी का आँख मूद कर अनुकरण नहीं करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने में वह उन समस्त उपकरणों से काम लेते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है। उनके प्रकृति के चित्रों में भी हम उनकी इसी मनोदशा का परिचय पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रत्नाकर बाह्य तथा अन्तर दोनों जगत् के चित्राङ्कन में कुशल हैं। वह स्वयं काव्य-मंच से दूर हटकर खड़े हो जाते हैं और उन पुरुषों, स्त्रियों तथा प्राकृतिक दृश्यों को सारी गोचर विशेषताओं के साथ हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जिनके भावों की व्यञ्जना अपेक्षित है। उनके इस प्रकार के चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से उनका हृदय भी स्पष्ट झलकने लगता है।

रत्नाकर की काव्य-कला की एक विशेषता और है और वह है उनकी तन्मयता। कवि भाव-लोक का उन्मुक्त गायक होता है। जिन परिस्थितियों से, जिन भावों से, उसे काव्य-प्रेरणा मिलती है, उनमें जितना ही अधिक वह तन्मय हो जाता है, उतना ही मधुर काव्य वह प्रस्तुत करता है। वह

अपने भाव में स्वयं तन्मय होकर, स्वयं डूबकर, स्वयं निमग्न होकर, दूसरों को भी अपने उन्हीं भावों से तन्मय कर देता है। रत्नाकर के काव्य में अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा तन्मयता अधिक है। उनमें स्वयं तन्मय होने और दूसरों को तन्मय करने की आश्चर्यजनक क्षमता है।

रत्नाकर की काव्य-कला में स्वाभाविक सौन्दर्य है। उन्होंने लक्षणा और व्यंजना शब्द की इन दो महान् शक्तियों के बल पर भाव और भाषा का बड़ा ही चतुरतापूर्वक समन्वय किया है। इससे उनकी रचना में स्वाभाविक निखार और नई जवानी का-सा सौंदर्य आ गया है। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को कलात्मक अलंकारों से इस प्रकार सजाया है, सहज और स्वाभाविक कल्पना के सुमनों से उसे इस प्रकार आभूषित किया है, शुद्ध भाव-रत्नों से उसे इस प्रकार अलंकृत किया है कि उसके सामने रीति-काल के बड़े-बड़े कवियों की शृङ्गार से लदी कोमल काव्य-कामिनियों की चमक-दमक निष्प्राण हो जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि रत्नाकर में जहाँ ग्रहण-शक्ति है वहाँ उनमें चयन शक्ति भी है। अपनी इस चयन-शक्ति के कारण वह यह शीघ्र जान जाते हैं कि उनकी काव्य-कला के लिए क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक उपकरण है। वह अनावश्यक का बहिष्कार करके आवश्यक उपकरणों से अपनी काव्य-कला को उन्नत रूप देते हैं। चयन भाषा का भी होता है और भावों का भी। रत्नाकर दोनों प्रकार की चयन-शक्ति रखते हैं। उनकी शब्द और भाव-योजना में साम्य है। उन्हें अपने भावों के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भावों के साथ शब्द भी आ जाते हैं, आत्मा के साथ उसका सुन्दर शरीर भी आ जाता है।

रत्नाकर काव्य-कला के पंडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावों पर तो उनका इतना प्रबल अधिकार है कि वह उनके प्रवाह में आकर वर्ण्य विषय से कभी नहीं भटकते। वह भावों के केन्द्रियकरण के आचार्य हैं। उनकी विचार-धारा संयम की सीमा के भीतर बहती है, इसलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं।

रत्नाकर की कल्पनाएँ भी बड़ी मधुर, आकर्षक और चुटीली होती

भावना के क्षेत्र में रत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भाव लोक के कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने भावों का चित्रण एक फोटोग्राफर की भाँति किया है। इतना ही नहीं, भावनाओं के चित्रण के साथ ही उन्होंने मानवीय व्यापारों की—क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की बाह्य चेष्टाओं को—अत्यन्त सुन्दर सजीव और आकर्षक तसवीरें उतारी हैं। इसका कारण है उनकी निरीक्षण-शक्ति। वह किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नहीं खींचते। वह दृश्यों के चित्राङ्कन में अपनी निरीक्षण-शक्ति से काम लेते हैं। इसलिए उनकी शैली इतनी सजीव है, उनकी कला इतनी जागरूक है।

रत्नाकर केवल मानवीय व्यापारों के ही चितेरे नहीं हैं, वह पशु जगत् के व्यापारों से भी परिचित हैं। उनका उन्होंने स्वयं निरीक्षण किया है। यही कारण है कि मानवीय व्यापारों के चित्राङ्कन के समान ही उन्हें पशु-जगत् के व्यापारों के चित्रण में भी पूरी सफलता मिली है। रत्नाकर की दृष्टि रीति-कालीन कवियों की अपेक्षा बहुत पैनी है। वह रीति-कालीन कवियों की भाँति किसी परिपाटी का आँख मूद कर अनुकरण नहीं करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने में वह उन समस्त उपकरणों से काम लेते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है। उनके प्रकृति के चित्रों में भी हम उनकी इसी मनोदशा का परिचय पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रत्नाकर बाह्य तथा अन्तर दोनों जगत् के चित्राङ्कन में कुशल हैं। वह स्वयं काव्य-मंच से दूर हटकर खड़े हो जाते हैं और उन पुरुषों, स्त्रियों तथा प्राकृतिक दृश्यों को सारी गोचर विशेषताओं के साथ हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जिनके भावों की व्यञ्जना अपेक्षित है। उनके इस प्रकार के चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से उनका हृदय भी स्पष्ट झलकने लगता है।

रत्नाकर की काव्य-कला की एक विशेषता और है और वह है उनकी तन्मयता। कवि भाव-लोक का उन्मुक्त गायक होता है। जिन परिस्थितियों से, जिन भावों से, उसे काव्य-प्रेरणा मिलती है, उनमें जितना ही अधिक वह तन्मय हो जाता है, उतना ही मधुर काव्य वह प्रस्तुत करता है। वह

अपने भाव में स्वयं तन्मय होकर, स्वयं डूबकर, स्वयं निमग्न होकर, दूसरों को भी अपने उन्हीं भावों से तन्मय कर देता है। रत्नाकर के काव्य में अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा तन्मयता अधिक है। उनमें स्वयं तन्मय होने और दूसरों को तन्मय करने की आश्चर्यजनक क्षमता है।

रत्नाकर की काव्य-कला में स्वाभाविक सौन्दर्य है। उन्होंने लक्षणा और व्यंजना शब्द की इन दो महान् शक्तियों के बल पर भाव और भाषा का बड़ा ही चतुरतापूर्वक समन्वय किया है। इससे उनकी रचना में स्वाभाविक निखार और नई जवानी का-सा सौंदर्य आ गया है। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को कलात्मक अलंकारों से इस प्रकार सजाया है, सहज और स्वाभाविक कल्पना के सुमनों से उसे इस प्रकार आभूषित किया है, शुद्ध भाव-रत्नों से उसे इस प्रकार अलंकृत किया है कि उसके सामने रीति-काल के बड़े-बड़े कवियों की शृङ्गार से लदी कोमल काव्य-कामिनियों की चमक-दमक निष्प्राण हो जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि रत्नाकर में जहाँ ग्रहण-शक्ति है वहाँ उनमें चयन शक्ति भी है। अपनी इस चयन-शक्ति के कारण वह यह शीघ्र जान जाते हैं कि उनकी काव्य-कला के लिए क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक उपकरण है। वह अनावश्यक का बहिष्कार करके आवश्यक उपकरणों से अपनी काव्य-कला को उन्नत रूप देते हैं। चयन भाषा का भी होता है और भावों का भी। रत्नाकर दोनों प्रकार की चयन-शक्ति रखते हैं। उनकी शब्द और भाव-योजना में साम्य है। उन्हें अपने भावों के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भावों के साथ शब्द भी आ जाते हैं, आत्मा के साथ उसका सुन्दर शरीर भी आ जाता है।

रत्नाकर काव्य-कला के पंडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावों पर तो उनका इतना प्रबल अधिकार है कि वह उनके प्रवाह में आकर वर्ण्य विषय से कभी नहीं भटकते। वह भावों के केन्द्रियकरण के आचार्य हैं। उनकी विचार-धारा संयम की सीमा के भीतर बहती है, इसलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं।

रत्नाकर की कल्पनाएँ भी बड़ी मधुर, आकर्षक और चुटीली होती

हैं। काव्यगत कल्पनाओं में कवि को लोक-सीमा से बहुत दूर तक इधर-उधर उड़ने और विहार करने का अधिकार होता है, परन्तु जो कवि इस अधिकार का अनुचित लाभ उठाते हैं, जो अपनी रचनाओं में दूर की कौड़ी लाने के लिए लोक-प्राप्त व्यापारों का उल्लंघन कर स्वच्छन्द विचरण करने लगते हैं, और काव्य-जगत में बे-पर की उड़ान भरते हैं, उनकी कल्पनाएँ रोचक होने पर भी काव्योपयोगी नहीं रह जातीं। इसलिए कवि प्रायः लोक-प्राप्त गोचर आधार के सहारे ही अपनी कल्पनाओं का भाव प्रासाद खड़ा करते हैं। रत्नाकर की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार से उनकी रचनाओं में आयी हैं। उनकी कल्पनाओं से उसकी रचनाओं को बल मिला है, उनकी अनुभूतियों का सौंदर्य प्राप्त हुआ है। रत्नाकर अपनी कल्पना के सहारे अपने भावों को तीव्रतर बनाकर पाठक के हृदय में उतरने की क्षमता रखते हैं। वह भाव-भूमि तक पाठकों को पहुँचाकर स्वयं कल्पना करने का उन्हें अवसर भी देते हैं। वह भावना की सीमा नहीं बाँधते; वह स्वयं भावुक हैं और अपने साथ अपने पाठक को भी भावुक बनाते हैं।

रत्नाकर का बाह्य दृश्य चित्रण

रत्नाकर की काव्य-साधना पर विचार करते समय हम यह कह आये हैं कि उनमें बाह्य दृश्य-चित्रण की अद्भुत क्षमता है। काव्य-परिशीलन में हम इसे 'विभाव चित्रण' कहते हैं। रत्नाकर ने आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों विभावों के चित्र उतारे हैं। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत उन्होंने रूप और कार्य कलापों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। रूप के चित्रण में उन्होंने दो उक्तियों से काम लिया है--

(१) अपनी पहली उक्ति के अनुसार रत्नाकर ने आलम्बन का चित्र प्रस्तुत करने में ऐसी सभी रेखाएँ स्पष्ट रूप से अंकित की हैं जो चित्र की पूर्णता के लिए अपेक्षित हैं। इन चित्रों से उनकी अन्तर्दृष्टि, निरीक्षण शक्ति तथा संकलन शक्ति का स्पष्ट रूप से आभास मिल जाता है। सुदामा का चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

जै जै महाराज द्विजराज द्विजराज एक,
सुहृद सुदामा राज-द्वार आज आये हैं।

कहै रतनाकर प्रकट ही दरिद्र-रूप,
फटह्यो लंगोटी बाँधि बाँध सौं लगाए हैं।
छीनता की छाप दीनता की छाप धारे देह,
लाठी के सहारे काठी नीठि ठहराए हैं।
संकुचित कंध पै अधौटी-सी कधौटी किए,
तापर सछिद्र छोटो लोटो लटकाए हैं॥

सुदामा का दीनतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए रत्नाकर की संकलन बुद्धि ने केवल उन्हीं उपकरणों से काम लिया है, जो दीनता-सूचक हो सकते हैं। आलम्बन विभाव के ऐसे सम्पूर्ण सुन्दर चित्र उनके काव्य में भरे पड़े हैं।

(२) अपनी दूसरी उक्ति के अनुसार रत्नाकर ने चित्र प्रस्तुत करने में आलम्बन की पूरी रेखाएँ स्पष्ट न करके केवल ऐसी सार्थक रेखाओं का प्रत्यक्षीकरण किया है जिनसे सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में सहायता मिलती है। अपने ऐसे चित्रों में वह पाठक की कल्पना के लिये बहुत कुछ सामग्री छोड़ देते हैं। इसका एक कारण है और वह यह कि उनके ऐसे चित्र बाह्य दृश्यों तथा क्रीड़ाओं की स्पष्ट रेखाओं से ही चित्रित नहीं रहते हैं, अपितु वह भाव-लहरियों से भी स्पंदित रहते हैं। महारानी शैव्या का यह चित्र लीजिए—

रूप-सील, गुन-खानि सुघर सब ही विधि सोहति।
लाजिन बोलति मन्द, नैंकु सौंहैं नहि जोहति॥

इन पंक्तियों में थोड़े से शब्दों की सहायता से रत्नाकर ने कुल-बधू का जो रूप-चित्रण किया है उसे पहचानने में किसी को देर नहीं लगती।

आलम्बन विभाव के अन्तर्गत रूप चित्रण ही नहीं, कार्य-कलापों का संश्लिष्ट चित्रण भी रत्नाकर ने किया है। भाव-व्यंजना में ऐसे चित्रों से बड़ी सहायता मिलती है। आत्महत्या के लिए उद्यत होने वाले हरिश्चन्द्र के कार्य-कलापों का सजीव चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

यह विचार दृढ़ करि पीपर के पास पधारे,
लीन्हीं डोरी खोलि, द्वै क घंटनि करि न्यारे।

पोषित। इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त उन्होंने प्रभात, संध्या आदि का भी मनोमोहक वर्णन किया है। उनका भिन्न-भिन्न रंगों का निरीक्षण भी सूक्ष्म है। उनके कुछ प्रकृति-चित्रण अलंकार शैली के अन्तर्गत भी हुए हैं, पर अलंकारों की योजना से उनकी शोभा नष्ट नहीं हुई है। सारांश यह कि रत्नाकर अपने प्रकृति-चित्रण में अत्यन्त सफल हैं।

अलंकार के विधान में भी रत्नाकर रीतिकाल के किसी कवि से पीछे नहीं हैं। रीतिकाल में कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने अलंकारों की छटा दिखाने के लिए भावों का हनन किया है। रत्नाकर की रचना में यह बात नहीं है। उनकी रचना अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने कहीं भी भावों की कमी को अलंकारों की स्वाभाविक योजना से पूरा करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी कृतियों में शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों को उचित स्थान मिला है। उनके अलंकारों ने भावों को रमणीयता प्रदान की है, विभावों का चित्रण किया है और रस की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की है। उनका अलंकार-विधान भावों के स्पष्टीकरण के लिए साधन-मात्र है और इस साधन को सफल बनाने में उन्होंने शब्द-योजना तथा मुहावरों से पूरा काम लिया है। उनकी रचना में अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, अपह्नुति, उल्लेख, असंगति, अतिशयोक्ति, व्याजस्तुति आदि का आयोजन स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इन सब अलंकारों में सांगरूपक रत्नाकर का प्रिय अलंकार है। इसका आयोजन उन्होंने अपनी रचनाओं में बहुत किया है। सम्भवतः जितने अधिक सांगरूपक उन्होंने लिखे हैं, उतने किसी अन्य हिन्दी कवि ने नहीं लिखे।

रत्नाकर की अलंकार-योजना

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों का बड़ी सफलतापूर्वक समावेश किया है, पर शृङ्गार-रस को उन्होंने प्रथम स्थान दिया है। ऐसा करने में उन्होंने मुक्तक शृङ्गारी रचनाओं की परम्परा का अनुसरण किया है। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में उन्हें पुरानी शैली के कवि-समाजों में बैठने और उनका

रत्नाकर की रस-योजना

सत्सङ्ग करने का अवसर मिला था। उन समाजों में दी गयी अनेक समस्याओं की पूर्तियाँ उन्होंने भी की थीं। उनके समय में ब्रजभाषा में दो प्रकार की शृङ्गारी रचनाएँ होती थीं। एक प्रकार की शृङ्गारी रचना तो वह थी जिसमें रूढ़ि के अनुसार नायिका-भेद की परिपाटी का अनुसरण होता था, और दूसरे प्रकार की शृङ्गारी रचना वह थी जो अनुभूतिपोषित होती थी। रत्नाकर ने दोनों प्रकार की शृङ्गारी रचनाएँ की हैं। उनकी शृङ्गारी रचनाओं में जहाँ कृष्ण नायक के रूप में राधा अथवा किसी गोप-कन्या से प्रेम-चर्चा करते हैं, वहाँ उन्होंने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है; परन्तु जहाँ उन्होंने कृष्ण और राधा को उनके अलौकिक रूप में देखा है, वहाँ उन्होंने दूसरी परिपाटी का सहारा लिया है। यही कारण है कि उनकी शृङ्गारलहरी के कृष्ण उद्धवशतक के कृष्ण से भिन्न हैं। शृङ्गारलहरी में कृष्ण का लौकिक रूप है। इस रूप के चित्रण में रत्नाकर की भावुकता बन्धन-मुक्त हो गयी है। एक बानगी लीजिए। राधा दो-एक दिनों से यशोदा के यहाँ जाती है और वहाँ ही रह जाती है। कृष्ण अपने खिलौने के चोरी जाने के सन्देह से सतर्क रहते हैं; परन्तु खिलौने के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की चोरी हो जाती है—

आवनि लगी है दिन द्वैक तैं हमारे धाम,
रहै बिन काम जाम जाम अरुझाई है।
कहै रत्नाकर खिलौननि सम्हारि राखि,
बार-बार जननी चितावत कन्हाई है।
देखी-सुनी ग्वारिन कितेक ब्रज बारिन पै,
राधा-सी न और अभिहारिन लखाई है।
हेरत ही हेरत हर्‌यौ है हमारौ कछू,
काहु धौं हिरानौ पै न परत जनाई है॥

इन पंक्तियों में रत्नाकर की कल्पना कितनी सुन्दर, सजीव, आकर्षक और स्वाभाविक है, इसे काव्य-प्रेमी ही समझ सकते हैं।

शृङ्गार की भाँति ही उन्होंने वीर रस को भी स्थान दिया है। वीर

रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसका चित्रण युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर में होता है। रत्नाकर ने चारों प्रकार के वीरों का अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक चित्रण किया है। युद्धवीर का एक उदाहरण लीजिये—

दुर्ग तैं तड़पि तड़िता-सी तड़कैं ही कड़ी,
कड़कि न पाये कड़खाहुँ अबै मुरगा।
कहै रतनाकर चलावन लगी यौं बान,
मानौ कर फैले फुफकारी भरि उरगा।
आसा छाँड़ि प्रान की, अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
देवी दुरगावति मलेच्छ-दल गेरे देति,
मनौ दैत्य-दलनि दरेरे देति दुरगा॥

इन दोनों रसों के अतिरिक्त रौद्र, भयानक, करुण, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, हास्य तथा वात्सल्य रसों के भी उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं। 'हरिश्चन्द्र' खण्ड-काव्य में प्रायः सभी रसों को स्थान मिला है।

रत्नाकर ने अपनी समस्त रचनाओं में अधिकांश दो ही छन्दों का विधान किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों की भाँति कवित्त को अपनाया है और उस पर उनका अधिकार है। उनके कवित्त बेजोड़ होते हैं। कवित्त-योजना में उनकी काव्य-कला का प्रसार और प्रदर्शन प्रशंसनीय हुआ है। उनकी अधिकांश भावना भक्तों से ली हुई है, पर भक्तों में उस तरह की कविता-रीति नहीं थी। वे केवल भजनानन्दी थे। उनके पश्चात् के रीति-कवियों में अनुभूति की कमी थी और भाषा-शृङ्गार अधिक। इस कवि-परम्परा में पद्माकर अन्यतम थे। रत्नाकर इस विषय में अपने को पद्माकर से प्रभावित मानते थे।

रत्नाकर की छन्द-योजना

रत्नाकर ने कुछ सवैये भी लिखे हैं। रोला छन्द उनका नवीन प्रयास है। इस छन्द में बहुत कम कवियों ने लिखा है। इन छन्दों के चुनाव में रत्नाकर ने अपने काव्य-विषय के महत्त्व को सामने रक्खा है। उनके छन्द

भाव, भाषा और विषय के अनुकूल हैं। उद्धवशतक के लिए कवित्त और हरिश्चन्द्र के लिए रोला छन्द ही उपयुक्त हो सकता था।

रत्नाकर की भाषा और शैली

रत्नाकर के काव्य-ग्रन्थों की भाषा ब्रजभाषा है। वह ब्रजभाषा प्रेमी थे। जिस समय उन्होंने हिन्दी के पुनीत प्राङ्गण में प्रवेश किया, उस समय काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। उसी के प्राचीन साहित्य से वह प्रभावित हुए थे और उसी के माधुर्य पर वह मुग्ध थे। अतएव उन्होंने उसी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया परन्तु उन्होंने उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनके सामने ब्रजभाषा का जो स्वरूप था उसे वह अपनी अभिव्यक्ति के लिये अपर्याप्त समझते थे। रीति-काल के पिछले कवियों की मनमानी नीति ने उसका स्वरूप इतना विकृत कर दिया था कि वह निर्जीव-सी, अप्रतिभ-सी, होती जा रही थी और उसके स्थान पर खड़ीबोली अपना सर उठा रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि द्विजदेव तथा भारतेन्दु ने उसका संस्कार कर दिया था, परन्तु उतने से उन्हें सन्तोष नहीं था। वह खड़ीबोली के सामने ब्रजभाषा के माधुर्य को, उसकी कोमलता और उसकी सरसता को, एक बार फिर लाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अन्य भाषाओं के अध्ययन से उसे पुनः नवजीवन प्रदान किया। वह अँग्रेजी, फारसी तथा उर्दू के विद्वान थे। उन्होंने उन भाषाओं की साहित्यिक भाषा का रहस्य समझा था। इसलिये उन्होंने ब्रजभाषा के संस्कार में उन समस्त विधियों से काम लिया जिनके कारण उसे खोई लोकप्रियता पुनः प्राप्त हो सके। ऐसा करने में उन्होंने भाषा की स्वतन्त्र प्रकृति का पूरा ध्यान रक्खा। उन्होंने भूले हुए मुहावरों को अपनाया, लोकोक्तियों को स्थान दिया और बोल-चाल के शब्दों से भाषा को सुसज्जित किया। उन्होंने ब्रजभाषा में से बहुत से ऐसे शब्दों और उनके प्रयोगों को हटा दिया जो बहुत घिसकर साधारण जनता के प्रयोगों से दूर हो चुके थे और केवल परम्परा के पालनार्थ ही रक्खे जाते थे। साथ ही ऐसे शब्दों तथा वाक्यांशों को भी उन्होंने छोड़ दिया जो प्रयोग-बाहुल्य से न तो श्रुति-सुखद थे और न अपनी भाव-व्यंजकता ही प्रकट करते थे। इसका फल यह हुआ कि उनके कलापूर्ण

हाथों में पड़कर भाषा का स्वरूप निखर आया। उसमें नवीन आकर्षण तथा नवीन जीवन प्रतीत होने लगा।

रत्नाकर भाषा के जौहरी थे। वह शब्द-रत्न का मूल्य आँकने में अपने समय के आचार्य थे। इसलिए उनकी रचनाओं में उनकी शब्द-योजना निर्दोष है। उन्होंने भावों तथा परिस्थितियों के अनुकूल ऐसे सुन्दर शब्दों का चयन किया है और उन्हें अपनी रचनाओं में ऐसे कलापूर्ण ढंग से सजाया और सँवारा है कि उनके आन्तरिक भावों को समझने में कहीं बाधा नहीं पड़ती। अगोचर को गोचर बनाने, अव्यक्त को व्यक्त करने, अपने मन के भावों को पाठक के मन में उतारने तथा उनके सामने अपनी अनुभूतियों का चित्र अंकन करने में रत्नाकर ने अपनी भाषा को इतना सरल, स्वाभाविक और व्यापार के अनुकूल बनाया है कि उसमें बातचीत का-सा आनन्द आता है। एक उदाहरण लीजिए—

सुन सुरपति अति आतुरता-जुत कह्यौ जोरि कर।
"कौन भूप हरिचन्द ? कहौ हमसहुँ कछु मुनिवर ।।"
"सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यौ नारद उछाह सौं।
ताकी चरचा करन माँह चित चलत चाह सौं ।।

इस अवतरण में भाषा का प्रसाद गुण देखने योग्य है। रत्नाकर का अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और वह अधिकार उन्होंने बड़ी साधना के पश्चात् प्राप्त किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा मँजी हुई, खरादी हुई है; परन्तु उसे खराद कर उसमें स्वाभाविकता लाने का उन्होंने अपने ढंग से प्रयत्न किया है। 'हिंडोला' तथा 'समालोचनादर्श' में उनकी भाषा मँजी हुई और स्वाभाविक नहीं है; परन्तु वही खराद पर चढ़ाने के पश्चात् उद्धवशतक तथा गंगावतरण में इतनी निखर आयी है कि उसमें नाम-मात्र को भी शिथिलता नहीं दिखायी देती। वास्तव में वही उनकी भाषा का प्रकृत रूप है। उस रूप से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने रीति-काल के बहुत से कवियों की भाँति अपनी भाषा को पांडित्य-प्रदर्शन का माध्यम नहीं बनाया और न उसकी चटक-मटक दिखाने के लिये कभी भावों का बलिदान ही किया। उनकी रचनाओं में अनुप्रास की जो योजना

देखने में आती है उसमें आग्रह की अपेक्षा स्वाभाविकता ही अधिक है। उनकी भाषा में उर्दू का लालित्य और व्रज का माधुर्य है। उनकी रचनाओं में उनका एक-एक शब्द नगीने की भाँति चिपका बैठा है। आप कोई शब्द कहीं से निकाल नहीं सकते, उसके स्थान पर कोई दूसरा शब्द रख नहीं सकते। शब्द-चयन में, उन्हें अवसरानुकूल सजाने-सँवारने में, उनको आत्मा में घुसकर उनका मर्म परखने में, रत्नाकर उर्दू कवियों को भी मात करते हैं। व्याकरण सम्बन्धी दोष उनकी भाषा में नहीं हैं।

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। उन्होंने शब्द की इस शक्ति से काम लेकर अपनी दुरूह कल्पनाओं को इतना सहज एवं सरल बना दिया है कि पाठक को उनकी तह तक पहुँचने में विशेष कठिनाई नहीं होती। मुहावरों के प्रयोग में भी वह अपना सानी नहीं रखते। हिन्दी भाषा के पास मुहावरों की बहुत बड़ी शक्ति है और इस शक्ति से उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। कहावतें उनकी रचनाओं में कम हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

अहह जाति तव मत्सरता अजहूँ न भुलाई।
हेर फेर सौ बेर जदपि मुँह की तुम खाई॥

× × ×

सानुकूल सुभ समय सबहि सोभा सँग राखत।
पै सुवरन सोइ साँच, आँच सहि जो रँग राखत॥

रत्नाकर की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी आये हैं, परन्तु उनसे व्रजभाषा का सौंदर्य क्षीण नहीं हुआ है। उन्होंने तत्सम शब्दों का अपने स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है। वह फ़ारसी तथा उर्दू भाषा के विद्वान् थे। वह चाहते तो उन भाषाओं के प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग कर सकते थे; परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में बड़े संयम से काम लिया है। उन्होंने न तो कहीं कठिन अथवा अप्रचलित फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं स्वाभाविकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं, पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकने वाला नहीं। शब्दों के कुछ देशी

प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलते हैं; परन्तु उनसे भाषा का सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ है। उन्होंने काशी की बोली से शब्द लेकर बड़े कौशल से उन्हें व्रजभाषा के साँचे में ढाला है। बहुतों ने इस मिश्रण-कार्य में विफल होकर भाषा की निजता ही नष्ट कर दी है, पर रत्नाकर 'गमकावत', 'बगीची', 'धरना', 'परगना', आदि अविरल देशी प्रयोग करते चलते हैं और कहीं वे प्रयोग अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। कहीं-कहीं 'प्रत्युत', 'निर्धारित' अकाव्योपयोगी शब्दों के शैथिल्य और 'स्वामि-प्रसेद', 'यातथल' आदि दुरूह पद-जालों के रहते हुए भी उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नहीं हुई है। फुटकर पदों और कृष्ण-काव्य में उनकी भाषा शुद्ध व्रज और गंगावतरण में संस्कृत-मिश्रित होती हुई भी किसी-न-किसी मार्मिक प्रयोग की शक्ति के कारण व्रज-माधुरी से पूरित हो गयी है। उदाहरण लीजिए—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
　　यातैं तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
　　जोई मुँह आवत सो विबस बयात हौ।
सोवत में जागत लखत अपने कौं जिमि,
　　त्यों ही तुम आप ही सुज्ञानी अमुझात हौ।
जोग जोग कबहूँ न जानै कहा जोहि जकौ,
　　ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥

×　　×　　×　　×

भंजन भव-भ्रम-काच-कुलिस-आगार मनोहर,
गंजन हिय-तम-तोम तरनि उदयाचल सुन्दर।
प्रेम-पयोधि-रतन-दायक मंदर कन जाके,
कंचन करन हरन-कलमस पारस मनसा के॥

रत्नाकर की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। लम्बी-लम्बी समासान्त पदावलियाँ उनकी रचना में बहुत मिलती हैं। स्वाभाविक तथा श्रुति की मधुर ध्वनि की रक्षा के लिए भाषा को बड़े संयत ढंग से ले चलने की उनमें अद्भुत क्षमता है। इसी से उनकी भाषा में प्रवाह है।

भाषा की तुलना में उनकी भाषा पद्माकर से टक्कर ले सकती है, परन्तु जहाँ पद्माकर की भाषा में हलकापन है वहाँ रत्नाकर की भाषा गम्भीर हो गयी है। पद्माकर की भाषा का प्रवाह एक क्षीण पहाड़ी झरने-सा है, रत्नाकर की भाषा का प्रवाह गम्भीर नदी-सा है। पद्माकर ने अपनी रचनाओं में भाषा का चमत्कार दिखाया है, रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में भावों की गम्भीरता प्रकट की है। पद्माकर की भाषा बालकों के स्वच्छन्द कल-कल हास्य के समान है, रत्नाकर की भाषा प्रौढ़ और संयत है। बिहारी और रत्नाकर की भाषा में साम्य अवश्य है, पर बिहारी की भाषा कहीं-कहीं अलङ्कारों से इतनी बोझिल हो गयी है कि उसके भाव दब-से गये हैं। इस दृष्टि से रत्नाकर की भाषा कुछ आगे हो जाती है, परन्तु घनानन्द की भाषा रत्नाकर की भाषा से भी आगे बढ़ी हुई है। घनानन्द की भाषा ब्रज की शुद्ध साहित्यिक भाषा है। रत्नाकर की भाषा मिश्रित है; उस पर ब्रजभाषा की छाप है। घनानन्द का अधिकांश जीवन ब्रजभूमि में व्यतीत हुआ है। वह वहाँ की भाषा में रम से गये थे। रत्नाकर को ब्रजभाषा का ज्ञान पुस्तकों द्वारा हुआ था; इसलिए रत्नाकर की भाषा में ब्रजभाषा का वह माधुर्य न आ पाया जो घनानन्द की भाषा को प्राप्त हो सका। घनानन्द की भाषा एक प्रकार से उनकी मातृभाषा हो गयी थी। रत्नाकर की भाषा उनकी मातृ-भाषा नहीं थी। अब रत्नाकर की शैली पर विचार कीजिए।

जिस प्रकार रत्नाकर की भाषा पर उनकी सहृदयता की छाप है, उसी प्रकार उनकी शैली—उनके भाव-स्पष्टीकरण की विधि—पर भी उनका अधिकार है। उन्होंने जिन विधानों से अपने जीवन में भाव ग्रहण किया है, उन्हीं विधानों की काव्योचित प्रतिष्ठा करके उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया है। हरिश्चन्द्र काव्य का एक प्रसङ्ग लीजिए। नारद जब इन्द्र-सभा में पहुँचे तब उनके मुख पर प्रसन्नता के चिन्ह देखकर इन्द्र ने पूछा—

पुनि पूछ्यो सुरराज, आज मुनि आवत कित तैं।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यौ जो चित तैं॥

नारद भगवान इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

अहो सहसदृग साधु बात साँची अनुमानी।

ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर मानवीय व्यापारों को परखने तथा उनका यथातथ्य चित्रण करने में अत्यन्त कुशल हैं। यही उनकी शैली की विशेषता है। उनकी तरह अन्य कवियों ने भी इस शैली का अनुसरण किया है; परन्तु उसमें वह रोचकता, वह स्वाभाविकता नहीं आने पायी है जो रत्नाकर की शैली में है। रत्नाकर की दृष्टि अनुभावों के निरीक्षण में बहुत पैनी है। एक उदाहरण और लीजिए। इसमें रत्नाकर ने क्रोध का कहीं नाम तक नहीं लिया, परन्तु इन पंक्तियों को पढ़ते ही विश्वामित्र की क्रोधावस्था का का चित्र सामने आ जाता है।

देखौ वेगहि जौ वाकौ नहिं तेज नसावौं।
तौ पुनि पन करि कहौं, न विश्वामित्र कहावौं॥
यौं कहि आतुर, दै असीस, लै बिदा पधारे।
चपल धरत पग धरनि, किये लोचन रतनारे॥

इस अवतरण में रत्नाकर ने अवसर के उपयुक्त ऐसी शैली का विधान किया है जिसमें स्वाभाविकता है, ओज है। रत्नाकर की अधिकांश रचना इसी शैली में है। उनकी शैली में भाषा और भावों का इतना सुन्दर सामञ्जस्य है कि वह अपने वर्ग के कवियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में रत्नाकर का स्थान

अब तक रत्नाकर की कृतियों के सम्बन्ध मे जो विवेचना की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य के निर्माण में एक विशेष पथ का अनुसरण किया है। इस विचार से वह ब्रजभाषा-काव्य के अन्तिम ऐतिहासिक कवि हैं। उन्होंने अतीत का वर्तमान में चित्रण किया है, इसलिए वह इतिहास के एक सीमित संस्करण-मात्र न होकर अतीत की वर्तमान से अभिसंधि कराने में, बीते युग को विशेष उत्कर्ष के साथ चित्रित करने में, सफल हो सके हैं। उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है। वास्तव में, आधुनिकता के प्रति उनकी विशेष रुचि नहीं थी। उन्होंने अपनी आँखों से आधुनिक हिन्दी साहित्य के तीनों काल

देखे थे, पर उन पर किसी का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 'सरस्वती' के निकलने के पश्चात् खड़ीबोली का जो आंदोलन चला उसने ब्रजभाषा के अनेक उपासकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया, पर रत्नाकर पर्वत की भाँति अचल रहे। सरदार, सेवक, हनुमान, नारायण आदि कवियों के संसर्ग में रह कर उन्होंने प्राचीन काव्य-परम्पराओं का नवीन दृष्टिकोण से अनुशीलन किया। मध्य-युग हिन्दी का स्वर्ण युग था और वह उसी युग के पुजारी थे। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी युग की भाषा, उसी युग के भाव और उसी युग की शैली को स्थान दिया। उनके आचार-व्यवहार पर भी उसी युग की छाप थी। उन्होंने अँग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया था। फारसी के वे विद्वान् थे। इन भाषाओं के अध्ययन से उन्होंने जो सीखा, उसे उन्होंने हिन्दी-साहित्य को दान कर दिया। इस दान को भी उन्होंने मध्ययुग के साहित्य के रूप में ही हिन्दी-जनता के सामने रक्खा। उन्हें मध्य-युग का वातावरण ही पसन्द था। वह ब्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध थे, इसलिए उन्होंने इसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वह मध्य-युग की धार्मिक भावना के उपासक थे, इसलिए उन्होंने पौराणिक कथाओं को ही अपना काव्य-विषय बनाया। वह मध्य-युग की काव्य-परम्परा के अनुयायी थे, इसलिए उन्होंने उन्हीं छन्दों और उन्हीं अलंकारों को अपनाया जिनको तत्कालीन कवि अपना चुके थे। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन हिन्दी कविता की सम्पूर्ण विशेषताएँ परिपूर्णतः उनमें निहित होकर केन्द्रित हो गयी थीं; अपितु यह कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक छोटे-मोटे प्रसाधनों से युक्त होकर एक विशेष रूप में विशेष आचार-विचार और संस्कृति का परिचय देता है, उसी प्रकार रत्नाकर ने अपने काव्यों को अतीत के विभिन्न प्रसाधनों से यथानुरूप चित्रित कर गत युग को मूर्त किया था। मध्य-युग का प्रतिनिधित्व करने पर भक्ति-काल का कोई सन्तोषजनक प्रतिनिधित्व उनकी रचनाओं में नहीं दीख पड़ता। इससे हमारा तात्पर्य केवल ईश्वरोन्मुख भावना से नहीं, अपितु उन संगीतमय पदों से है जिनमें सूर और तुलसी की भावनाओं ने अमरता प्राप्त की है। वस्तुतः रत्नाकर मुक्तकों और प्रबन्धों के

कवि हैं, गीतों के कवि नहीं। यह अभाव सूचित करता है कि रत्नाकर में काव्य-साधना है, आत्म-साधना नहीं है। वह श्रम-निपुण कवि थे, स्वभाव-सिद्ध कवि नहीं थे। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में संकलन-बुद्धि से काम लिया था। वीर-काल, भक्ति-काल और शृङ्गार-काल की भावनाओं का न्यूनाधिक परिमाण में संकलन कर उन्होंने अपनी भाषा और शैली में एक निजी व्यक्तित्व स्थापित किया था। उन्होंने सूर से माधुर्य-भाव, तुलसी से प्रबन्ध-पद्धति और शृङ्गारी कवियों से मुक्तक-शैली लेकर अपनी संकलन-बुद्धि का यथार्थ परिचय दिया है। वह सूक्तियों के कवि थे। उनकी रचनाओं में कथन की वक्रता रीति प्रेरित कवियों की भाँति अधिक देख पड़ती है। उनके काव्य में उनका आन्तरिक साक्षात्कार नहीं होता। इसकी अपेक्षा उनमें चमत्कारजन्य कौतूहल अधिक आकर्षक हो गया है। अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात-काल में उन्हें पद्माकर से अधिक स्फूर्ति मिली है। पद्माकर से उन्होंने मुक्तक कवियों का पद-प्रवाह लिया और वहीं से प्रबन्ध-काव्य की प्रेरणा भी ली। इस प्रकार काव्य की विषय-सामग्रियाँ उन्होंने पद्माकर से लीं, पर उनमें आत्मा अपनी रक्खी।

रत्नाकर आधुनिक वर्ग के कवि नहीं थे; परन्तु अपने काल की रुचि और उसकी आवश्यकताओं की ओर से वे उदासीन भी नहीं थे। इसलिए उन्होंने ब्रजभाषा का संस्कार किया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह खड़ीबोली के सामने अपना माधुर्य प्रकट करने में समर्थ हो सके। रत्नाकर को इस कार्य में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनकी कल्पना-शक्ति, सुसंगठित निर्मल भाषा, उक्ति-प्रवीणता, कलापूर्ण भाव-प्रदर्शन और मार्मिक मुद्रा-चित्रण के सहयोग से उनकी काव्य-धारा में गंगा की-सी गम्भीरता और मधुरभाषी पक्षियों का-सा कलरव है। उनकी रचनाओं को देखकर कौन कह सकता है कि वह जीवित नहीं हैं।



४

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म

सं० १६४२

जीवन-परिचय

डा० मैथिलीशरण गुप्त का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया चन्द्रवार, सं०१६४२ को चिरगाँव, जिला झाँसी में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण का हिन्दी-कविता के प्रति विशेष प्रेम था। वह स्वयं कविता करते थे। उनकी रचनाओं में भक्ति-रस का प्रभाव रहता था। 'कनक लता' उनका उपनाम था। राम के विष्णुत्व में उनका अटल विश्वास था। वह प्रायः उन्हीं के गीत गाते थे। उनके यहाँ भक्त और कवि बराबर आते-जाते रहते थे। वैश्य होने के कारण वह व्यापार-कुशल भी थे। लेन-देन का काम उनके यहाँ अधिक होता था। ऐसे सात्विक वातावरण में मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त ने जन्म लेकर अपने वंश का ही नहीं, अपनी जन्म-भूमि का भी मस्तक ऊँचा कर दिया। सेठजी के पाँच पुत्रों में से दो—

मैथिलीशरण और सियारामशरण—कवि हो गये और शेष तीन रामदास, रामकिशोर और चारुशीलशरण—अपनी कुल-परम्परा के अनुसार व्यापार की ओर झुक गये।

गुप्तजी प्रारम्भ में अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए झाँसी गये, पर वहाँ उनका मन नहीं लगा। अपनी बाल्यावस्था में गुप्तजी बड़े खिलाड़ी थे, अतः वह घर लौट आये। ऐसी दशा में सेठजी ने घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। सेठजी की भक्ति-भावना और काव्य-साधना के प्रभाव से गुप्तजी ने प्रमुखतः हिन्दी-साहित्य को ही अपनी साधना का केन्द्र बनाया। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति काव्य की ओर झुकी और वह टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे। उनके पिता एक कापी में अपनी रचनाएँ लिखा करते थे। एक दिन अवसर पाकर गुप्तजी ने भी उसमें एक छप्पय लिख दिया। सेठजी ने अपनी नवीन रचना लिखने के लिए जब कापी खोली तब उसमें उन्हें एक छप्पय लिखा मिला। अक्षर मैथिलीशरण के थे। उस छप्पय को पढ़कर वह मैथिलीशरण की काव्य-प्रतिभा पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनका आशीर्वाद सत्य हुआ। आज गुप्तजी की रचनाओं पर हिन्दी को गर्व है।

गुप्तजी अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में जो रचनाएँ किया करते थे, वे प्रायः कलकत्ते से निकलने वाले जातीय पत्र में प्रकाशित होती थीं; पर द्विवेदीजी के सम्पर्क में आने पर उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः हिन्दी-जगत में उनका प्रवेश 'सरस्वती' द्वारा हुआ। द्विवेदीजी 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ कर रहे थे। खड़ीबोली के वह आचार्य थे। अतः उन्होंने गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं की भाषा तथा भावों का परिशोधन किया। इससे गुप्तजी का उत्साह बढ़ गया। गुप्तजी द्विवेदीजी को अपना काव्य-गुरु मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। इस समय उनकी समस्त रचनाओं का हिन्दी में बड़ा आदर है। 'साकेत' उनका महाकाव्य है। इस पर साहित्य-सम्मेलन से

उन्हें मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है।

गुप्तजी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। उनकी अनूदित रचनाओं में दो प्रकार का साहित्य है—कुछ काव्य और कुछ नाटक। विरहिणी व्रजाङ्गना बंगला के लब्धप्रतिष्ठ कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी-अनुवाद है। 'मधुप' उपनाम से उन्होंने वीरांगना, मेघनाद-वध तथा पलासी का युद्ध बंगला से अनुवाद किया है। फारसी के विश्व-विख्यात कवि उमर खैयाम की रुबाइयों के अँगरेजी कवि फिट्जजेराल्ड कृत अनुवाद को हिन्दी रूप देने में भी उन्हें सफलता मिली है। इन अनूदित काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के यशस्वी नाटककार भास के स्वप्नवासवदत्ता का भी उन्होंने अनुवाद किया है। अनघ, चन्द्रहास और तिलोत्तमा उनके पद्य-बद्ध रूपक हैं।

गुप्तजी की रचनाएँ

मौलिक काव्य-ग्रन्थों में रंग में भंग, जयद्रथ-बध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश-सङ्गीत, गुरु तेगबहादुर, हिन्दू, शक्ति, सैरंध्री, वन वैभव, वक-संहार, झंकार और साकेत की गणना की जाती है। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष साकेत के बाद के प्रकाशन हैं। विकट भट, मौर्य-विजय, मंगल-घट, त्रिपथगा, और गुरुकुल भी उनके काव्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी अनूदित तथा मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है और अपनी इस वृद्धावस्था में भी वह बराबर साहित्य-सृजन का कार्य करते जा रहे हैं। उनका अब तक का साहित्य काव्य-शैली की दृष्टि से चार प्रकार का है—(१) गीति-काव्य (२) खण्ड काव्य, (३) महाकाव्य और (४) रीति-काव्य। विषय की दृष्टि से उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—(१) भाव-प्रधान और (२) इतिवृत्तात्मक। गुप्तजी अपनी रचनाओं में प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। रंग में भंग, विकट भट, जयद्रथ-बध, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत और यशोधरा उनकी इतिवृत्तात्मक रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ भी मुख्यतः दो प्रकार की हैं—(१) कथा सूत्रग्राही

इतिवृत्तात्मक, जैसे रंग में भंग और (२) विविध दृष्टान्तों के इतिवृत्तात्मक, जैसे हिन्दू। हिडिम्बा उनका नवीनतम खण्ड काव्य है।

गुप्तजी का व्यक्तित्व

गुप्तजी हिन्दी-साहित्य के मौन कलाकार हैं। वह अत्यन्त सरल, उदार और मधुर-भाषी हैं। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। गार्हस्थ्य जीवन से उन्हें प्रेम है। उनका हृदय बाल-हृदय की भाँति सरल और निश्छल है, पर इसके साथ ही वह एक विचारक की भाँति गम्भीर भी हैं। कभी वह बालकों की-सी बातें करते हैं और कभी एक चिन्तनशील व्यक्ति की भाँति। अपने स्वभाव की विलक्षणता के कारण वह बालकों में बालक और दार्शनिकों में दार्शनिक समझे जाते हैं। उनकी सहृदयता उनके जीवन का आभूषण है। वैश्य-कुल में जन्म लेने के कारण वह व्यापार-कुशल हैं। वह वैश्य-कुल के आभूषण हैं। माता भारती की सेवा के साथ-साथ वह लक्ष्मी की आराधना भी करते रहते हैं, पर लक्ष्मी की आराधना उनके जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। धार्मिक क्षेत्र में वह श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। राम ही उनके इष्ट देव हैं, पर वह कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कहकर उपलक्षित किया है, तथापि उनका हृदय तुलसी की भाँति राम के रूप से ही द्रवित होता है। वह राम के सच्चे सेवक हैं। उनके हृदय की इस राम-मयता का स्पष्ट प्रमाण उनका मंगलाचरण है। महाभारत के कथानकों पर आश्रित उनकी जो रचनाएँ हैं उनके मंगलाचरण के पद्य प्रायः रामोन्मुख होते हैं। उनके राम, प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक, प्रत्येक रूप में पूर्ण ब्रह्म हैं और अपनी माया के खेल खेला करते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त हैं। गुप्तजी का यही धार्मिक दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व की आधार-शिला है। इसी आधार-शिला पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व का भव्य प्रासाद खड़ा किया है। उनके जीवन में जो मिठास, जो भोलापन, जो दैन्य, जो उदारता और जो गम्भीरता है उसका श्रेय उनके हृदय की राम-मयता को है। साहित्य-क्षेत्र में उन्हें अपनी इस भावना से बहुत यश और प्रोत्साहन मिला है।

पारिवारिक जीवन की परिस्थितियों ने जहाँ गुप्तजी के जीवन को समता प्रदान की है, वहाँ उनके धार्मिक दृष्टिकोण ने उनके जीवन की धारा को पीड़ित मानवता की ओर उन्मुख कर दिया है। वह अपनी जाति, समाज और देश के प्रति उतने ही उदार हैं जितने तुलसी। यह बात अवश्य है कि उन्होंने तुलसी की भाँति किसी लोक-नायक का चरित्र-चित्रण करके हमारी वर्तमान समस्याओं का नेतृत्व नहीं किया है, तो भी यदि हम उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए विचारों का संकलन करें तो उनके आलोक में अपनी वर्तमान समस्याओं के हल तलाश कर सकते हैं। मानवता के वह अभिन्न उपासक हैं। उनकी उपासना का साधन है उनका साहित्य-प्रेम। साहित्य-प्रेम ने उनके व्यक्तित्व को वाणी दी है, ऐसी वाणी दी है जिसमें राष्ट्र के प्राण और मानव-हृदय की उदात्त प्रवृत्तियों की विशद व्याख्या है। इस प्रकार गुप्तजी के व्यक्तित्व में हम तीन बातें मुख्य रूप से पाते हैं—राम-भक्ति, साहित्य-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम। राम-भक्ति उनके व्यक्तित्व की आधार-शिला है जिस पर उन्होंने अपने साहित्य का प्रासाद खड़ा करके राष्ट्रीय भावना को प्रतिष्ठापित किया है, और राष्ट्र-प्रेम ने उनकी वाणी को अनुप्राणित किया है। संक्षेप में यही गुप्तजी के व्यक्तित्व का रहस्य है।

गुप्तजी पर प्रभाव

अभी हमने गुप्तजी के व्यक्तित्व की व्याख्या की है। इस व्याख्या से उनके जीवन पर पड़े हुए प्रभाव स्पष्ट हो जाते हैं। उनके जीवन-परिचय से हमें ज्ञात होता है कि आरम्भ में वह अपने पिता के आदर्शों से बहुत प्रभावित थे। उनके पिता कवि, कुशल व्यापारी और धार्मिक पुरुष थे। अपने दैनिक कार्यों से अवकाश पाने पर वह माता सरस्वती की आराधना भी किया करते थे। मैथिलीशरण पर उनकी दिनचर्या का बहुत प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण थोड़ी स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् गुप्तजी राम-भक्ति की ओर झुके और टूटी-फूटी भाषा में कविता भी करने लगे। पहले-पहल उन्होंने काव्य-रीतियाँ अपने पिता से ही सीखी थीं। इस दिशा में स्वाध्याय से उन्हें बहुत बल मिला। ज्यों-त्यों साहित्य के प्रति

उनका अनुराग बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनके काव्य-जीवन का विकास होने लगा। खाने-पीने की उन्हें कमी नहीं थी। अर्थ-चिन्ता से वह मुक्त थे। इसलिए उनकी प्रगति में कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। वह कुछ-न-कुछ नियमपूर्वक बराबर लिखते रहे।

गुप्तजी के जीवन पर दूसरा प्रभाव पड़ा उनकी रामोपासना का। हम बता चुके हैं कि गुप्तजी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री-वैष्णव हैं। राम की भक्ति में उनकी अविचल श्रद्धा है। इसलिए हम उनकी दृष्टि में समता देखते हैं। वह प्रत्येक मत, प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उदार हैं। उनकी इस प्रकार की उदारता ने उन्हें भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पुनरुत्थान का पक्षपाती बना दिया है। वह अपने चारों ओर प्रतिदिन होने वाली घटनाओं से पूर्णतया परिचित हैं और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। मार्क्सवादी न होते हुए भी उन्होंने कार्लमार्क्स की प्रशंसा में रचना की है। इसी प्रकार वह आधुनिक समय के आन्दोलनों की गतिविधि से भी परिचित हैं। वह मानवतावादी हैं। वह न्याय और सत्य के समर्थक हैं।

गुप्तजी पर तीसरा प्रभाव गाँधीवाद का है। गाँधीजी की भाँति वह अहिंसा के समर्थक हैं और सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा साम्प्रदायिकता के कटु आलोचक हैं। वर्तमान समय की पीड़ित जनता के प्रति उनकी सहानुभूति है। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण से पिसे हुए, अशिक्षित किसानों तथा श्रमजीवियों के पक्ष का समर्थन उन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में किया है। वह देश के कल्याण और समृद्धि के सच्चे इच्छुक हैं। उनके विचारों में संकीर्णता नहीं, विश्व-मंगल की भावना है। उनकी धार्मिक भावना तथा गाँधीवाद की विचार-धारा ने उन्हें सहिष्णु और उदार बना दिया है। वह शान्ति के समर्थक, दलितों के उन्नायक, श्रमिकों के नेता और पूँजीवादी सत्ता के कटु आलोचक हैं। उनमें स्वाभिमान, आत्मविश्वास और आशा है।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में गुप्तजी के अध्ययन का उनकी विचार-धारा पर बहुत प्रभाव है। भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर उन्हें अभि-

मान है। वह अपना अतीत गौरव नहीं भूले हैं। इसलिए उन्होंने भारत के अतीत गौरव की पृष्ठभूमि पर ही अपने काव्य का प्रासाद खड़ा किया है। उनके साहित्य पर द्विवेदी-युग का प्रभाव है। द्विवेदीजी ने उनकी साहित्य-साधना रूपी नौका के लिए माँझी का काम किया है। इसलिए द्विवेदी-युग की समस्त साहित्यिक चेतनाओं का सुन्दर समन्वय हमें गुप्तजी की रचनाओं में मिल जाता है। द्विवेदी-युग के पश्चात् साहित्य में नवीन युग आने पर हम गुप्तजी को रहस्यवाद और छायावाद की ओर भी उन्मुख पाते हैं। उनकी आधुनिक रचनाओं पर इन वादों की स्पष्ट मुद्रा है। वह युग के साथ बदले और पनपे हैं। उनकी प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता। इस दृष्टि से वह हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं।

गुप्तजी के काव्य-विषय

हिन्दी काव्य-साहित्य में गुप्तजी का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना है। उनका समस्त काव्य जीवन और जगत् की परिभाषा के रूप में व्यक्त हुआ है। प्राचीन खँडहरों की महत्त्वपूर्ण सामग्री लेकर उन्होंने जीर्णोद्धार ही नहीं किया, वरन् मूर्तियों को जोड़-तोड़कर उन्होंने उनमें नया रंग भी भर दिया है। उनकी काव्य-सामग्री दो प्रकार की है—(१) वस्तु-सम्बन्धिनी और (२) भाव-सम्बन्धिनी। उनकी वस्तु-सम्बन्धिनी रचनाओं में उनके खण्ड-काव्य और महाकव्य आते हैं। इस दिशा में हमें उनकी कृतियों में छः मुख्य दिशाएँ दिखाई देती हैं—(१) राष्ट्रीय, (२) महाभारत की कथाएँ, (३) रामचरित्र की कथाएँ, (४) बौद्धकालीन कथाएँ, (५) ऐतिहासिक कथाएँ और (६) पौराणिक कथाएँ। राष्ट्रीय रचनाओं में भारत-भारती और किसान आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत-भारती उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण का संदेश दिया है और उसकी राष्ट्रीय भावनाओं को संयत और विकसित किया है। इसमें कवित्व नहीं, एक देशभक्त के क्रान्तिकारी हृदय से निकले हुए उद्गार हैं, जिनका चित्रण ऐतिहासिक सामग्री के बल पर किया गया है। अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेद-

भावपूर्ण नीति तथा वर्तमान काल की विपन्नावस्था का वर्णन करके उन्होंने हमारे सामने यह समस्या रखदी है—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।

इस समस्या में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल हमारे विचारों की अपेक्षा करते हैं। हम एक ही साथ तीनों कालों पर सोचते-विचारते हैं और अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसी के अनुरूप अपना पथ निश्चित करते हैं। इसी समस्या के कारण भारत-भारती का देशव्यापी स्वागत हुआ। राष्ट्रीयता के उस प्रथम उत्थान-काल में गुप्तजी की यह रचना भारतीय जनता के बीच जो सन्देश लेकर आयी उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली। आज हम उसी के उद्बोधन से, उसी की प्रेरणा से स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हुए हैं। अतएव हम उसका उतना ही महत्त्व अनुभव करते हैं। वह हमारे राष्ट्रीय साहित्य की आधार-शिला है और हमारे राष्ट्रीय जीवन की जननी है। किसान भी उनकी ऐसी ही रचना है। यह काव्य-पुस्तक कृषि-प्रधान देश भारत की अधिकाँश जनता के विचारों और उसकी संकटापन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है।

राष्ट्रीयता के दो पक्ष होते हैं—(१) सामाजिक और (२) राजनीतिक। राजनीतिक पक्ष में गुप्तजी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उद्धार की बात एक साथ सोचते हैं, पर सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण है। वह हिन्दू हैं और हिन्दुओं की सामाजिक परिस्थितियों से भली भाँति परिचित हैं। धार्मिक क्षेत्र में वह रामोपासक हैं, इसलिए वह अपनी उपासना की मर्यादा के अनुकूल ही हिन्दू समाज का नियंत्रण और सुधार करते हैं। अन्य मतों के प्रति वह उदार हैं। संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता से वह बहुत ऊपर उठे हुए हैं। बाल विवाह, छुआछूत तथा अन्य ऐसी कुरीतियों से हिन्दू समाज को जो क्षति पहुँची है, उसका हल भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'हिन्दू' उनकी हिन्दू-भावनाओं से भरी हुई रचना है। जिस प्रकार वह भारत-भारती में समस्त राष्ट्र के लिए छटपटाते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दू' में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सिक्ख, बौद्ध आदि विभिन्न वर्गों के उत्थान के लिए व्याकुल

हैं। देखिए—

वह साधन, वह अध्यवसाय, नहीं रहा हम में अब हाय।
इसीलिए अपना यह ह्रास, चारों ओर त्रास ही त्रास॥

'हिन्दू' में हिन्दू-धर्म का पूरा चित्र है। उद्‌बोधन और उत्प्रेरणा के साथ-साथ उसमें आगे बढ़ने का पूरा चित्र है, पर औरों का सुख कुचल कर नहीं। प्राचीन परम्परा के अनुसार आर्य जाति का आदर्श है—

किन्तु हिन्दुओं का उद्योग, हरता नहीं किसी का भोग।
नहीं चाहता है वह क्रान्ति, उसकी चाह विश्व-विश्रान्ति॥

× × × ×

भुवन-हेतु भारतवर्ष, सब का है उसका उत्कर्ष।
साधन धाम मुक्ति का द्वार, हिन्दू का स्वदेश संसार॥

गुप्तजी की इन भावनाओं में ऋषियों का स्वर गूँजता हुआ सुनायी पड़ता है। इन पंक्तियों में कवित्व नहीं है, पर हिन्दुओं का प्राण अवश्य बोल रहा है। 'हिन्दू' वर्तमान युग के राष्ट्रीय जागरण में हिन्दू-जाति को साम्प्रदायिकता के संकीर्ण वातावरण से बचाने का एक प्रयास है। गुप्तजी अपने इस प्रयास में सफल हैं।

गुप्तजी की दूसरी प्रकार की रचनाएँ हैं राम-कथा सम्बन्धी। पञ्चवटी, साकेत आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में से पञ्चवटी एक खण्ड-काव्य है। इसका हिन्दी-साहित्य में विशेष सम्मान है। भाव, भाषा तथा छन्द की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली उस समय की कथा है जब वह वनवास के अवसर पर गोदावरी के निकट आकर ठहरे थे। इसका आरम्भ रात्रि-वर्णन से होता है। इस वर्णन से कवि में हमें एक नया विकास दिखाई देता है। 'रंग में भंग' से अपने काव्य का श्रीगणेश करके जयद्रथ-बध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, किसान और अनघ से होते हुए पञ्चवटी तक आने में गुप्तजी ने अपने जीवन के लगभग सोलह-सत्रह वर्ष लगाये हैं। इस अवधि में उनकी काव्य-शैली मुख्यतः वर्णनात्मक रही है। उनकी ऐसी रचनाओं में हमें कवित्व

कम देखने को मिला है, पर पञ्चवटी में उनका कवित्व उमड़ पड़ा है। वास्तव में यह काव्य-इतिहास का विभाजन-स्थल है। जयद्रथ-बध, भारत-भारती और अनघ का कवि पञ्चवटी में बिल्कुल बदल गया है। उसमें भक्ति का अंकुर यहीं से फूटता है और वह अपनी सहृदयता का परिचय देने लगता है।

एक दृष्टि से पञ्चवटी का और भी महत्त्व है। पूर्वकालीन महाकाव्यकारों ने लक्ष्मण को कर्त्तव्यपरायण कठोर दास के रूप में ही चित्रित किया है। गुप्तजी ने पञ्चवटी में अपना दृष्टिकोण इससे भिन्न कर दिया है। उन्होंने लक्ष्मण को मानव-रूप में ग्रहण किया है। अतः इस काव्य-ग्रन्थ के पूर्व जहाँ उन्होंने महाभारत, पुराण तथा इतिहास के कथानकों को प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, वहाँ पञ्चवटी के कथानक में कुछ उलट-फेर कर दिया है। ऐसा एक स्थल है शूर्पणखा का रात्रि के समय लक्ष्मण से मिलने के लिए आना। अन्य कवियों ने शूर्पणखा की प्रणय-याचना के काण्ड का अभिनिवेश राम, सीता तथा लक्ष्मण के सामने दिन में ही कराया है। इससे उसकी निशाचरी संज्ञा सिद्ध नहीं होती। प्रणय का प्रस्ताव भी रात्रि में लक्ष्मण को अकेले पाकर होना चाहिए। इन सब बातों का विचार पञ्चवटी के कवि की नयी कल्पना है। दूसरी बात जो पञ्चवटी के कथानक में ध्यान देने योग्य है वह है राम-सीता और लक्ष्मण का अन्तरोल्लास। यहाँ ऐसा जान पड़ता है मानो राम विष्णु के अवतार नहीं, साधारण पुरुष हैं। सीता और लक्ष्मण का हास-परिहास इसका एक उदाहरण है। इस प्रकार इस काव्य में पारिवारिक जीवन की झाँकी अनन्त सौंदर्य से भरी हुई है। इस अनन्त सौंदर्य में हमें न तो कवि की राष्ट्रीयता मिलती है और न गम्भीर दार्शनिकता। ऐसा जान पड़ता है कि कवि किसी चिर सुख की लालसा से जगत के कोलाहलपूर्ण वातावरण से निकलकर जीवन की आनन्दमयी निधियाँ बटोर रहा है। प्रकृति के प्रति उसका अनुराग बढ़ गया है और अब उसके दो ही विषय रह गये हैं—काव्य और मानव-जीवन। साकेत में हमें यही बातें मुख्य रूप से मिलती हैं।

गुप्तजी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ हैं महाभारत-कथा-सम्बन्धी।

इन रचनाओं में जयद्रथ-वध, वक-संहार, वन-वैभव, द्वापर और सैरंध्री आदि का स्थान है। भाव, भाषा और काव्य की दृष्टि से यद्यपि पंचवटी की कला इनमें नहीं है; तथापि अन्तरोल्लास वैसा ही है। बौद्ध-कालीन रचनाओं में यशोधरा और अनघ का मुख्य स्थान है। यशोधरा प्रबन्ध-काव्य है। इसमें भगवान् बुद्ध और यशोधरा की कथा है। अनघ पद्यबद्ध रूपक है। पलासी का युद्ध, गुरुकुल, पत्रावली, रंग में भंग आदि ऐतिहासिक कथानकों से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं। पौराणिक रचनाओं में चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला और नहुष का स्थान है। इनमें से प्रथम दो रूपक हैं और शेष खण्ड-काव्य हैं। इसके अतिरिक्त झंकार आदि में उनकी फुटकर कविताएँ संगृहीत हैं। इन कविताओं से उनकी भावाभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही इन कविताओं की रचना हुई है।

क्रम-विकास की दृष्टि से गुप्तजी की इन समस्त रचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सन् १९०९ से १९२५ तक और (२) सन् १९२६ से आज तक। रंग में भंग से अनघ तक गुप्तजी अपनी प्रथम अवधि के भीतर आते हैं। इस अवधि में उनकी जितनी रचनाएँ हैं उनमें वर्णनात्मक काव्य हैं। इन काव्यों में उन्होंने ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानकों के आधार पर अपने राष्ट्रीय विचारों का ढाँचा खड़ा किया है और उसके द्वारा भारतीय जनता को नव सन्देश दिया है। दूसरे काल का प्रारम्भ पंचवटी से होता है। इस काल के अन्तर्गत उनकी रचनाओं में अनुभूतियों का प्राधान्य होता गया है। कहने का तात्पर्य यह कि गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा का विकास वर्णनात्मक से भावात्मक रचनाओं की ओर हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा किसी-न-किसी कथानक के सहारे ही विकसित हुई है और इसी कारण उनकी रचनाएँ अधिकांश खण्ड-काव्य अथवा महाकाव्य हैं; पर विकास की दृष्टि से उनकी प्रथम कोटि की रचनाओं में जहाँ हम उन्हें हृदय को छूता हुआ पाते हैं वहाँ उनकी उत्तरार्द्ध की रचनाओं में हम उनके हृदय का वेग पाते हैं। पूर्वार्द्ध में उनके भाव बौद्धिक स्तर पर नहीं पहुँचते हैं, इसलिए उनमें

हृदय को छूने की शक्ति तो है, हृदय को मथने और उसे स्थायी रूप देने की शक्ति नहीं है। उत्तरार्द्ध में इस अभाव की पूर्ति हो जाती है और कवि केवल कवि ही नहीं महाकवि के रूप में हमारे सामने आता है।

राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से अनघ की रचना का विशेष महत्त्व है। इस गीति-नाट्य की रचना उस समय हुई थी जब महात्मा गाँधी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारों की पहली विजय हुई थी। इसकी गहरी छाप गुप्तजी पर पड़ी और उन्होंने अनघ के रूप में महात्माजी का चित्र उपस्थित किया। अनघ के पूर्व उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ संकुचित था, पर अनघ में उसका विकास हो गया और वह कहने लगे—

> **न तन-सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन-सेवा।**
> **मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा॥**

'अनघ' के बाद हम गुप्तजी का यही स्वर उनकी अन्य रचनाओं में पाते हैं। वह एक देशीय नहीं, सर्वदेशीय हैं। अनघ और पंचवटी के बाद उन्होंने अपने कथानकों के बौद्धिक तत्व पर युग-वाणी का नहीं, युग-युग की वाणी का चित्र उपस्थित किया है। वह एक युग के नहीं, कई युगों के—भूत, वर्तमान और भविष्य के महाकवि हो गये हैं।

गुप्तजी के काव्य-विषय की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उन्होंने मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों ही प्रकार की पर्याप्त कविताएँ लिखी हैं;

गुप्तजी का गीति-काव्य

पर उनका काव्य-गौरव मुक्तक कविताओं में उतना नहीं है, जितना उनके प्रबन्ध एवं खण्ड-काव्यों में है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुछ कवियों की वृत्ति कथात्मक होती है और कुछ कवियों की भावात्मक। कुछ कवियों में दोनों का चरमोत्कर्ष भी पाया जाता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का दोनों वृत्तियों पर पूर्ण अधिकार होता है, पर प्रायः यह देखा जाता है कि भावात्मक वृत्ति के कवि अपनी कथात्मक वृत्ति में और कथात्मक वृत्ति के कवि अपनी भावात्मक वृत्ति में समान रूप से सफल नहीं होते। तुलसी कथात्मक वृत्ति के कवि थे और सूर भावात्मक वृत्ति के। सूर को अपने गीतों में जो सफलता मिली, वह तुलसी को अपने गीतों में नहीं

मिली। इसका एक कारण है। भावात्मक कवि का का कर्त्तव्यक्षेत्र निरवलम्ब होता है और कथात्मक कवि का साधार। इसलिए जहाँ प्रबन्ध-काव्यों में कवि-कल्पना विभिन्न आधारों पर विश्राम लेती हुई भावों के मुक्त आकाश में उड़ती है, वहाँ भाव-काव्यों में आधारों का अभाव रहने से उसे पूर्ण स्वावलम्बी बनकर वायुमण्डल में विहार करना पड़ता है।

गुप्तजी मुख्यतः कथात्मक वृत्ति के कवि हैं; पर जैसा कि हम कह चुके हैं, उन्होंने मुक्तक गीतों की भी रचना की है। उनके मुक्तक गीतों से हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। उनके पूर्व भारतेन्दु, सत्य-नारायण कविरत्न तथा श्रीधर पाठक के गीत मिलते हैं। इन गीतिकारों के गीतों में हृदय को स्पर्श करने की शक्ति तो है, हृदय को मथने की शक्ति नहीं है। गुप्तजी अपने युग के प्रथम गीतिकार हैं। उनकी काव्य-कला का नवीन सन्देश तथा प्रकृति और मानव के अन्तःकरण का सहज सामंजस्य उनके गीतों में प्रस्फुटित हुआ है। उनके गीत दो प्रकार के हैं—(१) आधुनिक शैली के और (२) परम्परागत पद शैली के। आधुनिक शैली के अन्तर्गत उनके गीत पुनः दो प्रकार के हैं—(१) राष्ट्रीय और (२) रहस्य-वादी। उनके राष्ट्रीय गीतों पर वर्तमान युग की गहरी छाप है। स्वदेश-संगीत में उनके राष्ट्रीय गीत हैं। झंकार गुप्तजी की मुक्तक और भावात्मक कविताओं का संग्रह है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ द्विवेदी-युग में प्रकाशित हो चुकी थीं। खड़ीबोली के उस शैशव-काल में भी काव्य की नवीन भावनाओं ने किस प्रकार रूप प्राप्त किया था, यह संकलन उसका एक स्पष्ट उदाहरण है। इसमें उस समय की काव्य-स्थिति के द्योतक शिशु-भाव भी हैं और क्रमशः विकास के अनुसार प्रौढ़ भाव भी। इसकी अधिकांश कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आ जाती हैं। गुप्तजी सगुणोपासक वैष्णव कवि हैं, इसलिए उनकी रहस्यवाद की कृतियों में भी सगुणोपासना का स्वर देखिए—

सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं, तू न बीच में बोल।

इस प्रकार वह संसार से विरक्त होकर निर्गुण उपासना की अपेक्षा

सांसारिक बन्धनों में रहकर सगुण उपासना द्वारा ही अपने अभीष्ट की सिद्धि चाहते हैं। यही कारण है कि वह अपनी राष्ट्रीय भवनाओं में भी क्रियाशील बने रहते हैं। स्वदेश-संगीत और झंकार के अतिरिक्त हमें उनके गीतों के दर्शन साकेत और यशोधरा में भी होते हैं। 'साकेत' में उर्मिला के गीत और 'यशोधरा' में यशोधरा के गीत हृदय के मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं। उनमें भावों का वेग अपने प्रकृत रूप में व्यक्त हुआ है। उर्मिला के गीतों में विरहिणी के क्षणिक उन्माद और शान्ति, विषाद और हर्ष का आरोह-अवरोह हुआ है। यशोधरा के गीतों में करुणा और मार्मिकता के अनूठे भाव हैं। विरह-सम्बन्धी गीतों के अतिरिक्त उनका निम्न क्रांतिकारी गीत देखिए--

आ जगत्प्राण उठ, जाग-जाग, धँस भीतर धधका एक आग।
इस वेणु रन्ध्र से निकल पड़े, नवजीवन का प्रज्वलित राग॥

गुप्तजी के गीति-काव्य का अन्तरंग व्यक्तिगत साधना पर अवलम्बित है। कोरी कल्पना के गीत वह नहीं गाते। वह अच्छी तरह गा भी नहीं सकते। उन्होंने अपनी गीति-काव्य की सामग्री न तो ईश्वर-प्रेम से ली है और न विश्व-प्रेम से। देश-प्रेम तथा हिन्दू समाज की करुणाजनक परिस्थितियों ने भी उन्हें गीत-रचना की ओर अनुप्राणित नहीं किया है। वास्तव में वह स्वतंत्र गीतिकार नहीं हैं। उन्होंने प्रसंगानुकूल ही अपने गीतों की रचना की है। इसलिए उनके गीतों में आवश्यकता से अधिक प्रसार आ गया है। इस प्रसार के कारण भाव, भाषा में सूत की पूनी की भाँति खिचकर कभी-कभी असंयत हो जाते हैं। इससे गीत का माधुर्य जाता रहता है। पर इस दोष के होते हुए भी उनके गीतों में नवीन आकर्षण है। उनमें वियोगिनी की विरह-व्यथित वेदना का संचार, गहरी अनुभूति और भावावेश के कोमल व्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यंजना पर्याप्त है।

हम यह बता चुके हैं कि गुप्तजी प्रबन्ध-काव्यकार हैं। उनकी प्रायः समस्त रचनाएँ किसी-न-किसी युग की कहानी पर आश्रित हैं। परन्तु प्रबन्ध-काव्य में कथावस्तु का आधार मिल जाना बड़ी बात नहीं है;

बड़ी बात है उस आधार का कवि-द्वारा कलात्मक ढंग से प्रयोग किये जाने में। प्रबन्ध-काव्य में कथा को काव्य के लिए आलम्बन बना देना पड़ता है और इस उद्देश्य की पूर्ति होती है चरित्र-चित्रण द्वारा। अपने प्रबन्ध-काव्य में वही कवि सफल होता है जो अपने चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी भावनाओं को आन्दोलित और अनुप्राणित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है।

गुप्तजी के काव्य में चरित्र-चित्रण

प्रबन्ध-काव्यों में चार साधनों द्वारा मानव-चरित्र अंकित किया जाता है—(१) पात्र का कार्य-व्यापार, (२) उसके सम्बन्ध में दूसरों की उक्ति, (३) उसका अपना भाषण और (४) कवि की उक्ति। इस दृष्टि से जब हम गुप्तजी के चरित्र-चित्रण का मूल्याङ्कन करते हैं तब हम उनमें इन चारों साधनों का सम्यक् उपयोग पाते ह। गुप्तजी की रचनाओं में तीन प्रकार के चरित्र हैं—(१) देव, (२) दानव और (३) मानव। देव-चरित्रों में राम और कृष्ण, दानव चरित्रों में शूर्पणखा और मेघनाद तथा मानव चरित्रों में लक्ष्मण, भरत, यशोधरा आदि के चित्र मिलते हैं। स्वभाव तथा कार्य-कलाप की दृष्टि से यही चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) उत्कृष्ट और (२) निकृष्ट। गुप्तजी ने दोनों का चरित्र-चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भक्त होने के कारण उनकी मर्यादा-भावना ने सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियन्त्रण रक्खा है। उन्होंने पात्र-विशेष की व्यक्तिगत वासना और उसकी स्वार्थमयी वृत्ति को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि वह अमर्यादित होकर कथावस्तु की गम्भीरता को नष्ट करदे। दूसरी बात, जो उनके चरित्र पर प्रकाश डालती है, यह है कि उन्होंने राम के ईश्वरत्व को तो स्वीकार किया है, पर उनके पारिवारिक व्यक्तियों को साधारण मनुष्य के रूप में ही अङ्कित किया है। 'साकेत' के जिन पात्रों में हमें सद्गुणों की प्रचुरता दिखाई देती है वे भी इसी पार्थिव जगत के हमारे-जैसे प्राणी हैं और उनके लिए सुख-दुख, हर्ष-शोक, निन्दा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, विरह-मिलन का वही मूल्य है जो हमारे लिए है। गुप्तजी के पात्रों के सम्बन्ध में तीसरी उल्लेखनीय बात है

उन पर सामयिक स्थिति और समस्याओं का प्रभाव। अनघ के पश्चात् उन्होंने जितने पात्रों को अपने प्रबन्ध-काव्यों में स्थान दिया है उन सब पर किसी न किसी रूप में समय का प्रभाव पड़ा है। राम वन-गमन के समय अयोध्यावासियों का विनम्र सत्याग्रह और माता सीता का कोल-भील बालाओं को चर्खा चलाने एवं कातने और बुनने का उपदेश देना किसी सीमा तक स्वाभाविक होते हुए भी आधुनिक प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अनघ में हमें मघ के रूप में विश्व-वन्द्य बापू का दिव्य दर्शन प्राप्त होता है। नव-जागरण के इस युग में हमारी देवियों ने जागकर लोक-सेवा के जिस पावन आदर्श में अपने सुखसुहाग को एक कर दिया है उसकी झलक हमें मघ की भावी पत्नी सुरभि में मिलती है। राम-कोप का भाजन बन कर जब मघ सुरभि को सुखी रहने का आशीर्वाद देता है तब सुरभि कहती है—

विश्व-वेदना विकल करे मुझको सदा।
रक्खे सजग सजीव आर्त्ति या आपदा।
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो,
जीवन ज्वलित कृशानु-समान पुनीत हो।

नारी-हृदय से प्रसूत इन पुनीत भावों में वर्तमान युग बोलता हुआ सुनायी पड़ता है। गुप्तजी का यही स्वर उनके कई प्रबन्ध-काव्यों में अङ्कित हुआ है। प्राचीन चरित्रों को वर्तमान युग के निकट लाने में उनका एक उद्देश्य है। अपने प्राचीन आख्यानों द्वारा वह अपने काव्यों में जिन चरित्रों की अवतारणा करते हैं उसका सामञ्जस्य वह वर्तमान जीवन के अनुरूप इसीलिए करते हैं कि हम उन्हें पौराणिक युगों की ही गाथा न मानकर आज भी ग्रहण कर सकें। यही कारण है कि उनके काव्यगत प्राचीन आख्यानों में हमें वर्तमान युग की राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याएँ देखने को मिल जाती हैं।

गुप्तजी के चरित्र-चित्रण की चौथी विशेषता है उनकी मौलिकता। दैशिक और सामाजिक जीवन की भावनाओं का प्राचीन युग के वातावरण में साँस लेने वाले पात्रों की भावधारा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने

के लिए उन्होंने कथानकों में जो उलट-फेर कर दिया है, उससे उनके पात्रों में नवीनता आगयी है और उन मूक पात्रों को वाणी मिल गयी है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं। इस कथन से हमारा तात्पर्य उर्मिला और यशोधरा से है। उर्मिला और यशोधरा गुप्तजी के हाथों में पड़कर माता सीता की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आयी हैं। इसी प्रकार रामायण की चिरलाञ्छिता कैकेयी से साकेत की कैकेयी की तुलना हो सकती है। साकेत की कैकेयी में जो आत्म सम्मान, आत्मगौरव और स्वाभिमान है वह रामचरितमानस की कैकेयी में हमें नहीं मिलता। कैकेयी को साकेतकार ने मानवी सहानुभूति ही नहीं प्रदान की है, अपितु उसे राजरानी का गौरवपूर्ण मस्तक प्रदान किया है जो कहीं भी नत होना नहीं जानता—न अयोध्या के राज-प्रासाद में, न चित्रकूट की भरी सभा में। जब अपराध करने में ही उसका मस्तक नीचे नहीं झुका, तब उसके प्रायश्चित में ही वह क्यों नीचे झुकेगा। इस प्रकार साकेतकार ने कैकेयी के राजरानीत्व की पूरी रक्षा की है।

गुप्तजी के पात्रों की पाँचवी विशेषता है उनका दुख में हँसते रहना। अपने पात्रों में इस प्रवृत्ति का आरोप करने के कारण उन्हें अपने आख्यानों को सजाने-सँवारने और जीवन का उल्लासमय चित्र प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की उद्भावना से उनके चरित्र-चित्रण में सजीवता आगयी है। वर्तमान युग की पीड़ित मानवता के लिए इसमें एक सन्देश भी है। इसी सन्देश के बल पर उनके सभी पात्र क्रियाशील और आशावादी हैं।

गुप्तजी के चरित्र-चित्रण की छठी विशेषता है उनकी मनोवैज्ञानिकता। वह व्यावहारिक मनोविज्ञान के शास्त्री हैं। यद्यपि विकासहीन पात्रों में चरित्र-चित्रण की गुञ्जायश नहीं के समान होती है, तथापि उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उनसे भाव-सबलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है। अपने इसी चरित्राध्ययन के बल पर उन्होंने मानव-हृदय के यथार्थ अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया है। उनके कथोपकथन भी इसीलिए सजीव, सुव्यवस्थित और आकर्षक हैं।

कथोपकथन की समीचीनता के लिए उन्होंने वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्द-वृत्ति, तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। सारांश यह कि गुप्तजी कथा और चरित्र की प्राचीन रूप-रेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात् कुशल कलाकार की भाँति चरित्र-चित्रण के उन समस्त सुलभ उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने में समर्थ रहे हैं, जिनकी उन्हें अवसरानुकुल आवश्यकता पड़ी है। इसलिए उनके चरित्र-चित्रण में हम मानव-हृदय की उल्लासमयी भावनाओं और उदात्त प्रवृत्तियों का परिचय पाते हैं और उन पर मुग्ध हो जाते हैं। गुप्तजी चरित्र-चित्रण के श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है और मानव-स्वभाव-सम्बन्धी उनका अध्ययन गम्भीर है। इसलिए चरित्र की बारीकियों का महत्त्व वह भली-भाँति समझते हैं और बड़ी सावधानी से उनका चित्रण करते हैं। वह अपने चरित्र-चित्रण में अवसर, पात्र और देश-काल का बराबर ध्यान रखते हैं। चरित्र-चित्रण में उनकी सफलता का यह रहस्य है।

गुप्तजी के प्रबन्ध-काव्यों में मानव-प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ प्रकृति का चित्रण भी मिलता है; पर उनके प्रकृति-चित्रण में वह बात नहीं आने पायी है जो उनके मानव-चरित्र-चित्रण में देखने को मिलती है।

गुप्तजी के काव्य में प्रकृति-चित्रण

उनका प्रकृति के प्रति अधिक अनुराग नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि एक दर्शक के रूप में कवि-परम्परा पालन करने के लिए उन्होंने प्रकृति का चित्रण किया है। पञ्चवटी में कुछ स्थल अच्छे बन पड़े हैं, पर सर्वत्र वही सफलता नहीं मिली है। गुप्तजी के प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में एक बात अवश्य है और वह है प्रकृति का उल्लासपूर्ण वर्णन। गुप्तजी जीवन की उल्लासपूर्ण परिस्थितियों के कवि हैं। अतः उनकी प्रकृति सर्वत्र हँसती हुई, सर्वथा प्रफुल्ल एवं आनन्दमग्ना है। उनके काव्यों में सर्वत्र प्रकृति का यही रूप मिलेगा। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रकृति-चित्रण का सर्वथा अभाव था। अनघ के पश्चात् उनके काव्य-विकास में जो मोड़ आया, उसी ने उन्हें प्रकृति-चित्रण की ओर उन्मुख किया। इसलिए पंचवटी से

आज तक की रचनाओं में हम उनका प्रकृति-प्रेम जीवित पाते हैं। उन्होंने अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में प्रकृति का चित्रण निम्नलिखित प्रणालियों के अनुसार किया है—

(१) **चित्रात्मक प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार कवि प्रकृति के बाह्य रूप का विस्तृत विवरण के साथ अङ्कन करते हैं। इस कार्य में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति बहुत सहायक होती है। इस प्रकार का एक चित्र देखिए—

चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर-तल में॥

यहाँ प्रकृति ने कवि के लिए एक चित्रपटी बनादी है और कथानक के के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी है। गुप्तजी के काव्य में ऐसे दृश्य-चित्रण बहुत हैं। ऐसे दृश्य-चित्रों को सुन्दर और सुष्ठु बनाने तथा उन्हें गतिशील कर देने के लिए उनमें मानवीय भावनाओं का आरोप कर दिया जाता है। इसलिए प्रकृति मानवीय व्यापारों से युक्त प्रमोद एवं आनन्द में विभोर और स्निग्ध तथा गतिशील दृष्टिगोचर होती है; उसमें कोई चेतना नहीं होती, आकांक्षा नहीं होती, मानवी क्रियाओं और व्यापारों से युक्त होने पर भी वह स्थिर है। उसका उद्देश्य है आगे की कथा की भूमिका प्रस्तुत करना। इस दृष्टि से गुप्तजी अपनी शैली में सफल हैं।

(२) **संवेदनात्मक प्रणाली**—इस प्रणाली के अन्तर्गत कवि प्रकृति का विवरण के साथ वर्णन नहीं करते, वह अधिकतर प्रकृति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत मात्र करते हैं। उनके प्रकृति-सम्बन्धी उद्गार सदैव व्यक्तिगत होते हैं। उनकी भावुकता ही मस्तिष्क और हृदय को अनुप्राणित करती है। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के नाना रूपों को अपने रंग में रँग देती है और भावावेश में कवि को प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखायी पड़ती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत गुप्तजी की प्रकृति का चित्र देखिए—

पेड़ों ने पत्ते तक उनका त्याग देखकर त्यागे।
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे॥

प्रकृति के ऐसे संवेदनात्मक चित्र पंचवटी, यशोधरा और साकेत में बहुत मिलते हैं। इनका अङ्कन वृत्ति और प्रसङ्ग के अनुरूप ही हुआ है। पंचवटी में राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की शान्त धारा में प्रकृति का प्रतिबिम्ब भी शान्त और सुन्दर है। इस प्रकार ऐसे चित्रों में प्रकृति और पुरुष के बीच सामञ्जस्य का भाव है। प्रकृति पुरुष पर रीझती है और पुरुष प्रकृति पर। सीता पौधों में पानी देती है और पौधे उस पर पुष्प-वर्षा करते हैं। प्रकृति और पुरुष की यह एकात्मता कवि की सहृदयता की परिचायक है।

(३) अलंकारात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार कवि उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक का सहारा लेकर प्रकृति के चित्र उतारता है। इन उपमाओं की योजना प्रभाव-साम्य के आधार पर होती है। अतः इनसे कथानक के प्रसंगों का प्रभाव बढ़ जाता है। गुप्तजी का अलङ्कारात्मक प्रकृति-चित्रण इन पंक्तियों में देखिए—

रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते थे॥

इन अन्तिम पंक्तियों में शरीर और आभूषणों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके सौन्दर्य को हृदयंगम कराने के लिए प्रकृति का एक सुन्दर दृश्य उपस्थित कर दिया गया है। इससे वस्तु-स्थिति का परिमार्जन हो जाता है और उसका प्रभाव बढ़ जाता है। इस प्रकार वह मानव मस्तिष्क और हृदय पर उसका चित्र स्थायी कर देता है। ऐसे वर्णन गुप्तजी की रचनाओं में बहुत मिलते हैं। इनमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली है।

(४) उपदेशात्मक प्रणाली—प्रकृति-चित्रण में कवि इस प्रणाली का उपयोग उस समय करते हैं जब उन्हें प्रकृति द्वारा कोई शिक्षा देनी अभीष्ट होती है। अतः प्रकृति उपदेशक के रूप में हमारे सामने आती है। उसके इस रूप में विशेष आकर्षण नहीं होता। गुप्तजी ने इस प्रणाली का भी प्रयोग किया है। अन्योक्ति के रूप में 'क्षार पारावार' का चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

छोड़ मर्यादा न अपनी वीर धीरज धार,
क्षुब्ध पारावार मेरे वार पारावार।

गुप्तजी अँग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ के समान प्रकृति के अनन्य उपासक नहीं हैं। प्रकृति-चित्रण में उन्हें अन्तस् से प्रेरणा नहीं मिली है; इसलिए उन्होंने प्रसाद, पन्त और निराला आदि की भाँति स्वतन्त्र रूप से प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत नहीं की हैं। वह इतिवृत्तात्मक हैं। घटना-प्रसंगों के निर्वाह और उनकी उद्देश्यपूर्ति के लिए उन्हें जब जैसे प्राकृतिक-चित्रों की आवश्यकता पड़ी है, तब तैसे चित्र उन्होंने उतारे हैं और सफलतापूर्वक उतारे हैं। उनके प्राकृतिक-चित्रण में स्वाभाविक कोमलता और उदारता है। कोमलता उनकी भारतीय प्रवृत्ति है, इसलिए प्रकृति में उसी का विशेष प्रवाह है। साकेत में परम्परा-पालन के लिए उन्होंने षट्ऋतुओं का भी वर्णन किया है।

गुप्तजी के काव्य में रूप-चित्रण

गुप्तजी का रूप-वर्णन अत्यन्त सुन्दर होता है। प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुसार नख-शिख का वर्णन न करके उन्होंने शरीर-व्यापारों के भावानुकूल बड़े सुन्दर और सजीव चित्र उतारे हैं। ऐसे चित्रों की अवतारणा में कवि ने अलंकारों का इतना प्रयोग नहीं किया, जितना वस्तु-व्यंजना का। वस्तु-व्यंजना की दृष्टि से भी उन चित्रों में कोई अलौकिक ऊहात्मक कल्पना नहीं, केवल अभिव्यंजक विलक्षण शब्दों का चयन विशेष है। शब्दों की सहायता से कितना और कितनी सफलतापूर्वक व्यंजना का काम लिया गया है, इन पंक्तियों में देखिये—

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर वायें देख, अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई, वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर।

ऐसे गतिमय चित्रों के अङ्कन में कवि तभी सफल हो सकता है जब पैनी, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के साथ उसको अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो। गुप्तजी इन गुणों से परिपूर्ण हैं। वह अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति से अपने रूप-चित्रण में एक ही साथ बहुत-सी गतियों की अवतारणा कर देते हैं। उनके रूप-चित्र एक ही भाव

के व्यञ्जक नहीं, कई भावों के व्यञ्जक होते हैं। एक चित्र में अनेक चित्रों का आयोजन कर देना उनकी काव्य-कला की विशेषता है। ऐसे चित्र पंचवटी, साकेत, यशोधरा और सिद्धराज में बहुत मिलते हैं।

मनुष्यों की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में भी गुप्तजी की तूलिका ने अपना कौशल दिखाया है। विचारमग्न होने पर मनुष्य एक विशेष प्रकार की मुद्रा बना लेता है; अतः उसके अन्तस् के भीतर उठते हुए भावों का पता लगाने के लिए इन मुद्राओं का अध्ययन और निरीक्षण आवश्यक है। कुशल कवि इन मुद्राओं का अंकन भावों के स्पष्टीकरण के लिए ही करता है। साकेत में इस प्रकार के उदाहरण बहुत मिलते हैं। देखिए—

झुकाकर सिर प्रथम, फिर टक लगा कर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर!
+ + +
पकड़कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गत-धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख तू क्या आज करने।

अब तक हमने गुप्तजी के दो प्रकार के चित्र प्रस्तुत किये हैं—गतिमय और स्थिर। गतिमय चित्रों के अङ्कन में स्थान और काल का ध्यान रखना आवश्यक होता है, पर स्थिर चित्रों में केवल स्थान का। गतिमय चित्रों की अवतारणा में कवि को भाव, मुद्रा, गति आदि को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करना पड़ता है, इसलिए कुशल कवि ही गतिमय चित्र उतार सकते हैं। गुप्तजी इस कला में प्रवीण हैं।

हम बता चुके हैं कि गुप्तजी अपने समाज और राष्ट्र के कवि हैं। समाज और राष्ट्र का कल्याण ही उनके काव्य का उद्देश्य है। इस दृष्टि से वह एक ही साथ हमारे कवि और नेता हैं। एक नेता अपने ओजस्वी भाषण से जनता में जितना प्राण फूँक सकता है, गुप्तजी के काव्य ने उससे कहीं अधिक काम किया है। इसीलिए हम उन्हें आधुनिक युग का प्रति-

निधि कवि कहते हैं। उनकी समस्त कृतियों पर वर्तमान युग की प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाप है। वह आजकल के समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा विशेषताओं से पूर्णतया परिचित और प्रभावित हैं। 'रंग में भंग' से उनकी आजतक की समस्त रचनाओं का ध्येय उनके जीवन के ध्येय की भाँति, अपने समाज, राष्ट्र और जगत् का कल्याण करना है। वह मानवतावादी हैं। मानव के कल्याण में ही उन्होंने अपने समाज के, अपने राष्ट्र के कल्याण की उद्भावना की है। वह एक ओर रामोपासक हैं, तो दूसरी ओर बौद्ध, जैन, शैव, ईसाई, इस्लाम आदि विश्वधर्मों के प्रति अत्यन्त उदार; वह एक ओर हिन्दू हैं तो दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के समर्थक और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति क्षमाशील; वह एक ओर कट्टर सनातनी हैं, तो दूसरी ओर अछूतों को उठाने और विधवाओं के साथ आँसू बहाने में समानरूप से संलग्न। गुप्तजी आधुनिक युग की तीन बातों से विशेष प्रभावित हैं, अतः उनके साहित्य में हम आगे लिखी तीन बातें पाते हैं—

गुप्त-काव्य की प्रवृत्तियाँ

(१) सामाजिक प्रवृत्तियाँ—गुप्तजी हिन्दू हैं, रामोपासक हैं। अपनी संस्कृति और सभ्यता से उन्हें प्रेम है। आर्य-संस्कृति के वह अनन्य उपासक हैं। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने चार रूपों में किया है—(१) राम-संस्कृति, (२) कृष्ण-संस्कृति, (३) बुद्ध-संस्कृति और (४) राजपूत-संस्कृति। यही संस्कृतियाँ उनकी वर्तमान सामाजिक समस्याओं की आधार-शिलाएँ हैं। राम-संस्कृति से मर्यादावाद, कृष्ण-संस्कृति से कर्मवाद, बुद्ध-संस्कृति से अहिंसावाद और राजपूत-संस्कृति से राष्ट्रवाद, इन्हीं चारों वादों की भित्ति पर उनके वर्त्तमान समाजवाद का प्रासाद खड़ा है। वह अपने समाज में छोटे-बड़े का, ऊँच-नीच का भेद राम-संस्कृति की मर्यादा के भीतर ही स्वीकार करते हैं। अछूतोद्धार के प्रति उनकी सहानुभूति है। वह कहते हैं—

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

हिन्दू-समाज की आधुनिक समस्याओं को लेकर उन्होंने 'हिन्दू' की रचना की है। इसमें देवता की स्तुति, स्त्रियों के प्रति कर्त्तव्य, व्रतोत्सव, विधवाओं की करुण गाथा, ग्राम-सुधार-योजना, जाति-बहिष्कार, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य आदि पर उनके गम्भीर और सुव्यवस्थित विचार हैं। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए वह कहते हैं—

तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे किन्तु विरक्त।
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र।
आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास।

सामाजिक भावना से भरे हुए ऐसे विचार गुप्तजी की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। वह अपने इन विचारों में जहाँ नवीन हैं, वहाँ प्राचीन भी हैं। वह प्रत्येक योजना को, प्रत्येक सुधार को, हिन्दू मर्यादा के भीतर ही स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि उनकी संस्कृति और उनकी सभ्यता विश्व की संस्कृति और सभ्यता का नेतृत्व करे।

(२) राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ—गुप्तजी की समस्त रचनाएँ राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में ही व्यतीत होता है। अपने राष्ट्रीय क्षेत्र में वह गांधीजी के सार्वभौम सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित हैं। 'भारत-भारती' उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। उनकी राष्ट्रीयता आर्य संस्कृति पर अवलम्बित है। संस्कृति-शून्य राष्ट्रीयता के वह पोषक नहीं हैं। वह उसी राष्ट्रीयता के पोषक हैं जो अपने अपूर्व गौरव से पुष्ट हो। देखिए—

जय भारत भूमि भवानी
अमरों ने भी तेरी महिमा बारम्बार बखानी।

इस दृष्टि से राम, कृष्ण, बुद्ध सभी राष्ट्र-प्रेमी हैं। सब अवसरानुकूल उनके काव्य में अपनी जन्म-भूमि के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम का परिचय देते हैं। कर्त्तव्य-बुद्धि का यह हाल है कि—

न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।

यही न्याय, यही कर्त्तव्य-बुद्धि हमें घरेलू झगड़ों से बचा सकती है।

'वक-संहार' में कौरवों के अत्याचारों से दुखी होकर प्रतिहिंसा की भावना से जब भीम उत्तेजित हो जाते हैं तब पाण्डव-पति के इन शब्दों पर विचार कीजिए—

भीम ! शरणागत का अपमान !
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान ?

× × ×

कौरवों ने जो अत्याचार, किये हैं हम पर बारम्बार।
करेंगे उनका हमीं विचार, नहीं औरों पर इसका भार।
क्रूर कौरव अन्यायी हैं, हमारे फिर भी भाई हैं।

× × ×

जहाँ तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच, गिने तो हमें एकसौ-पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार, करें जो आकर यह व्यवहार।

पाण्डव-पति के इन शब्दों पर आधुनिक युग की राष्ट्रीय समस्याओं की स्पष्ट छाप है। इस कथन के आलोक में हम अपनी बहुत-सी राष्ट्रीय समस्याएँ हल कर सकते हैं। 'अनघ' में मघ का चरित्र बापू का चरित्र है। इसी प्रकार 'साकेत' में राम-वन-गमन के अवसर पर अयोध्यावासियों का शान्तिपूर्ण सत्याग्रह और सीता का भील-कुमारियों को चर्खा चलाने का उपदेश आधुनिक युग की विचारधारा का पुष्ट प्रमाण है। 'वक-संहार' में प्रजातन्त्र का रूप देखिए—

राजा प्रजा का पात्र है, वह एक प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजापालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह सब की सुने।
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है।

गुप्तजी के इस प्रकार के राष्ट्रीय विचार उनकी प्रत्येक रचना में बिखरे पड़े हैं। ये विचार प्राचीन होते हुए भी नवीन और नवीन होते हुए भी प्राचीन हैं। गुप्तजी ने प्राचीन आदर्शों का ही सहारा लेकर अपने नवीन आदर्शों की पुष्टि की है।

(३) साहित्यिक प्रवृत्तियाँ—सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ-साथ गुप्तजी ने साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों को भी अपनाया है। उनकी 'झंकार' नामक पुस्तक नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रमाण है। रहस्यवाद और छायावाद से भी वह प्रभावित हैं और आजकल उनकी प्रतिभा का झुकाव पूर्णतः साहित्य की नवीन शैलियों को अपनाने की ओर उन्मुख है। उनके मस्तिष्क और हृदय का द्वार प्रत्येक नयी धारा के लिए खुला रहता है, और वह उसे अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल अपनाते हैं। वह अपनी साहित्य-साधना में संयमी हैं। नवीनता को अपनाने की झोंक में वह बह नहीं जाते। वह सोचते हैं, विचार करते हैं और तब अपनी संस्कृति की चलनी से चलाकर उसे अपने उपयुक्त बनाते हैं। उनकी कृतियों में नवीन कल्पनाएँ हैं, नवीन भाव हैं, नवीन आदर्श हैं, नवीन छन्द और शैलियाँ हैं। पर उन पर उनके व्यक्तित्व की, उनकी संस्कृति और सभ्यता की स्पष्ट छाप अङ्कित है। साम्यवादी वह हैं, मर्यादावादी वह हैं, मानवतावादी वह हैं, उपयोगितावादी वह हैं, रहस्यवादी वह हैं और छायावादी वह हैं; पर उनके प्रत्येक 'वाद' पर उनका अधिकार है, वह उनकी सम्पत्ति है। वह अपने प्रत्येक 'वाद' में अनुकृत नहीं, मौलिक हैं। उन्होंने प्रत्येक 'वाद' को अपनी प्रतिभा से पचा लिया है, अपना बना लिया है और वह अपने साहित्य के अपने युग के प्रतिनिधि बने हुए हैं।

यहाँ तक हमने गुप्तजी के भाव-पक्ष पर विचार किया है। अब हम उनके कला-पक्ष पर विचार करेंगे। पहले उनकी अलंकार-योजना को लीजिए। अलंकार दो प्रकार के होते हैं—(१) शब्दालंकार और (२) अर्थालंकार। शब्दालंकार भाषा का गौरव बढ़ाने में और अर्थालंकार अर्थ का—भाव का गौरव बढ़ाने में सहायक होते हैं। गुप्तजी ने इन दोनों अलंकारों का बड़ी सुन्दरता से प्रयोग किया है। जहाँ उन्होंने अपनी भाषा को सजाने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है वहाँ अलंकार प्रधान हो गये हैं और भाव गौण। इससे उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं बाधा पड़ी

गुप्तजी की अलंकार योजना

है। ऐसे स्थानों पर अलङ्कारों की स्वाभाविकता नष्ट हो गयी है, उनमें कृत्रिमता आगयी है। गुप्तजी अनुप्रास-प्रिय भी हैं। छेकानुप्रास और वृत्य-नुप्रास का प्रयोग उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक किया है। देखिए—

किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी,
है तुम्हारे पाद-पद्मों पर पड़ी।

अर्थालङ्कार की दृष्टि से गुप्तजी ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, सन्देह, विषम, विशेषोक्ति अलङ्कारों का अच्छा प्रयोग किया है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उन्हें अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ी है। ऐसे स्थलों पर उनके भाव इतने स्पष्ट, तीव्र और कोमल हो गये हैं कि उनके स्वाभाविक प्रवाह में अलङ्कारों के होने पर भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई है। पर जहाँ उनकी अनुभूति में शिथिलता आ गयी है, वहाँ उन्होंने अपने अलङ्कारों द्वारा भावाभिव्यक्ति को गति प्रदान की है। वर्तमान युग भावचित्रण का युग है, अलङ्कार-प्रदर्शन का नहीं। गुप्तजी ने दोनों का सामञ्जस्य अपने काव्य में किया है। उनके काव्य में कहीं अलङ्कार हैं और कहीं नहीं भी हैं। जहाँ हैं, वहाँ सर्वत्र कृत्रिमता और प्रयास ही नहीं, स्वाभाविकता भी है। कहीं-कहीं कल्पना की नूतनता अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण है। सारांश यह कि गुप्तजी अपनी अलङ्कार-योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं। उनकी अलङ्कार-योजना में अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव कहीं भी मिल सकता है।

अलङ्कारों की भाँति, गुप्त-साहित्य में रसों का भी बड़ा सुन्दर आयोजन हुआ है। उसमें शृङ्गार, करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स, हास्य, शान्त, वात्सल्य आदि मुख्य हैं। शृङ्गार के—संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन

गुप्तजी की रस-योजना

गुप्तजी ने किया है और दोनों में उन्हें पूर्ण रूप से सफलता मिली है। साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी आदि रचनाओं में शृङ्गार, करुण, शान्त, वात्सल्य तथा वीर रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। रङ्ग में भङ्ग, जयद्रथ-वध, वन-वैभव आदि वीर रस पूर्ण रचनाएँ हैं। संयोग शृङ्गार के चित्र पञ्चवटी और साकेत में मिलते हैं। साकेत के अष्टम सर्ग के आरम्भ में राम-सीता

के वन्य जीवन के संयोग-पक्ष का एक दृश्य दिखाया गया है जिसमें विनोद-पूर्ण एकान्त वार्तालाप दोनों को रसमय कर देता है। गुप्तजी मर्यादावादी हैं, अतः राम और सीता के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्यत्र भी प्रेम-चर्चा करते समय उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेम-वर्णन में उन्होंने कुछ स्वतन्त्रता अवश्य दिखाई है। लक्ष्मण 'साकेत' के नायक हैं और उर्मिला उसकी नायिका। अपने इन रूपों में प्रतिष्ठित होने के कारण ही दोनों अपने प्रेम-व्यापारों में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र हैं। प्रगाढ़ परिरम्भण और तीक्ष्ण अपांगों से अपने उल्लसित और आवेगपूर्ण प्रेम का परिचय देते और जी भरकर दाम्पत्य-सुख लूटते हैं।

वियोग शृङ्गार का वर्णन 'साकेत' और 'यशोधरा' में अत्यन्त उत्कृष्ट है। गुप्तजी की काव्यात्मा शृङ्गार के इस पक्ष के अङ्कन में इतनी लीन हो गयी है कि उसमें उन्होंने मानव-हृदय की सारी कोमलता और सरसता उँडेल दी है। उर्मिला और यशोधरा विरह की मूर्तियाँ हैं। विरह ने उनके चरित्र को, उनकी भावनाओं और कल्पनाओं को बहुत ऊँचा उठाया है। वह है भी ऐसा ही! वह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वियोग-वेदना की अग्नि में तपकर प्रेम की मलिनता गल जाती है और फिर वह अपने शुद्ध रूप में शेष रह जाता है। विरह में मिलन से अधिक गाम्भीर्य और स्थिरता होती है और प्रतीक्षा अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। कवि-समाज इसीलिए उसे अपनाता है। जो कवि विरह की टीस का जितना अधिक अनुभव किए रहता है वह उसके वर्णन में उतना ही अधिक सफल होता है। हमारे साहित्य में जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, हरिऔध आदि विरह के कुशल गायक हो गये हैं। इन्हीं कवियों की सूची में गुप्तजी को भी स्थान मिला है। उनका वियोग-शृङ्गार-वर्णन मर्यादानुकूल है। अपने वर्णन को प्रभावशाली और स्थायी बनाने के लिए वह पहले भूमिका बनाते हैं, फिर विरह का चित्रण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टि से गुप्तजी अपने वियोग-वर्णन में सफल हैं। उनके वियोग-वर्णन में स्वाभाविक सुस्पष्टता है, ढंग है। अनुभूति-प्रधान होने के कारण उसमें तन्मयता

भी आ गयी है। उन्होंने वियुक्त-प्रेम की विविध दशाओं का ऐसा मार्मिक उद्घाटन किया है कि मानव-हृदय उसमें सराबोर हो जाता है। उन्होंने प्रेम की वियोगावस्था में स्थित नारी की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सन्ताप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मृत्यु का जो सुन्दर चित्र उतारा है वह स्वाभाविक तो है ही, काव्य-कला की दृष्टि से भी पूर्ण है।

गुप्तजी ने करुण-रस का विधान भी 'यशोधरा' और 'साकेत' में किया है। साकेत में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति करुण-रस के स्थल हैं। इसका स्थायी भाव है शोक। गुप्तजी ने वियोग-शृङ्गार की भाँति इस रस को भी महत्व दिया है और उसका अच्छा चित्रण किया है। माता के रूप में यशोधरा के हृदय से जो भाव प्रसूत हुए हैं उनसे वात्सल्य छलका पड़ता है। वीर-रस तो उनकी ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय रचनाओं का प्राण है। 'रंग में भंग' से पञ्चवटी तक वीर-रस और पञ्चवटी से द्वापर तक शृङ्गार-रस का विधान उनकी रचनाओं में है। रौद्र, बीभत्स आदि अप्रधान रूप में हैं। वृद्धावस्था के प्रभाव से अब गुप्तजी शान्त रस की ओर झुके हैं। विकास की दृष्टि से यही स्वाभाविक है।

गुप्तजी ने जितने प्रकार के छोटे-बड़े छन्द लिखे हैं, खड़ीबोली की वर्तमान कविता में कदाचित् उतने किसी ने भी नहीं लिखे। उनका पिंगल-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है और उस पर उनका पूरा अधिकार है।

गुप्तजी की छन्द-योजना

इसके साथ ही उनकी विशेषता है अन्त्यानुप्रासों पर उनका सुन्दर अधिकार। परन्तु जहाँ वह अपनी अधिकांश पंक्तियों से स्वच्छ अन्त्यानुप्रासों की सृष्टि करते हैं; वहाँ तुकों की अति-सी भी कर देते हैं। तुक मिलाने में वह अद्वितीय हैं। उनके छन्द तीन प्रकार के हैं—(१) तुकान्त, (२) अतुकान्त और (३) गीति। वह अपने इन तीनों प्रकार की छन्द-योजना में सफल हैं। विषय और प्रसंग के अनुसार उनकी छन्द-योजना उनके पिंगल-ज्ञान की परिचायक है। काव्य-साहित्य की दृष्टि से उनकी छन्द-योजना के तीन रूप हैं—(१) महाकाव्य में छन्द-योजना, (२) खंड-काव्य में छन्द-योजना और (३) गीति-काव्य में छन्द-योजना। 'साकेत' उनका महाकाव्य

है। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार एक सर्ग में एक ही छन्द रखने और अन्त में छन्द-परिवर्तन कर देने का आदेश दिया गया है। गुप्तजी ने इस नियम का पालन किया है। दो सर्गों को छोड़कर 'साकेत' का प्रत्येक सर्ग एक ही छन्द में लिखा गया है और उसके अन्त में छन्द बदल गया है। अन्त में कहीं दो से अधिक भिन्न छन्द मिलते हैं। ये सभी छन्द सर्ग के समाप्त कराने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इनमें एक उपाख्यान का अन्त होता है और दूसरे का संकेत मिलता है। दूसरी बात जो उनके महाकाव्य की छन्द-योजना के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है वह है अनेक छन्दों का सफल प्रयोग। उन्होंने पीयूष-वर्षण छन्द से 'साकेत' का आरम्भ किया है। शृङ्गार का यह मुख्य छन्द है। इसके अतिरिक्त पद-पादाकुल उपभेदों सहित, आर्या, गीति, आर्यागीति, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी राधिका, त्रैलोक्य आदि सुन्दर संस्कृत-छन्द और दोहा, घनाक्षरी, सवैया, रोला, छप्पय आदि भी उन्होंने प्रयुक्त किये हैं। विरह-भावनाओं के लिए गीतों का प्रयोग हुआ है। इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना उतना कठिन नहीं है जितना कि उनका प्रसंग के अनुसार प्रयोग करना। उनके छन्द प्राचीन हिन्दी-छन्द प्रसंगानुसार हैं और लय-युक्त हैं। उनमें न तो गति-भंग है और न यति-भंग। सब में अजस्र प्रवाह है। उनके छन्द कविता के नैसर्गिक परिधान के रूप में आये हैं।

खण्ड-काव्यों में उनकी छन्द-योजना भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक खण्ड-काव्य एक ही हिन्दी-छन्द में लिखा गया है। 'झंकार' में उनके गीतों का संग्रह है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी छन्द-योजना, भूत और वर्तमान कवियों की छन्द-योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत और प्रसंगानुकूल है। पर विभिन्न छन्दों के सफल प्रयोक्ता होने पर भी उनकी छन्द-योजना में निम्न दोष हैं—

(१) उनके छोटे-छोटे छन्दों में करुण रस का परिपाक स्वाभाविक रीति से नहीं हो पाता। ऐसे छन्द कथा की गति में भी बाधक हुए हैं। अपनी चपलता प्रदर्शित करते हुए ये कभी आगे बढ़ जाते हैं और कभी पीछे रह जाते हैं। ये भावगाम्भीर्य वहन करने में भी असमर्थ हैं।

(२) 'साकेत' के नवम सर्ग में विरहिणी उर्मिला की मानसिक दृष्टि से छन्द-परिवर्तन उचित हो सकता है, पर महाकाव्य की परम्परा की दृष्टि से यह उचित नहीं है। छन्द-परिवर्तन से कथा-प्रवाह में बाधा पड़ी है और साकेत विभिन्न छन्दों का संग्रह-सा प्रतीत होने लगा है।

(३) गुप्तजी छन्दों के ज्ञाता तो हैं, पर उनकी कला से वह अधिक परिचित नहीं हैं। छन्दों की एक-स्वरता को दूर करने के लिए उन्होंने दूसरा छन्द रख दिया है, पर पन्त की भाँति उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। इसलिए उनकी छन्द-योजना में नवीनता कम, प्राचीनता अधिक है।

गुप्तजी की शैली

गुप्तजी के काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। हम यह बता चुके हैं कि गुप्तजी काव्य-क्षेत्र में (१) प्रबन्धकार, (२) गीतिकार और (३) नाटककार हैं। अतः हम उनकी शैली भी इन्हीं रूपों में पाते हैं—(१) प्रबन्ध-शैली में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है, नीतितत्त्व में कोमल भावना और उद्गीत का और नाटक-तत्त्व में परिस्थिति का। पर वास्तव में इस प्रकार का वर्गीकरण अधिक सहायक नहीं होता। बात यह है कि कोई कवि इस प्रकार की सीमाएँ बाँध कर नहीं लिखने बैठता। गुप्तजी ने अपनी प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत शेष दोनों शैलियों को अपनाया है, अतः हम उसकी रचना-शैली का भाव, भाषा तथा कथा-प्रवाह की दृष्टि से वर्गीकरण करेंगे। इस प्रकार वर्गीकरण करने पर हमें उनकी चार प्रकार की शैलियाँ मिलेंगी—

(१) प्रबन्धात्मक शैली—गुप्तजी के अधिकांश काव्य इसी शैली में हैं। रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध' आदि इसी शैली में लिखे गये हैं। यह शैली दो प्रकार की है—(१) खण्ड-प्रबन्ध और (२) महाप्रबन्ध। 'साकेत' महाकाव्य की शैली में और शेप खण्ड-काव्य की शैली में। इन दोनों शैलियों में गुप्तजी सफल हैं। पंचवटी उनका सबसे अधिक सफल खण्ड-काव्य है। कथा का निर्वाह इन समस्त काव्यों की विशेपता है। प्रभाव की दृष्टि से साकेत के कथानक में कुछ बाधाएँ अवश्य उपस्थित हुई हैं। उसमें

मुख्य-मुख्य दृश्य चुनकर अन्वित कर दिये गये हैं। इस प्रकार उसमें कवि का काव्य-कौशल ही अधिक है। कथा-वर्णन के लिए कथोपकथन, दृश्य-चित्रण आदि के अतिरिक्त कुछ स्थानों पर भाषण और स्वगत का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं अनुमान का भी सहारा लिया है। कथा में रोचकता, औत्सुक्य की भी यथेष्ट मात्रा मिलती है। गुप्तजी जीवन की मार्मिक परिस्थितियों से पूर्णतः परिचित हैं और उनका चयन बड़ी सावधानी से करते हैं। इस प्रकार उनकी प्रबन्धात्मक शैली अपने में पूर्ण है।

(२) उपदेशात्मक शैली—इस शैली का उपयोग उन्होंने हिन्दू, गुरुकुल, भारतभारती, रंग में भंग, वक-संहार तथा जयद्रथ-बध आदि रचनाओं में प्रमुख रूप से किया है। इन ग्रन्थों में कवि का उपदेशक रूप सराहनीय है। प्राचीन कथाओं की भित्ति पर वर्तमान वातावरण के अनुकूल उनके पात्रों के मुख से निकले हुए उपदेश बड़े मार्मिक, गम्भीर और अनुकरणीय हैं। यह शैली साधारण और अलंकृत दो प्रकार की है। अलंकृत शैली में शब्दालङ्कारों की सहायता से भाषा में ओज भरा गया है। साधारण शैली में भाषा का स्वाभाविक रूप वर्तमान है।

(३) गीति-नाट्य-शैली—इस शैली में गुप्तजी ने नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया है। कथोपकथन पद्य में है, शेष गद्य में। 'अनघ' इसका उदाहरण है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'यशोधरा' भी गीति नाट्य-शैली के अनुसार लिखे गये हैं; पर यशोधरा के अतिरिक्त इस दिशा में गुप्तजी को विशेष सफलता नहीं मिली है।

(४) गीति काव्यात्मक शैली—गुप्तजी ने आधुनिक और प्राचीन शैली के ढङ्ग पर गीत भी लिखे हैं। 'झङ्कार' उनके गीतों का संग्रह है। इस संग्रह के गीतों में भावनाएँ तो संगीतमय हो उठी हैं, पर स्वाभाविक अनुभूति-चित्रण की कमी है। शब्दों में भी मिठास नहीं है। उन्होंने रहस्यवाद और छायावाद की शैली में भी गीत लिखे हैं। उनके गीत दो प्रकार के होते हैं—१. साधारण और २. अलंकृत। भाषा और अलङ्कार की दृष्टि से वह दोनों में सफल हैं। उनके गीतों में स्वाभाविक प्रभाव है, पर रहस्य-गीतों को छोड़कर शेष में तन्मयता, सौन्दर्यानुभूति और स्वाभा-

विक वेदना का अभाव-सा है।

गुप्तजी की शैली स्पष्ट, प्रभावोत्पादक, शिष्ट, संयत, गम्भीर, प्रसाद, माधुर्य और ओज से परिपूर्ण होती है। उनकी शैली में भाषा की प्राञ्जलता वर्तमान रहती है। 'हरिऔध' की भाँति भाषा की नियमबद्धता उनकी शैली में नहीं है। वह बड़े-बड़े पद नहीं लिखते। उनकी शैली में विशेष आकर्षण है जिसके कारण वह पहचाने जा सकते हैं। सारांश यह कि गुप्तजी अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं।

गुप्तजी की भाषा

गुप्तजी की भाषा खड़ीबोली है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी भाषा में न तो वे त्रुटियाँ अधिक मात्रा में हैं जो भारतेन्दु के के समसामयिक और परवर्ती कवियों की एक विशेषता रही है, और न दुरूहापन ही उसमें कहीं उल्लेख-योग्य मात्रा में देखा जाता है। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से 'अनघ' तक की भाषा में प्रायः एकरूपता का दर्शन होता है। उसमें कहीं-कहीं तद्भव शब्द आ गये हैं; पर प्राधान्य तत्सम् शब्दों का ही है। गुप्तजी की काव्य-कला का उनकी समस्त रचनाओं में ज्यों-ज्यों विकास हुआ है, त्यों-त्यों उनमें उनकी भाषा भी प्रौढ़, प्रसादपूर्ण और भावानुकूल होती गयी है। 'भारतभारती' की भाषा में जो कर्कशता, रूखापन और नीरसता है, वह उनकी अन्य रचनाओं में उत्तरोत्तर कम होती गयी है। पञ्चवटी तक पहुँचते-पहुँचते उनकी भाषा का रूप निखर आया है और उसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रसाद और माधुर्य आ गया है। बात यह है कि पञ्चवटी तक उनकी रचनाएँ भाषा के परिमार्जन-काल में लिखी गयी थीं। उस समय भाषा के संस्कार में द्विवेदीजी से उन्हें बड़ी सहायता मिली। इसलिए हम उनकी भाषा पर द्विवेदीय भाषा का अधिक प्रभाव पाते हैं। पर यह प्रभाव द्विवेदी-युग तक ही सीमित रहा; नवीन युग का आरम्भ होने पर उनकी भाषा भी नवीन हो गयी।

भाषा में दो गुण होते हैं—(१) शुद्धि और (२) शक्ति। शुद्धि के लिए उसके शब्द-कोष और व्याकरण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है और

शक्ति के लिए उसकी पद-योजना और प्रयोग कौशल आदि पर विचार करना पड़ता है। इस कसौटी पर कसने से गुप्तजी की भाषा पर सर्व-प्रथम हमें दो प्रभाव दीख पड़ते हैं—(१) संस्कृत का प्रभाव और (२) प्रान्तीयता का प्रभाव। खड़ीबोली के अन्य कवियों की भाँति गुप्तजी को भी शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भण्डार की शरण लेनी पड़ी है। उनकी भावनाओं और विचारों का संस्कृत-साहित्य से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनकी सफल व्यञ्जना करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्द ही उपयुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक विकासोन्मुख भाषा के लिए इस प्रकार का शब्द-चयन श्रेयस्कर भी होता है। गुप्तजी की रचनाओं में संस्कृत-पदावली का प्रचुर प्रयोग इसी दृष्टि से हुआ है। पर 'प्रियप्रवास' की भाँति वह संस्कृत-बहुला नहीं है। उन्होंने संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग प्रायः प्रभाव-वृद्धि की दृष्टि से ही किया है, छन्दों के आग्रहवश नहीं। कुछ शब्द अव्यावहारिक भी आ गये हैं। खड़ीबोली की स्वाभाविक शक्तियाँ उन्हें वहन करने में असमर्थ-सी हो गयी हैं। अस्तुद, त्वेष, जिष्णु आदि ऐसे ही शब्द हैं। तुक में इनसे सहायता भले ही मिल जाय, पर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और लय में इनसे अधिक बाधा पहुँची है। कुछ शब्दों का उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। संस्कृत का प्रभाव उनकी पद-योजना पर भी है। उनकी भाषा में पदावली प्रायः असमस्त है, समास कम हैं और प्रायः छोटे हैं, पर कुछ स्थानों पर काफी लम्बे भी हैं। शब्दों के लचर प्रयोग भी मिलते हैं, पर कम। कहीं-कहीं तद्भव और तत्सम शब्दों को जोड़कर भाषा का सौन्दर्य भी बिगाड़ा गया है।

गुप्तजी की भाषा पर दूसरा प्रभाव है प्रान्तीयता का। हिन्दी में अनेक प्रान्तीय बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण प्रायः वर्जित है, पर शब्द की उपयुक्तता की दृष्टि से इस नियम का सर्वथा पालन नहीं किया जाता। गुप्तजी ने ऐसे शब्दों को भी अपनाया है। जैसे, भींगना, [illegible], अकड़, [illegible] आदि ऐसे ही शब्द हैं जो उनकी भाषा में मिलते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से कहीं-कहीं भाषा को बल मिला है, पर कहीं-कहीं हानि भी हुई है। देखिए—

कहकर हाय धड़ाम गिरा।

कुछ क्रिया रूप भी प्रान्तीय हैं। कीजो, दीजो आदि में साहित्यिकता कम, पण्डिताऊपन अधिक है। उर्दू-फारसी के शब्द एकाध ही मिलते हैं और वे भी तुक के आग्रह के कारण। गुप्तजी की भाषा व्याकरण-सम्मत है। उसमें अन्वय-दोष नहीं है। वाक्य प्रायः पूरे और सुलझे हुए हैं। संवादों की भाषा पर अँगरेजी शैली का कुछ प्रभाव अवश्य है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, पर कम। कहीं-कहीं उनका स्वाभाविक रूप बदल दिया गया है। इससे भाषा का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने प्रकृत रूप में ही साहित्य की निधि हैं और उसी रूप में उनका प्रयोग उचित है।

भाषा की शक्ति की दृष्टि से गुप्तजी की भाषा में खड़ीबोली अपनी विशेषता पूर्णतया सुरक्षित रखती है। उनकी भाषा में खरापन है। तुक मिलाने में, कथोपकथन की स्पष्टता में, वाद-विवाद में, बाह्य दृश्य-चित्रण में, मानव-चरित्र-चित्रण में उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उनकी भाषा का प्रवाह प्रसंशनीय होता है। भाव शब्दों का नैसर्गिक परिधान पहनकर उनकी लेखनी से अमृत-बिन्दु के समान चू पड़ते हैं। उन्हें अपने भावों के अनुकूल शब्द-चयन की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाव स्वयं अपने लिए शब्द खोज लेते हैं। पर इतना होते हुए भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ की भाषा लचर, शिथिल, और उखड़ी हुई है। इसके दो कारण हैं, पालिश की कमी और तुक का प्रबल आग्रह। गुप्तजी अन्य कलाकारों की भाँति अपनी भाषा पर पालिश नहीं करते, उसे 'फिनिशिंग टच' नहीं देते। देखिए—

लेकर उच्च हृदय इतना, नहीं हिमालय भी जितना।

पालिश की कमी और तुकबन्दी के आग्रह के कारण उनकी रचनाओं में खड़ीबोली की खड़खड़ाहट बहुत है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि गुप्तजी की भाषा माधुर्य-शून्य है। उनकी भाषा का माधुर्य इन पंक्तियों में देखिए—

चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्य वदनी बाला।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा मानों छवि से छलक रही॥

इस अवतरण में शब्दावली स्फीत और भाषा स्वच्छ और भावानुकूल है। गुप्तजी की भाषा में एक और विशेषता है। वह सर्वत्र भाव, पात्र, प्रसंग और स्वभाव के अनुकूल होती है। जयद्रथ-बध की भाषा में थोथा गर्व, लक्ष्मण की वाणी में गरमी और ओज, राम की वाणी में आर्यों की मर्यादा, उर्मिला की वाणी में आर्य-बन्धुओं की लज्जा और शील का मार्दव, कैकेयी की वाणी उच्छ्वास तथा स्वाभिमान और राहुल की बोली में भोलापन मिलेगा। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गुप्तजी की भाषा में हमें खड़ीबोली का अत्यन्त शिष्ट, संयत और प्रौढ़ स्वरूप मिलता है।

अब तक हमने गुप्त-साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर दृष्टिपात किया और यह देखा कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में कोई-न-कोई विशेषता लिए हुए हैं। अतः अब हम यहाँ उन समस्त विशेषताओं पर ही संक्षेप में विचार करेंगे जिनके कारण उनका साहित्य वर्तमान युग में हिन्दी-साहित्य की अमर सम्पत्ति समझा जाता है।

गुप्त-साहित्य की विशेषताएँ

(१) गुप्त-साहित्य में मानव के लिए एक सन्देश है और यही उनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वह अपनी प्रत्येक रचना में सोद्देश्य हैं। 'कला कला के लिए' उनके साहित्य का लक्ष्य नहीं है। वह मानवतावादी हैं। मानव-कल्याण की प्रेरणा ही उनके साहित्य की जननी है। समाज-सेवा और राष्ट्र-सेवा द्वारा ही वह मानव को मानव बनाना चाहते हैं। उनके मानव का आदर्श है प्रेम और त्याग। 'त्याग और अनुराग चाहिए, बस यही' में उनका दर्शन और संकेत है। वस्तुतः मानव का त्याग प्रेमपूर्ण होना चाहिए। बलिदान के बदले कामना त्याग जीवन को ऊँचा उठाने की अपेक्षा उसे नीचे गिरा देता है। अतः प्रेमपूर्ण त्याग और त्यागपूर्ण प्रेम ही मानव-जीवन के ऐसे दो आदर्श हैं जिनके प्रकाश में वह

लोक ही स्वर्गलोक हो जाता है। वास्तव में मानव का कल्याण मानवत्व प्राप्त करने में ही है। अतः भगवान् राम का कथन 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया' जब तक प्रत्येक मानव का कथन नहीं होगा तब तक मानवता छटपटाती ही रहेगी— संक्षेप में गुप्त-साहित्य का यही सन्देश है।

(२) गुप्त साहित्य की दूसरी विशेषता है सामाजिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का सफल समन्वयीकरण। प्रत्येक जागरूक कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। वह अपने युग की सामाजिक प्रवृत्तियों के अध्ययन के साथ-साथ तत्कालीन साहित्यिक-प्रवृत्तियों पर भी ध्यान रखता है और फिर दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। उसका यह सामञ्जस्य-स्थापन जितना ही सबल, गम्भीर और स्पंदित होता है उतना ही उच्चकोटि का उसका साहित्य होता है। गुप्तजी के कार्यकाल में हिन्दू समाज अथवा भारतीय समाज में समाजवाद का प्रवर्तन किन-किन दिशाओं में हुआ, यह प्रवर्तन अपने साथ किस आदर्श और किस लोकमत को लाया, उस आदर्श और उस लोकमत में व्यक्त होने वाले सत्य को उन्होंने काव्य के क्षेत्र में किस परिमाण में व्यक्त किया, उन्होंने समाजवाद की प्रवृत्ति का कितना बल बढ़ाया और उनकी कृतियों द्वारा व्यक्तिवाद की कितने परिमाण में शक्ति घटी आदि प्रश्नों का उत्तर हमें उनका साहित्य देता है। और साहित्य है क्या? ऐसे ही सामाजिक प्रश्नों का उत्तर ही तो साहित्य है। साहित्य प्रत्येक युग की नाड़ी टटोलकर उसके स्पन्दन को अपनी भाषा में व्यक्त करता चलता है। इसलिए वह प्रत्येक युग के सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब कहलाता है। वास्तव में प्रत्येक युग का साहित्य दर्पणवत् होता है जिसमें उस काल से सम्बन्ध रखने वाले समाज की सभी शक्तियाँ, सभी दुर्बलताएँ, सभी आकाँक्षाएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। अपने साहित्य रूपी दर्पण में जब युग-विशेष का साहित्यकार तत्कालीन विचारों, भावों और प्रवृत्तियों के प्रतिबिम्ब रूप झलका देता है, तब वह हमारा हो जाता है और हम उसके हो जाते हैं। गुप्त-साहित्य इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण है।

(३) गुप्त-साहित्य की तीसरी विशेषता है प्राचीन पृष्ठभूमि पर नवीन

युग का अङ्कन। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनके समस्त खंड-काव्य और महाकाव्य के कथानक प्राचीन हैं। राम, कृष्ण, अर्जुन, सीता, उर्मिला, यशोधरा आदि उस युग के पात्र हैं जब हमारी संस्कृति और सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी। हिन्दू होने के नाते गुप्तजी को अपनी इस प्राचीन सभ्यता पर गर्व है और वह उसी काल से अपने काव्य की सामग्री एकत्र करते हैं। उनका विश्वास है कि राम और कृष्ण की भारत को आज भी आवश्यकता है। अपने इसी विश्वास के कारण वह पीछे ही मुड़-मुड़ कर देखते हैं और उसी से स्फूर्ति ग्रहण करके अपनी लेखनी को गतिशील करते हैं।

(४) गुप्त-साहित्य की चौथी विशेषता है उसकी मौलिकता। गुप्तजी अपनी रचनाओं में पूर्णतः मौलिक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी काव्य-सामग्री के लिए प्राचीन कथानकों का आश्रय लिया है, पर नवीन युग के साँचे में ढालकर उन्होंने उनकी प्राचीनता को नवीन रूप दे दिया है। साहित्यिक दृष्टि से वह इसलिए मौलिक हैं कि उन्होंने उर्मिला और यशोधरा जैसी उपेक्षिताओं को भी अपनाया है। उनकी दिशा नवीन है, उनके भाव नवीन हैं, उनकी छन्द-योजना नवीन है।

(५) गुप्त-साहित्य की पाँचवीं विशेषता काव्य के कथानक से सम्बन्ध रखती है। गुप्तजी ने अपने कथानकों का चयन अपने उद्देश्यानुकूल ही किया है। इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि गुप्तजी अपना आदर्श सामने रखकर कथानक ढूँढ़ते हैं, कथानक सामने रखकर आदर्श नहीं। कथानकों के विभिन्न प्रसंगों का चयन भी वह अपने आदर्शानुकूल ही करते हैं। इसीलिए हम उनके खण्ड-काव्य तथा महाकाव्य में प्रत्येक [illegible] प्रेम और त्याग का। उनके [illegible] है और [illegible] भी इसी कारण से है। [illegible] फिर भी गुप्तजी [illegible] मिलाकर [illegible] है। विभिन्न प्रसंगों को [illegible] में मिलाकर [illegible] कर देना [illegible]

[illegible] है।

(६) गुप्त-साहित्य की छठी विशेषता चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन से सम्बन्ध रखती है। गुप्तजी के चरित्र-चित्रण में पात्रों के चयन की इतनी विशेषता नहीं है जितनी उनके अन्तस् के स्पष्टीकरण की विशेषता है। प्रत्येक पात्र देश-काल का ध्यान रखते हुए मर्यादा के भीतर अपने हृदय में उठती हुई भावनाओं को व्यक्त करने में सफल है, इसलिए वह हमारे हृदय को स्पर्श ही नहीं करता, उसे आन्दोलित और अनुप्राणित भी करता है। दूसरी बात जो हमें गुप्तजी के चरित्र-चित्रण से ज्ञात होती है वह यह है कि उनके पात्र विकासोन्मुख हैं और कवि के आदर्श की पूर्ति में सहायक हैं। उर्मिला और यशोधरा यदि आर्य-पारिवारिक जीवन का आदर्श उपस्थित करती हैं तो राम लोक-धर्म का और भरत कर्त्तव्य का। एक बात और है—गुप्तजी इन समस्त आदर्शों को चित्रित करते हुए अपने चरित्र-चित्रण में उपदेशक से नहीं जान पड़ते। वह पहले से किसी चरित्र के सम्बन्ध में अपनी व्यक्तिगत धारणा बनाकर उसकी सूचना हमें नहीं देते। वह उसके कथन, कृत्य और चरित्र का दिग्दर्शन कराकर उसके विषय में कोई धारणा बनाने का स्वतन्त्र अधिकार हम पर छोड़ देते हैं। इसी प्रकार गुप्तजी अपने पात्रों के सम्बन्ध में पाठक को भी सोचने-विचारने का अवसर देते हैं।

(७) गुप्त-साहित्य की सातवीं विशेषता कवि के उत्तरोत्तर विकास से सम्बन्ध रखती है। गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता, अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करने की शक्ति। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारतेन्दु-काल निराशा का युग था। भारत-भारती की रचना ने उस निराशा को दूर किया और नव जागरण की सूचना दी। वास्तव में भारत-भारती आगामी रचनाओं की भूमिका बनकर अवतीर्ण हुई। इसके बाद उनकी द्विवेदी-युग में यह भावना राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति के साथ-साथ विकसित होकर कई खण्ड-काव्यों तथा महाकाव्यों तक पहुँची और फिर हम सत्याग्रह, अहिंसा मानववाद, विश्व-प्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम, सम्मान तथा सहानुभूति आदि की झलक उनकी रचनाओं में पाने लगे। इसी प्रकार

साहित्यिक क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा विकासोन्मुख रही। पंचवटी के पहले और उसके बाद की उनकी भाषा तथा रचना-शैली में जो अन्तर है उससे उनके क्रम विकास पर स्पष्ट प्रकाश पड़ जाता है।

(८) गुप्त-साहित्य की आठवीं विशेषता धार्मिक भावना से सम्बन्ध रखती है। गुप्तजी सौ फीसदी आस्तिक हैं, इसलिए वह आशावादी हैं। उनके पात्र दुःख में भी इसीलिए हँसते रहते हैं। उनके साहित्य में पात्रों की निराशा हमें नहीं दिखायी देती। उपासना के क्षेत्र में गुप्तजी सगुणवादी हैं और राम के विष्णुत्व में विश्वास करने वाले हैं। इसलिए समाज के प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन के प्रत्येक कार्य में वह मर्यादा का ध्यान रखते हैं। मानवतावादी भी वह इसीलिए हैं कि उनके इष्टदेव राम मानव-कल्याण के लिए ही जन्म लेते हैं। राम के वह दास हैं, इसलिए उनके स्वभाव की सारी कोमलता उनके साहित्य में मिल जाती है। वह धार्मिक आदर्श से चरित्र की, चरित्र से व्यक्ति की, व्यक्ति से समाज की, समाज से राष्ट्र की और राष्ट्र से विश्व की मंगल-कामना करते हैं।

(९) गुप्त-साहित्य की अन्य विशेषताएँ काव्य-कला-सम्बन्धी हैं। हम भाषा सम्बन्धी उनकी विशेषता देख चुके हैं। खड़ीबोली के वह आचार्य हैं। छन्दों की जैसी विस्तृत योजना उनकी है, वैसी वर्तमान युग में किसी कवि की नहीं है। तुक-प्रिय होने पर भी अतुकान्त छन्दों के आयोजन में उन्हें पूरी सफलता मिली है। इन समस्त विशेषताओं के साथ वह हमारे साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए हैं।

हिन्दी साहित्य में गुप्तजी का स्थान

गुप्तजी हिन्दी काव्य-जगत् की उन कतिपय विभूतियों में से हैं जिन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कृतियों द्वारा हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्र की शुष्क नसों में नवजीवन का पुनीत स्रोत प्रवाहित किया है और कर्त्तव्य-विमूढ़ प्राणियों को उच्चादर्श की शिक्षा दी है। उनकी रचनाओं में मानव-जीवन का सन्देश है, अतीत का गौरव है, उन वीर पुरुषों और वीराङ्गनाओं का कलापूर्ण चरित्र-चित्रण है जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अमर निधि हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय विचारों का सौन्दर्य, मानव-हृदय की

अन्तरतम प्रवृत्तियों का द्वन्द्व, परिवर्तन की पुकार और पदाक्रान्त राष्ट्र का पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए जागरण का महान् उद्‌घोष है। राष्ट्रीय उद्‌बोधन के साथ-साथ मानव-हृदय की कोमलता का गुप्तजी ने सफल चित्रण किया है। उनकी लेखनी जिस विषय को लेकर उठी है उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उसके काव्य-विषय का केन्द्र है मानव, उसकी शक्ति और दुर्बलता, उसकी आशा और निराशा, उसका आकर्षण और विकर्षण, उसका उत्थान और पतन, उसकी इच्छा और अनिच्छा, उसका सुख और दुःख, उसकी तृप्ति और तृष्णा। मानव की इन्हीं सूक्ष्म प्रवृत्तियों के बीच उनके काव्य का विकास हुआ है। उन्होंने मानव को और मानव-समाज की उन अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है, जो युगेतर और शाश्वत हैं। उनके कथानक पुराने हैं, पर उन पुराने कथानकों में भी उन्होंने नवीन युग की समस्याएँ खोज निकाली हैं। उनके पात्र प्राचीन हैं, प्राचीनतम हैं पर वर्तमान युग की बातें करते हैं, वर्तमान युग की जटिल समस्याओं पर विचार करते हैं, और उन पर अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हैं। उनके सामने राष्ट्र के प्रश्न तो हैं ही, समाज और परिवार के भी प्रश्न हैं। वह एक को अपनाकर शेष का तिरस्कार नहीं करते। वह सब पर सामूहिक दृष्टि से एक साथ विचार और मनन करते हैं। इस प्रकार वह एक ही साथ अपने जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में सामञ्जस्य स्थापित करते हैं और अपने, अपने समाज तथा अपने राष्ट्र के कल्याण का मार्ग निश्चित करते हैं ऐसी दशा में हम गुप्त-साहित्य में केवल राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का हल ही नहीं पाते, पारिवारिक जीवन के जटिल प्रश्नों का भी उत्तर पाते हैं। वह अपने राष्ट्र के ही नहीं, समाज और परिवार के भी कवि हैं। उनके काव्य में व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र का विकास हुआ है।

गुप्तजी की काव्य-प्रेरणा का आधार एक ही युग नहीं है। उन्होंने भिन्न-भिन्न युगों से अपनी काव्य-सामग्री एकत्र की है और उसे अपने आदर्श के आलोक में सजाया-सँवारा है। उनकी सहज कल्पना ने सतयुग से आज तक की भाव-भूमि पर विहार किया है और प्रत्येक युग से अपने उद्देश्यानुकूल

कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है। इसलिए उनकी रचनाएँ विषय की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की हैं ; पर वे सब एक उद्देश्य से, एक आदर्श से आपस में जुड़ी हुई हैं। उन्होंने कई खण्ड-काव्य और एक महाकाव्य लिखा है। उनके खण्ड-काव्यों में जयद्रथ-बध, पञ्चवटी और नहुष का अच्छा स्थान है। यशोधरा गीति-काव्य है। साकेत उनका महाकाव्य है। उन्होंने जितने खण्ड-काव्य लिखे हैं उतने कदाचित हिन्दी के किसी कवि ने नहीं लिखे। वह इतिवृत्तात्मक कवि हैं। उन्होंने राष्ट्रगीत और भावगीत भी लिखे हैं। गीति-नाट्य भी उनकी लेखनी से प्रसूत हुए हैं, पर इन कला-कृतियों में हमें उनके अन्तस् के कवि का प्रकृत स्वरूप नहीं दिखायी देता। गुप्तजी अपने जिस रूप में सफल कलाकार हैं, वह रूप उनका इतिवृत्तात्मक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने इस रूप में किसी नवीन आदर्श की, किसी नवीन पथ की, किसी नवीन शैली की स्थापना नहीं की। यह भी मानना होगा कि उन्होंने किसी काल्पनिक कथा का आधार लेकर वर्तमान युग की समस्त चेतनाओं को महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य का रूप नहीं दिया। यह भी स्वीकार करना होगा कि उन्होंने विश्व-प्रेम का केवल आभास कराया, उसका विस्तृत परिष्कृत स्वरूप समाज के सामने नहीं रक्खा। पर इन सब बातों के लिए उनका कवित्व दोषी नहीं, दोषी है उनका आर्य संस्कृति और सभ्यता के प्रति तीव्र मोह। वह उनकी काव्य-कल्पना और भावना को उसी सीमा तक विचरण करने का अवसर देता है जहाँ तक वह आर्य-संस्कृति की मर्यादा के अनुकूल है। गुप्तजी को अपनी संस्कृति पर गर्व है। उनका विश्वास है कि यदि हिन्दू-जाति दासता से मुक्त होकर अपनी शक्ति का संगठन कर ले तो वह विश्व का नेतृत्व कर सकती है। हिन्दू में वह कहते हैं—

मचा विश्व भर में कल-क्लेश, दोगे तुम्हीं शान्ति-सन्देश।
किन्तु तुम्हारी वाणी क्षीण, बनो प्रबल फिर बनो प्रवीण।

गुप्तजी की इन पंक्तियों में आर्य-संस्कृति के प्रति जो गौरव का भाव है वह एक सच्चे हिन्दू-हृदय की अभिव्यंजना है। इस अभिव्यंजना में संकीर्णता नहीं, साम्प्रदायिकता नहीं, उदारता और शील का आग्रह है।

आर्य-धर्म विश्व-धर्म है, मानव-धर्म है। यह शाश्वत है, चिरनूतन है। उसके सामने कोई आदर्श नया आदर्श नहीं है। गुप्तजी ऐसे ही आर्य-धर्म के पोषक हैं। इसलिए वह विश्व के कल्याण का स्वप्न भारत के कल्याण में ही देखते हैं। उनकी यह भाव-धारा समझ लेने पर हमें उनके साहित्य की दिशा समझने में बड़ी सहायता मिलती है। गुप्तजी अपनी किसी एक पुस्तक में नहीं, अपनी समस्त पुस्तकों में हैं। हमें उनके समस्त विचारों का समन्वयीकरण करके ही उनके सम्बन्ध में अपना विचार स्थिर करना होगा।

महाकवि के रूप में गुप्तजी का स्थान द्विवेदी-युग के कवियों में सबसे ऊँचा है और वह इसलिए कि उन्होंने मानव-जीवन, सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन—तीनों की समस्याओं पर एक साथ विचार किया है। साकेत का प्रत्येक पात्र जीवन अथवा राष्ट्र की किसी-न-किसी समस्या का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्तजी के काव्य का उत्कर्ष न केवल विचार या भाव में है, न शब्दों में, न लय में, न श्रुति-माधुर्य में, वरन् इन सबके समन्वय में है। उनके अनेक पदों में भाव, भाषा, लय, माधुर्य और रस की धारा बहती है।

गुप्तजी वर्तमान काल में सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी रचनाओं का आबाल-वृद्ध-वनिता सभी आनन्द लेते हैं। प्राचीन और नवीन युग की जो अनेक शैलियाँ साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किए हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी उनकी रचनाओं में मङ्गलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं। द्विवेदी-युग के कवि उन्हें प्रायः नेता के रूप में ग्रहण करते हैं। छायावादी कवि भी उनमें अपने मनोनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ खोज लेता है। राष्ट्रीय कवि उनमें राष्ट्रीयता की मर्यादा की झलक पाते हैं और समाज-सुधारकों को उनमें समाज-सुधार की बहुत-सी बातें मिल जाती हैं। गुप्तजी ने सबके लिए कुछ-न-कुछ लिखा है। इस प्रकार वर्तमान समय के सभी दलों को अल्पाधिक मात्रा में उनसे सन्तोष लाभ हो जाता है। उनके पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है। अभी गुप्तजी की अवस्था

अधिक नहीं है। उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता भी सचेष्ट है। इस समय वह गीतों की ओर अधिक झुके हुए हैं और हिन्दी-साहित्य का भण्डार गीतों से भर रहे हैं। वह जो कुछ आगे लिखेंगे भविष्य उसका मूल्याङ्कन करेगा, पर उन्होंने अब तक जो कुछ लिखा है, वह अपने में महान् है और हम उन्हें द्विवेदी-युग का सर्व प्रथम कवि समझते हैं।



५

जयशङ्कर प्रसाद

जन्म	मृत्यु
सं० १९४६	सं० १९९४

श्री जयशङ्करप्रसाद का जन्म काशी में एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य-परिवार में माघ शुक्ला दशमी संवत् १९४६ को हुआ था। उनके पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु और पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था। श्री शिवरत्न साहु बड़े दानी और दयावान् थे; प्रातःकाल गंगा-स्नान से लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक भिक्षुकों को दे डालते थे। काशी में वह सुँघनी साहु के नाम से विख्यात थे। इसीसे प्रसादजी को भी लोग सुँघनी साहु ही कहते थे।

जीवन-परिचय

प्रसादजी बाल्यावस्था से ही बड़े भावुक और काव्य-प्रेमी थे। उनके पिता व्यवसाय-कुशल, उदार और साहित्य-प्रेमी थे। काशी में उनका बड़ा नाम था। उस समय बाहर से आनेवाले कवि तथा विद्वान् सभी काशी-नरेश के दरबार से लौट कर उनके यहाँ अवश्य आते थे, और साहित्य-चर्चा

होती रहती थी। प्रसाद के भावी जीवन पर इस प्रकार के वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनका बचपन बड़े सुख से बीता संवत् १९७५ में उन्होंने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज और अयोध्या आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। बचपन की इस यात्रा का उनके भावी जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें आजीवन प्रभावित करती रही। इतनी लम्बी यात्रा उन्होंने अपने जीवन में फिर कभी नहीं की। इस यात्रा के पश्चात् उनके पिता का देहान्त हो गया और चार वर्ष उपरान्त उनकी माता भी स्वर्गवासिनी हो गयीं। ऐसी दशा में उनके जीवन की परिस्थितियाँ ही बदल गयीं।

प्रसादजी दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री शम्भूरत्न था। पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबू शम्भूरत्न को ही गृहस्थ जीवन का भार वहन करना पड़ा। प्रसादजी उस समय काशी के क्वीन्स कालेज में सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। उन्हें अपनी पारिवारिक परिस्थितियों से विवश होकर स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उनके बड़े भाई ने घर पर ही उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध किया। पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी प्रसादजी को वेद और उपनिषद् पढ़ाते थे। अँगरेजी की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध था। इस प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ प्रसादजी हिन्दी-साहित्य का भी अध्ययन करते जा रहे थे। इस समय उनके तीन काम थे—कसरत करना, अध्ययन करना और दूकान की देख-रेख रखना। दूकानदारी से उन्हें विशेष प्रेम नहीं था, पर बड़े भाई के कहने से वह वहाँ बैठा करते थे। वहाँ बैठे-बैठे वह बहीखाते के पृष्ठों पर कविता लिखा करते थे। एक दिन जब इस बात की सूचना उनकें बड़े भाई को मिली तब उन्होंने प्रसाद जी को इस कार्य के लिए बहुत डाँट-फटकार बतायी और दूकान की ओर अधिक ध्यान देने के लिए कहा, पर प्रसादजी अपना ध्येय नहीं भूले। काव्य-प्रेमी को दूकानदारी से क्या नाता! भाई के कहने से उन्होंने दूकान पर कविता करना बन्द कर दिया, पर अवकाश मिलने पर वह गुप्त रूप से कविता करते रहे। कुछ दिनों बाद जब आने-जाने वाले कवियों द्वारा प्रसादजी की समस्यापूर्ति की

प्रशंसा होने लगी तब। शम्भूरत्नजी ने उन्हें कविता करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी और थोड़े दिनों बाद वह इस असार संसार से बिदा हो गये।

भाई का मरना प्रसादजी को अखर गया। माता और पिता की मृत्यु से उन्हें इतना दुःख नहीं हुआ जितना कि भाई की मृत्यु से। इस असामयिक दुर्घटना से उनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। सत्रह वर्ष के युवक प्रसादजी संसार में निस्सहाय हो गये। परिवार के सभी लोग चल बसे थे, केवल भौजाई बच गयी थीं। ऐसी दयनीय परिस्थिति में उनकी पैतृक संम्पत्ति पर अधिकार जमाने के लिए उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का षड्यन्त्र चलने लगा। इससे उन्हें और भी चिन्ता हो गयी, पर इन समस्त कठिनाइयों का उन्होंने साहस से सामना किया और अपने साहित्यिक जीवन का स्वरूप नहीं बदला। उनका अधिकांश समय साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था।

प्रसादजी के तीन विवाह हुए। दूसरी पत्नी के देहान्त के पश्चात् उनके विचार अत्यन्त ठोस और गम्भीर हो गये थे। वह अपने विवाह के पक्ष में नहीं थे, पर भौजाई के प्रतिदिन के शोकाकुल जीवन को सुलझाने के लिए उन्हें अपना विवाह तीसरी बार करना पड़ा। इस विवाह से श्री रत्नशङ्कर उत्पन्न हुए जो इस समय अपना पैतृक व्यवसाय चला रहे हैं।

प्रसादजी का पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय नहीं था। जीवन की अत्यधिक कठोर परिस्थितियों तथा ऋण के कारण वह अधिक चिन्तित रहा करते थे। स्वभाव में अमीरी थी और दानशीलता उन्हें पैतृक सम्पत्ति में मिली थी। अतः उन्हें आर्थिक चिन्ताएँ सदैव घेरे रहती थीं। अधिक व्यय के कारण वह अपनी परिस्थिति सुधारने में असमर्थ होते जा रहे थे। ऐसी दशा में उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग बेचकर ऋण-मुक्त होना पड़ा। इस प्रकार ऋण-भार से मुक्त होने पर उन्होंने साहित्य-सेवा की ओर ध्यान दिया। अपने व्यवसाय की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था। वह चाहते तो अपने व्यवसाय में दत्तचित्त होकर अधिन धन पैदा कर सकते थे, पर उन्होंने लक्ष्मी की सेवा से सरस्वती की सेवा को अधिक महत्व दिया। उनकी दिनचर्य्या में साहित्य-सेवा का ही अधिक स्थान था। प्रातः

काल से सायंकाल तक वह या तो लिखते-पढ़ते रहते थे या लेखकों और कवियों के साथ साहित्य-चर्चा करते रहते थे। इससे उन्हें अपने व्यवसाय की ओर अधिक ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिलता था। अधिक से अधिक वह इतना ही करते थे कि यदि कोई कस्तूरी का व्यापारी आया तो उससे कस्तूरी परख कर खरीद लेते थे, और यदि भपका चढ़ा तो गुलाब और इत्रों की देख-रेख कर लेते थे। वह अपने व्यवसाय के पूर्ण ज्ञाता थे। सुर्ती, इत्र आदि हर तरह के टायलेट बनाने में वह दक्ष थे। पर इन कार्यों में उनका मन नहीं जमता था। उनकी दूकान नारियल बाजार में थी। संध्या-समय वह वहीं बैठा करते थे। वहीं साहित्यिकों का नियमित जमघट होता था। ६ बजे से ९ बजे रात तक व्यवसाय के साथ-साथ साहित्यिक चर्चा भी होती रहती थी।

प्रसादजी की अन्तरंग मण्डली बहुत बड़ी नहीं थी। वह बहुत गम्भीर स्वभाव के थे। वाचालता उनमें नहीं थी। किसी के यहाँ जाना भी उन्हें विशेष रुचिकर नहीं था। वह घर से बाहर बहुत कम निकलते थे। उनके साहित्यिक मित्रों में रायकृष्णदास, विनोदशङ्कर व्यास, मुंशी प्रेमचन्द और पं० केशवप्रसाद मिश्र प्रमुख थे। उनके समय में हिन्दी-साहित्य संसार में दलबन्दी की धूम थी। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री दुलारेलाल भार्गव प्रसाद-विरोधी दल के नेता थे। कुछ समय तक प्रेमचन्द भी प्रसादजी के विरोधी रहे, पर अन्त में दोनों मित्र हो गये। प्रसादजी अपने गम्भीर स्वभाव के कारण किसी के विरोध की चिन्ता नहीं करते थे। वह हिन्दी-साहित्य का भाण्डार अपने दृष्टिकोण, अपनी विचारधारा और अपनी चिन्तनशैली के अनुसार भरना चाहते थे। इसलिए उन्होंने किसी की आलोचना की चिन्ता नहीं की। वह स्वतन्त्र चिन्तक और गम्भीर विचारक थे। वह जानते थे कि उनके विरोधियों की आलोचना में साहित्यिक तथ्य कम, दलबन्दी की कलुषित भावना अधिक है। इसीलिए वह तर्क-वितर्क के दलदल में फँसकर अपने विचारों को गन्दा नहीं करना चाहते थे। वह आलोचना और प्रत्यालोचना से कोसों दूर रहे। उन्होंने किसी के ग्रन्थ की आलोचना भी नहीं की, किसी अन्य पुस्तक की भूमिका

नहीं लिखी। वस्तुतः विवादग्रस्त प्रश्नों में पड़ने का उन्हें व्यसन नहीं था।

प्रसादजी के समय में हिन्दी का पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था में था। अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में एकमात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था। सरस्वती सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रसाद का मतभेद था, इसलिए प्रसादजी को उक्त पत्र द्वारा प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना नहीं थी। ऐसी दशा में उनके आदेशानुसार उनके भानजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी मासिक पत्र से प्रसादजी के साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। यह सन् १६१० ई० की बात है। प्रसादजी इस पत्र को आर्थिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सहायता देते थे। कालान्तर में इस पत्र ने हिन्दी की अच्छी सेवा की। इसके द्वारा प्रसादजी की रचनाओं से हिन्दी संसार भली-भाँति परिचित हो गया। इस प्रकार जीवन की विरोधी परिस्थितियों के बीच प्रसादजी ने साहित्य के पुनीत प्रांगण में प्रवेश किया।

'इन्दु' कुछ समय तक निकल कर बन्द हो गया! 'हंस' मासिक रूप में प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में निकल रहा था। प्रसादजी इसमें कहानियाँ लिखा करते थे। उन्होंने ही इस पत्र का नामकरण किया था और इसकी योजना प्रस्तुत की थी। आवश्यकता थी एक शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र निकालने की। इस पत्र का सम्पादन-भार श्री शिवपूजनजी को दिया गया। इस प्रकार ११ फरवरी १६२६ ई० को पुस्तक-मन्दिर से 'जागरण' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। कुछ समय तक यह पत्र निकलता रहा, पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसका काम आगे न चल सका। अन्त में इसका प्रकाशन-भार मुंशी प्रेमचन्द को सौंप दिया गया। मुंशी प्रेमचन्द के सम्पादन में वह साप्ताहिक होकर निकलता रहा।

'इन्दु' और 'जागरण' की आर्थिक सहायता करने के कारण प्रसादजी की आर्थिक स्थिति फिर शोचनीय हो गयी। इसके अतिरिक्त एक नया मकान बनवाने तथा व्यवसाय द्वारा आय कम हो जाने के कारण भी उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अतः वह चिन्ता-मुक्त होने

के विचार से पुरी चले गये। पुरी में रमणीक एवं मनोरम दृश्यों ने उनके कवि-हृदय को आश्वासन तो दिया, पर मानसिक व्यग्रता बनी ही रही। इसलिए वहाँ से लौटने पर उन्होंने नियमित रूप से अपने व्यवसाय की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया, और उससे समय बचाकर वह साहित्यिक कार्य भी करते रहे।

प्रसादजी सरल, उदार, मृदुभाषी, स्पष्टवक्ता और साहसी व्यक्ति थे। व्यायाम करने का उन्हें बचपन से ही अभ्यास था। अपनी जवानी में वह एक हजार बैठक और पाँच सौ डण्ड प्रतिदिन करते थे। कुश्ती भी वह लड़ते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त पाव-आध सेर बादाम वह नित्य खाते थे। भोजन बनाने में वह कुशल थे। पुष्पों से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने घर के सामने उन्होंने एक छोटी-सी वाटिका बनायी थी, जिसमें कई प्रकार के फूल फूलते थे। नौका-विहार में उन्हें विशेष आनन्द आता था। उनका वास्तविक जीवन अत्यन्त सात्विक और स्पष्ट था। पान वह बहुत खाते थे। पत्र-व्यवहार से वह बहुत हिचकते थे। दानशीलता उनमें बहुत थी। उन्होंने अपनी कहानी अथवा कविता के लिए पुरस्कार के रूप में कभी एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) का और नागरी-प्रचारिणी-सभा से २००) का पुरस्कार जो उन्हें मिला था, उसे उन्होंने कुल मिलाकर ६००) नागरी-प्रचारिणी-सभा को दान कर दिया। कवि-सम्मेलन में जाकर कविता-पाठ करना अथवा सभापति होना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्हें अपने काम से काम था। उनकी मनोवृत्ति धार्मिक थी। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। प्रतिदिन के काम से जब उनका जी ऊबता था तब कभी-कभी सिनेमा देखने चले जाते। वह बड़े अध्ययनशील थे। प्रतिदिन नियमित रूप से संस्कृत के पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन में वह अपना समय देते थे। जीवन को इतना नपा-तुला और संयमशील रखने पर भी वह मृत्यु की भयानक चोट से न बच सके। २८ जनवरी सन् ३७ को वह बीमार पड़े। और २२ फरवरी को डाक्टरों ने यह कह दिया कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है।

राजयक्ष्मा के परिणाम से प्रसादजी भली भाँति परिचित थे। उनकी पूर्व पत्नी इसी रोग का शिकार हो चुकी थीं। इसलिए इस रोग का हाल सुनकर वह अपने जीवन से उदासीन हो गये और अन्ततः कार्तिक शुक्ला एकादशी, संवत् १९९४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रसाद की रचनाएँ

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के निष्णात पंडित और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अपने अल्पकालीन साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और वह उसकी स्थायी सम्पत्ति है। क्रमिक विकास के अनुसार हम उनकी समस्त रचनाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) पूर्व-काल (१९१०-२२), (२) मध्य-काल (१९२३–१९२९) और (३) अन्तिम-काल (१९२९–३७)

प्रसादजी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वकाल में विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार; मध्यकाल में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल तथा एक घूँट और अन्त में आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अधूरा उपन्यास इरावती की रचना की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रसादजी की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है—

(१) उपन्यास—कंकाल, तितली और इरावती अपूर्ण।

(२) नाटक—राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी।

(३) कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्र-जाल।

(४) काव्य—कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व और झरना।

(५) निबन्ध—काव्य और कला।

प्रसादजी की बहुरंगी रचनाओं को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा कई क्षेत्रों से प्राप्त हुई थी। उनके पारिवारिक जीवन के अध्ययन से यह पता चला है कि वह बचपन ही से कवियों, कलाविदों और गायकों के सम्पर्क में आ गये थे। उनके दादा दानी तो थे ही, साहित्य-प्रेमी भी थे। उनके यहाँ साहित्य-प्रेमियों का आये दिन जमघट रहता था। उनके पिता भी अपने पिता की भाँति ही उदार, दानी और साहित्य-प्रेमी थे। उनके समय में भी साहित्यिकों का आना-जाना होता था। ऐसे वातावरण का बालक प्रसाद पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः पद्य-रचना की ओर उनकी रुचि बढ़ी। इस रुचि को उनकी धार्मिक यात्रा से बहुत बल मिला। अपने जीवन के प्रभात काल में अमरकण्टक पर्वतमालाओं के बीच उन्होंने जो यात्रा की उसने उनकी कल्पना के पंख उन्मुक्त कर दिये और वह काव्यलोक में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने लगे। आधी-आधी रात तक कवि-गोष्ठियों में बैठ कर समस्या-पूर्ति करने वाले कवियों की कविता सुनना और फिर उसे मन में गुनगुनाना उनका स्वभाव-सा हो गया था। उनका यही स्वभाव कालान्तर में विकसित होकर उन्हें कवि बनाने में सफल हुआ।

प्रसाद पर प्रभाव

पर कविता सुनने और उसे अपने जीवन के सुखद क्षणों में गुनगुनाने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। कवि होने के लिए सहज प्रतिभा, अध्ययन और अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। बालक प्रसाद में प्रतिभा तो थी, पर अध्ययन और अभ्यास का अभाव था। इस दिशा में उन्हें प्रेरणा मिली ब्रह्मचारी दीनबन्धुजी से। पिता की असामयिक मृत्यु से जब उन्हें स्कूली शिक्षा को तिलाञ्जलि देनी पड़ी तब पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी ने ही उन्हें संस्कृत तथा उपनिषद् पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया। वह अपने समय के संस्कृत-साहित्य के निष्णात पंडित थे। अतः उनकी शिक्षा का बालक प्रसाद के कोमल मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्रसाद में हम जो संस्कृत-साहित्य के प्रति आस्था पाते हैं, वह केवल इसी कारण से है। वास्तव में उनका संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान ब्रह्मचारीजी की देन है, जिसे

उन्होंने अपनी यौवनावस्था में स्वयं परिपक्व बनाया है। इसी प्रकार के अध्ययन, चिन्तन और अभ्यास के आलोक में उनके कवि-जीवन का महत्त्व आँका जा सकता है।

प्रसादजी की कविताओं से यह भी ज्ञात होता है कि उनके जीवन पर बौद्ध दर्शन तथा संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। उनका कुटुम्ब शैव था। उन्होंने शैव-दर्शन का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उनके जीवन में जो स्फूर्ति और संसार के प्रति जो उत्फुल्लता का भाव हम देखते हैं वह इसी शैव-दर्शन के प्रभाव के कारण। कहानी के क्षेत्र में प्रसाद रवीन्द्रनाथ से और नाटक के क्षेत्र में शेक्सपियर और द्विजेन्द्रलाल राय से प्रभावित जान पड़ते हैं। अतः उनकी रचनाओं की आलोचना करते समय हमें उनके जीवन पर पड़े हुए इन समस्त प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

प्रसाद का उपन्यास-साहित्य

हिन्दी साहित्य के आधुनिक उपन्यासकारों में प्रसादजी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने ऐसे समय में उपन्यास लिखना आरम्भ किया जब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द के अतिरिक्त कोई कथाकार नहीं था। प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अग्रदूत थे। उन्होंने सर्वप्रथम आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी-उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया और उसमें मानव के सुख-दुःखों की पहेलियों, सामाजिक जटिलताओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का स्पष्ट आकर्षक चित्र उपस्थित किया। प्रेमचन्द के पूर्व का भारतीय कथा-साहित्य पौराणिक तथा धार्मिक था। कुछ ऐसे उपन्यास भी जनता के हाथों में दिखायी देते थे जिनमें साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य के इस रूप में परिवर्तन किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में साहसिक क्रियाओं के स्थान पर आत्मा को आश्रय दिया। इस प्रकार उन्होंने जासूसी, तिलस्मी तथा घटना-प्रधान पौराणिक उपन्यासों के युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का आयोजन किया।

प्रसादजी प्रेमचन्द के समकालीन थे। इसलिए प्रेमचन्द के पश्चात्

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रसादजी का ही स्थान है। उन्होंने तीन उपन्यासों की रचना की है—(१) कंकाल (१६२६), (२) तितली (१६३४), और (३) इरावती (१६४०)। विषय की दृष्टि से ये तीनों उपन्यास दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) सामाजिक और (२) ऐतिहासिक। 'कंकाल' और 'तितली'—दोनों सामाजिक उपन्यास हैं। इन दोनों सामाजिक उपन्यासों में जीवन की एक ही समस्या का उद्घाटन नहीं है। 'कंकाल' में विध्वंस और विद्रोह हैं; 'तितली' में निर्माण और सहयोग। पहला यथार्थवादी है; दूसरा आदर्शवादी। इस प्रकार दोनों की 'थीम' पृथक्-पृथक् है। 'कंकाल' हिन्दी-उपन्यास की किसी परम्परा से प्रभावित नहीं है, उसका अपना स्वतन्त्र स्थान है। 'तितली' प्रसाद के आदर्शवादात्मक सुधारवादी दृष्टिकोण की श्रेणी में आता है। 'इरावती' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है। यह उनकी अपूर्ण रचना है और उनकी मृत्यु के पश्चात् अपूर्ण रूप में ही प्रकाशित हुई है।

उपन्यास कला की दृष्टि से प्रसादजी के तीनों उपन्यास हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में बेजोड़ हैं। उनमें केवल कथा कहने का आग्रह नहीं है; मानव हृदय के घात-प्रतिघात की कथा भी उनका विषय नहीं है; उनमें कथा सूत्र मात्र है जो उपन्यासकार के विचारों के लिए अर्गला का कार्य करती है। इस प्रकार प्रसादजी के उपन्यास कला, टेकनीक और आदर्श के क्षेत्र में नयी रूप-रेखा लेकर उपस्थित होते हैं।

'कंकाल' में दो मुख्य कथाएँ बड़ी सतर्कता से एक सूत्र में पिरो दी गयी हैं। इनके अतिरिक्त कई छोटी-मोटी कहानियाँ भी इस उपन्यास में बिखरी पड़ी हैं। इन कहानियों का पात्रों के मुख से अथवा पात्रों द्वारा परिचय मिलता है। इनका प्रधान कथा-सूत्र से विशेष सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दशा में इन अप्रासंगिक कथाओं के सन्निवेश से 'कंकाल' का रूप कुछ विशृंखल हो गया है और पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष एवं मनोभावों के घात-प्रतिघातों के चित्रण में बाधा पड़ी है। यही कारण है कि इस उपन्यास का कोई पात्र अपने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं आता। इस उपन्यास में घटना-वैचित्र्य है, पात्रों के चरित्र का विकास नहीं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में

चारित्रिक द्वन्द्व ही घटनाओं का सृजन और उनका परिचालन करते हैं। 'कंकाल' में यह बात नहीं है। इसका एक कारण है। प्रसादजी अपने इस उपन्यास में एक विशेष सिद्धान्त से परिचालित हैं। वह अपने प्रत्येक पात्र को कुल-भ्रष्ट और संस्कृतिच्युत सिद्ध करना चाहते हैं। वह यह दिखाना चाहते हैं कि वर्णाश्रम पर गर्व करना हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा पाखण्ड है। इसीलिए इस उपन्यास के सभी पात्र संस्कृतिहीन हैं। मंगल, विजय, तारा, लतिका, गाला, मोहन सभी वर्णाश्रम-धर्म की अवहेलना करते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का एक प्रयोजन है, एक लक्ष्य है। लक्ष्य की सिद्धि में प्रसादजी सफल हैं। अपने इस उपन्यास में उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के नित्य-प्रति के जीवन के सैकड़ों चित्र बड़ी सफलता-पूर्वक उतारे हैं। इन चित्रों द्वारा उन्होंने समाज के ठेकेदारों की पोलें खोली हैं और उन्हें नग्नरूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। यथार्थ-चित्रण की अश्लीलता अवश्य है, पर उद्देश्य की अश्लीलता नहीं है।

'तितली' भारतीय ग्राम की दुर्बलताओं पर आश्रित उपन्यास है। ग्राम की दुर्बलताएँ कैसे दूर की जा सकती हैं और ग्रामों को कैसे स्वर्ग बनाया जा सकता है—इस पर भी इस उपन्यास में विचार किया गया है। इस प्रकार प्रसादजी का यह उपन्यास उनके यथार्थवादी 'कङ्काल' से सर्वथा भिन्न है। इसमें 'कङ्काल' की अपेक्षा कथानक का संगठन भी अत्य-धिक सफल है। इसमें प्रसाद की प्रतिभा समतल पर चलती है। इसमें घटना-बाहुल्य नहीं है। इसमें सारी कथावस्तु कुछ विशिष्ट संस्कार-युक्त प्राणियों के मानसिक आन्दोलनों और संस्कारजन्य प्रतिक्रियाओं के रूप में हमारे सामने आती है। इसलिए कथा की रीति में तीव्रता भी नहीं है। इसमें कथावस्तु का सम्बन्ध है धामपुर ताल्लुका से। धामपुर के जमींदार की छावनी, धामपुर, शेरकोट और बनजरिया—बस यही स्थान हैं जिनमें कथासूत्र का विकास होता है। कहने के लिए पूरे उपन्यास में दो कथासूत्र हैं; पर दोनों में इतना समन्वय, इतना हेल-मेल है कि दोनों दूध-पानी की भाँति एक हो गये हैं। इसमें कोई गौण प्रसङ्ग नहीं है। इस प्रकार हम 'तितली' में प्रसादजी की बहुत उच्च कोटि की निर्माण-कला से परिचित

होते हैं। वह अपने इस उपन्यास में प्रत्येक दृष्टि से अपने समय के उपन्यास-कारों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इसमें पात्रों के चरित्र का विकास स्पष्ट और संयत है। इसमें कई सुन्दर और कई असुन्दर चरित्र हमारे सामने आते हैं। ये चरित्र प्रधानतः चरित्रनिष्ठ नहीं, मानव-निष्ठ हैं। प्रसाद के अधिकांश पात्र इसी वर्ग के हैं। वह कथा-विकास के द्वारा अपने पात्रों के चरित्र का संगठन करते हैं। प्रेमचन्द और शरत् की कला इससे भिन्न है। ये दोनों कलाकार व्यक्तिनिष्ठ पात्रों का निर्माण करते हैं और उनके चरित्र के भीतर से कथा-विकास करते हैं। इस प्रकार प्रसाद की कला हार्डी और रवीन्द्रनाथ की कला से मेल खाती है।

'इरावती' प्रसादजी का तीसरा और अन्तिम अपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। इसमें शुङ्ग वंश से सम्बन्ध रखने वाली कथा है। भारतीय इतिहास में शुङ्गवंश और कण्व वंश ब्राह्मण-धर्म के प्रवर्तन के मुख्य नायक थे। पुष्यमित्र के समय में बौद्ध धर्म का प्रचुर प्रचार हो गया था, पर वह सामान्य जनता का धर्म नहीं हो पाया था। सामान्य जनता का धर्म अब भी ब्राह्मण धर्म था। उस समय दक्षिण के मालवों के शिव-महाकाल की पूजा जनता में विशेष रूप से सम्मानित थी। महाकाल के उपासक एक नये धर्म की उपासना में लगे थे। यह नया धर्म अहिंसा-विरोधी होने पर शिव के नृत्य-रूप का पुजारी था। वह आनन्दवादी था। 'इरावती' का प्रेमी आनन्द भिक्षु इसी आनन्दवाद का उपासक है। अपने इस उपन्यास में प्रसादजी ने शैव सिद्धान्तों के आनन्दवाद को ही मुख्यतः आश्रय दिया है। इसकी कथा अपूर्ण है। इसमें जो चरित्र हमें मिलते हैं उनसे हमें ज्ञात होता है कि प्रसादजी ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भावचित्रण की ओर ही अधिक झुके हुए थे; चरित्रों के निरूपण, विकास और विश्लेषण की ओर कम। जो भी हो, अपूर्ण होने पर भी इस उपन्यास से हमें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की झलक पूरी-पूरी मिल जाती है।

हमने अब तक प्रसाद के तीनों उपन्यासों की संक्षेप में आलोचना की। हमने देखा कि उनके तीनों उपन्यासों की तीन पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ हैं,

तीनों तीन प्रकार के प्रयोग हैं।

प्रसादजी के इन उपन्यासों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता उनके उपन्यासों की है कथानक की मौलिकता और पात्रों की स्पष्टवादिता। उनके कथानक का मानव-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। उनमें मानव-जीवन के पाप पुण्य की चर्चा इतने स्वतन्त्र ढंग से और इतने खुले शब्दों में की गयी है कि समाज को पतितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का साहस होता है। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को आश्चर्यजनक घटनाओं के दलदल से निकालकर उच्च भाव-भूमि पर उतारा है और भावी उपन्यास-लेखकों के लिए नवीन दिशा का पथ-प्रदर्शन किया है। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता हैं। वह अपने हृदय का पाप-पुण्य किसी से छिपाकर घृणा और द्वेष के पात्र नहीं बनते। उनके प्रति पाठक की सहज सहानुभूति जागरित होती है। दूसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है मानसिक द्वंद्व के सुन्दर शब्द-चित्र। समाज के बंधनों से उन्मुक्त मानव-हृदय का चित्र उतारने में प्रसादजी बड़े कुशल हैं। मनोभावों के द्वंद्व का हृदय पर ही नहीं, शारीरिक व्यापारों पर भी सम्यक् प्रभाव पड़ता है। इसलिए मनोभावों का चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ उनके उपन्यासों में हमें शारीरिक व्यापारों के भी सुन्दर और प्रभावशाली चित्र बहुतायत से मिलते हैं। तीसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है उनका दृश्य-वर्णन। वह अपने उपन्यासों में प्रकृति, ग्राम, नगर और समाज सबके सम्यक् चित्र उपस्थित करते हैं और उनसे अपने पाठकों को इतना प्रभावित कर देते हैं कि उनका हृदय उपन्यास के कथानक से क्षण भर के लिए हटने नहीं पाता। 'कंकाल' और 'तितली' में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं है। चौथी विशेषता, जिसके कारण प्रसाद उपन्यासकार समझे और माने जाते हैं, उनकी भाव प्रवणता है। भावों को जगाने में, उनको आन्दोलित, संयत और सफल बनाने में, वह अपने उपन्यास और काव्य में एक-से हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने अनुभावों के प्रचुर वैभव के साथ अपनी कोमल भावनाओं का सहज मिश्रण करके कल्पना के सहारे जिन कला-कृतियों को जन्म दिया है,

यह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। पाँचवी विशेषता उनके उपन्यासों की है भाषा की सरलता। अपने उपन्यासों में प्रसादजी अपने नाटकों की अपेक्षा अधिक चलती हुई, बोधगम्य, सरल, मुहावरेदार, प्रसाद और ओजपूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। नाटकों में उनकी भाषा अधिक क्लिष्ट और बोझिल हो गयी है। इसलिए कला की दृष्टि से परिपूर्ण होने पर भी वे पाठकों को अपने में इतना तन्मय नहीं कर पाते जितना कि उनके उपन्यास। इन विशेषताओं के अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक मानव-जीवन सम्बन्धी समस्याओं का प्रतिबिम्ब, कला और प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता सम्बन्धी विचार आदि बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनका प्रसाद के उपन्यासों में बाहुल्य है। उनके उपन्यास उन्मुक्त यौवन के प्रणय की समस्याओं के उपन्यास हैं।

प्रसाद का कहानी-साहित्य

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रसादजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के कहानीकारों में उनका प्रथम स्थान है। आधुनिक कहानी का जन्म सन् १९०९ के लगभग 'सरस्वती' के अङ्कों में होता है। प्रसादजी की पहली कहानी 'ग्राम' सन् १९११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। काल-क्रम के अनुसार मौलिक महत्वपूर्ण रचनाओं में यह कहानी सबसे पहले आती है। इसी से प्रसादजी को आधुनिक कहानी का प्रवर्तक कहा जाता है। कहानी के क्षेत्र में वह उपन्यास से कहीं पहले आ गये थे। वस्तुतः कविता, नाटक और कहानी के तीन भिन्न क्षेत्रों में उन्होंने एक साथ ही प्रवेश किया और तीनों क्षेत्रों में हिन्दी को बहुत कुछ दिया। उनकी कतिपय प्रारम्भिक कहानियाँ चित्राधार (१९१८) में संग्रहीत हैं। इन्हें हम केवल कहानियाँ कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त छाया (१९१२ और १९२९), प्रतिध्वनि (१९२६), आकाश दीप (१९२९), आँधी (१९३१), और इन्द्रजाल (१९३६) उनके पाँच कहानी-संग्रह और हैं। इन कहानी-संग्रहों से हम उनकी कहानी-क्षेत्र की सम्पूर्ण गति-विध से परिचित हो जाते हैं।

प्रसादजी की कहानियों की संख्या अधिक नहीं है। उन्होंने लगभग ७०

कहानियाँ लिखी हैं। कहानी-कला की दृष्टि से इन कहानियों का विशेष महत्त्व है। उनके समकालीन कहानीकार थे—प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक। प्रसादजी अपने समय के उच्चकोटि के कलाकार थे। उन्होंने कहानी की एक विशेष दिशा को पुष्ट किया था। प्रेमचन्द आदि ने अपनी कहानियों के यथार्थ को आदर्शवाद से पुष्ट किया; प्रसादजी ने अपनी कहानियों में रोमांस या स्वच्छन्दतावाद को प्रश्रय दिया। इस प्रकार दृष्टिकोण, कला, शैली, और अभिव्यंजना—प्रत्येक दृष्टि से प्रसादजी अपने कहानी-साहित्य के द्वारा अपने पृथक् व्यक्तित्व की सूचना देते हैं।

विषय की दृष्टि से प्रसादजी की समस्त कहानियाँ दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) ऐतिहासिक और (२) सामाजिक। इन्हीं के अन्तर्गत उनकी यथार्थवादी, रहस्यवादी, भावात्मक, प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा प्रेममूलक कहानियाँ आती हैं। उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ उनके चारों संग्रहों में मिलती हैं। कथानक, कहानी-कला तथा भाषा-शैली की दृष्टि से इस श्रेणी की कहानियाँ ही श्रेष्ठ हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का इतिहास की ओर आकर्षण उसकी मूल प्रवृत्ति है। इसमें भारतीय इतिहास के दो कालों के चित्र उतारे गये हैं—एक तो बौद्ध काल और दूसरा मुस्लिम काल। प्रसाद की बौद्ध कालीन कहानियों की अपेक्षा मुस्लिम कालीन कहानियाँ अधिक रोचक और आकर्षक हैं। 'अशोक' बौद्ध कालीन, 'जहाँआरा' मुस्लिम कालीन, और 'गुण्डा' गदर कालीन कहानियाँ हैं। इन्हीं कहानियों की श्रेणी में 'खण्डहर की लिपि' सांकेतिक और 'चक्रवती का स्तम्भ' प्रतीकात्मक कहानियाँ हैं। अपनी यथार्थवादी कहानियों में प्रसादजी का दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादी रहा है। इस प्रकार की अधिकांश कहानियाँ 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में संग्रहीत हैं। भावात्मक कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' में मिलती हैं। इन कहानियों में कहानी-तत्त्व कम, भावना का विकास विशेष है और यही भावना कहानी का सबसे बड़ा बल है। इनमें जीवन के पृथक्-पृथक् चित्र मिलते हैं। गद्य-गीत की कला के समावेश से इनका आकर्षण बढ़ गया है। इनमें प्रसादजी की एक विशेष कला के भी दर्शन होते हैं। 'छाया', 'आकाशदीप' और 'आँधी'

में उनकी प्रेममूलक कहानियाँ हैं जो कला की दृष्टि से संसार की सबसे सुन्दर प्रेम-कहानियों में परिगणित की जा सकती हैं। इनमें प्रेम के विविध रूपों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रसादजी की रहस्यवादी कहानियाँ अस्पष्ट हैं। 'हिमालय का पथिक' और 'उस पार का योगी' उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। उनकी प्रतीकात्मक कहानियों में 'प्रलय' बड़ी सुन्दर रचना है। इस प्रकार कहानीकार अपनी बात को स्पष्टतया प्रतीक के आधार पर कहता है। प्रसादजी ने चरित्र-प्रधान कहानियाँ बहुत कम लिखी हैं। उनकी 'मधुआ' इसी प्रकार की कहानी है। चरित्र-प्रधान कहानियों की भाँति उनकी आदर्शवादी कहानियाँ भी कम ही हैं। कला की दृष्टि से इन कहानियों का सन्निवेश रोमांटिक कहानियों के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। समसामयिक कहानियाँ लिखना प्रसादजी की रुचि के अनुकूल नहीं था; इसलिए इस दिशा में एक-दो कहानियाँ लिखकर ही उन्होंने सन्तोष-लाभ किया।

प्रसादजी की समस्त कहानियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से उनकी कहानी-कला का अच्छा परिचय मिल जाता है। उनकी अधिकांश कहानियाँ प्रेम, रोमांस, इतिहास, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, स्वच्छन्दतावाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद से सम्बन्धित हैं। ऐसी कहानियों में भाषा की चित्रमयता और कल्पना के काव्यमय उत्कर्ष के साथ-साथ मानव-हृदय की जो गुत्थियाँ खोली हैं, उनमें भी विशेष आकर्षण और ममत्त्व है। प्रसादजी मुख्यतः कवि और भावुक हैं। मनोविज्ञान और चारित्रिक उथल-पुथल की पकड़ में वह दक्ष नहीं हैं। वह जीवन की भावुक-परिस्थितियों के चित्रकार हैं।

प्रसादजी यथार्थवादी और आदर्शवादी—दोनों प्रकार के कलाकार हैं। उन्होंने इन दोनों वादों का समन्वय न तो अपने उपन्यासों में किया है और न अपनी कहानियों में। उनकी आदर्शवादी और यथार्थवादी कहानियाँ अलग-अलग हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उनकी कहानियों में यथार्थवाद और आदर्शवाद के संघर्ष की अपेक्षा आदर्श और रोमांस के संतुलन का आग्रह अधिक है। इसके अतिरिक्त उनके कथा-साहित्य में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह है उसकी भावु-

कता, उसकी काव्यमयता, उसका वागवैदग्ध्य, उसका पांडित्य, उसका भाव-संतुलन और उसकी शैली। प्रसाद की कहानियों में भावों का जितना उतार-चढ़ाव आपको मिलेगा उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी कहानियों के कथानक सामान्य हैं, पर अन्य अनेक कहानी-तत्वों का इतनी सजीवता के साथ कथा-सूत्र में सन्निवेश किया गया है कि उनकी प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

कला की दृष्टि से कार्य-प्रधान, कथानक-प्रधान, चरित्र-प्रधान और तावरण-प्रधान कहानियाँ होती हैं। प्रसादजी ने कार्य-प्रधान कहानियाँ लिखकर कुछ कथानक-प्रधान कहानियाँ अवश्य लिखी हैं। ऐसी कहा-यों में दैवी घटना और संयोग का विशेष हाथ रहता है; चरित्र-चित्रण, तावरण अथवा परिपार्श्व (सेटिंग) पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। स प्रकार की कहानियों की अपेक्षा वातावरण-प्रधान कहानियाँ अधिक लात्मक होती हैं। प्रसादजी की अधिकांश कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं। स प्रकार की कहानियों में वातावरण-निर्माण का आग्रह अधिक रहता और एक मुख्य भावना को कथानक का आधार बनाया जाता है। काश-दीप, प्रतिध्वनि आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इन कहानियों कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ भावों और भाषा का उत्कर्ष देखने योग्य। चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ प्रसादजी ने कम लिखी हैं। शैली की ष्टि से उन्होंने वर्णन-प्रधान, आत्मचरित्र और पत्र—इन तीनों शैलियों में हानियाँ लिखी हैं। वर्णन-प्रधान शैली में स्वयं कहानीकार ही कहानी कहता। यह शैली वातावरण-प्रधान कहानियों के लिए उपयुक्त होती है। आत्म-रित शैली को 'मैं' शैली भी कह सकते हैं। इस शैली का प्रयोग 'आँधी' र 'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रहों में हुआ है। 'देवदासी' पत्र-शैली की कहानी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी कहानी-कला के पूर्ण पण्डित हैं। न्होंने अपनी इस कला-द्वारा हिन्दी कहानी-साहित्य की जो सेवा की है उसका हत्त्व अमिट और अखण्ड है।

प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों अपने समय के महान् कलाकार हैं। प्रेम-द कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार हैं। साहित्य के विभिन्न

अंगों पर उन्होंने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द की भाँति, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबन्ध-लेखक तो हैं ही, कवि भी हैं। प्रसाद स्पष्टतः दो ही रूपों में हमारे सामने आते हैं—कवि के रूप में और नाटककार के रूप में। उनका औपन्यासिक रूप इन दोनों रूपों के सामने गौण हो जाता है; पर प्रेमचन्द का एक ही रूप है और वह है उनका औपन्यासिक रूप। अपने इस रूप में वह प्रसाद की अपेक्षा आगे बढ़े हुए हैं। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रसाद उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं; दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित कराये हैं; पर प्रसाद का साहित्य इस दिशा में इतना विस्तृत नहीं है।

प्रसादजी और प्रेमचन्द

प्रसाद के कथा-साहित्य और प्रेमचन्द के कथा साहित्य में संख्या एवं मात्रा की दृष्टि से अन्तर तो है ही, उनके दृष्टिकोण, उनकी शैली तथा उनके मानसिक विकास में भी अन्तर है। उपन्यासकार और कहानी-लेखक दोनों हैं, पर दोनों अपने-अपने पात्रों को अपने-अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अपने ढंग से, अपने दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों कलाकारों को भारत के विकृत सामाजिक आचार-विचारों के प्रति उत्कट असन्तोष है, पर उस असन्तोष को प्रकट करने का, उसे अपने पाठकों के सामने उपस्थित करने का ढंग पृथक्-पृथक् है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की जिन समस्याओं का चित्र उपस्थित किया है वह स्पष्ट हैं, सबकी आँखों के सामने हैं; पर इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जो भारतीय समाज को भीतर से खोखला बनाती जा रही हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में इसी प्रकार की समस्याओं को स्थान दिया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने जिस समाज को ऊपर से देखा है, प्रसाद की पहुँच उसके भीतर है। यही कारण है कि प्रेमचन्द जहाँ अपने उपन्यासों में किसानों की दयनीय स्थिति, सामाजिक विषमता तथा आर्थिक समस्याओं का चित्र उपस्थित करके अपने पात्रों के प्रति सहानुभूति प्राप्त करते हैं, वहाँ प्रसाद अपने उपन्यासों में इन समस्त समस्याओं की आड़ में होने वाले पापाचार

का चित्र उपस्थित करके अपने पात्रों के प्रति हमारी सहानुभूति प्राप्त करते हैं। वह वर्तमान पाखण्डपूर्ण समाज के कटु आलोचक हैं। वर्णाश्रम धर्म के थोथे आदर्श की आड़ में आज जो हमारे समाज में हो रहा है उसी का नग्न चित्र 'कंकाल' है। यदि आप 'कंकाल' के कथानक पर विचार कीजिए तो आपको पता लगेगा कि प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में धार्मिक पृष्ठ-भूमि पर भारतीय समाज के तीखे नग्न चित्र उतारे हैं जो वास्तविक और यथार्थ हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के चित्रों का अभाव है। वह समाज में फैले हुए पाप और पाखण्ड की ओर नहीं देखते। समाज के कूड़ा-कर्कट की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। वह केवल सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के चित्रकार हैं। प्रसाद अधोगामिनी प्रवृत्तियों के चित्रकार हैं। मानव-हृदय में जो पाप, पाखण्ड है उसे बाहर निकाल कर वह हमारे सामने रख देते हैं। उनकी औपन्यासिक कला का विकास पतितों को उठाने में, घृणित पात्रों को अपनाने में, हुआ है। 'कंकाल' में उनका यही यथार्थवादी दृष्टिकोण है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में कहीं आदर्शवादी और कहीं यथार्थवादी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वह यथार्थ वाद और आदर्शवाद दोनों के मोह में पड़कर अपने उपन्यासों में बराबर भटकते-से रहे हैं। वास्तव में प्रेमचन्द आदर्शपूर्ण यथार्थवादी कलाकार हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद—इन दोनों का समन्वय किया है। प्रसाद के कथा-साहित्य में इस प्रकार का समन्वय नहीं है। उनका यथार्थवादी उपन्यास—'कंकाल', उनके आदर्शवादी उपन्यास 'तितली' से सर्वथा भिन्न है। 'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास पर प्रेमचन्द की समस्याओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में प्रेमचन्द के प्रायः सभी प्रिय पक्षों का समाहार कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस एक उपन्यास में ही यह भारतीय वातावरण के अधिक से अधिक चित्र अंकित करने के प्रयास में संलग्न रहे।

कथानक की दृष्टि से भी प्रसाद और प्रेमचन्द में अन्तर है। प्रसाद ने केवल तीन उपन्यास लिखे हैं। इनमें से दो सामाजिक हैं और एक ऐति-

हासिक। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास सामाजिक हैं। उन्होंने अपने समय के समाज और उसकी समस्याओं के आधार पर ही अपने उपन्यासों के कथानकों का ढाँचा खड़ा किया है। प्रसाद मनोवृत्तियों के चित्रकार हैं। उनका उद्देश्य है परिस्थितियों के चित्रण द्वारा जनता के हृदय में उनके परिष्कार के प्रति उत्कट लालसा और वेग उत्पन्न करना। प्रसाद अपने कथानकों में शुद्ध साहित्यिक हैं। वह प्रेमचन्द की भाँति न तो साम-यिक जीवन के कलाकार हैं, और न सुधारवादी तथा उपयोगितावादी। वह साहित्य के अतिरिक्त और किसी ध्येय को लेकर नहीं चलते। उनका अधिकांश कथा-साहित्य प्रतिदिन के जीवन से प्रेरित नहीं है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में घटनाओं एवं परिस्थितियों का ऊहापोह वर्णन है; इससे उनके कथानक विशृङ्खल हो गये हैं। प्रसाद के कथानक भी इस दोष से मुक्त नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रसाद ने अपने कथानक की बहुलता का निर्वाह कलात्मक ढंग से किया है, वहाँ प्रेमचन्द के कथानक कुछ शिथिल और अस्वाभाविक से हो गये हैं। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्म-भूमि' में कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। प्रसाद के कथानक में निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं है। वह उतना ही कहते हैं जितना उन्हें कहना चाहिए। इसलिए उनके कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक और कलात्मक ढंग से होते हैं। इने-गिने स्थलों को छोड़कर उनके कथानकों में सामंजस्य का अभाव कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब दोनों कलाकारों के उपन्यासों की पात्र-कल्पना पर विचार कीजिए। प्रसाद के उपन्यासों के पात्र बड़े समाज से—समृद्धिशाली समाज से सम्बन्ध रखते हैं। प्रेमचन्द के पात्र प्रायः ग्रामीण समाज से लिए गए हैं। पर पात्रों के चरित्र की जैसी सूक्ष्म विवेचना हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है वैसी प्रसाद के उपन्यासों में नहीं है। प्रसाद ने अपने पात्रों को प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा विकास-स्वातंत्र्य अधिक दिया है। इसलिए प्रसाद के कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक अस्वाभाविक और काल्पनिक मालूम होते हैं। 'तितली' के प्रायः सभी प्रमुख पात्र अधिक भावुक हैं। इस प्रकार की

भावुकता प्रेमचन्द के पात्रों में नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रसाद स्वयं दार्शनिक और भावुक हैं। इसलिए वह अपने पात्रों को भी अपने ही रंग में रँगकर उपस्थित करते हैं। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रसाद के पात्र व्यक्ति होते हैं। वह किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते। प्रेमचन्द के पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे वर्गनिष्ठ हैं। प्रसाद के पात्र मानवनिष्ठ हैं। अपने वर्गवादी दृष्टिकोण के कारण ही प्रेमचन्द को अपने उपन्यासों में सफलता मिली है। इस दृष्टि से हटकर जहाँ उन्होंने वर्ग-रहित पात्रों की कल्पना की है, वहाँ उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। प्रसाद इस दिशा में सफल हुए हैं। वह वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों का निर्माण सफलतापूर्वक नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि प्रसाद के पात्र प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक स्वतंन्त्र और मनमौजी हैं। एक बात और है। प्रेमचन्द के पात्रों में जो चारित्रिक द्वन्द्व है वह प्रसाद के पात्रों में नहीं है। प्रेमचन्द के पात्र चरित्रनिष्ठ हैं। इस दिशा में उनकी कला शरतबाबू से मिलती-जुलती है। शरतबाबू की भाँति-प्रेमचन्द भी चरित्रनिष्ठ पात्रों का निर्माण करके उनके चरित्र के भीतर से कथा-विकास करते हैं। प्रसाद इस वर्ग के कलाकार नहीं हैं। वह रवीन्द्रनाथ तथा हार्डी की भाँति कथा-विकास के द्वारा अपने पात्रों के चरित्र-संगठन का उपक्रम करते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द और प्रसाद—दोनों कलाकार एक दूसरे से भिन्न हैं।

यह तो हुआ उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में दोनों कलाकारों के दृष्टिकोणों का अन्तर। कहानी-साहित्य के क्षेत्र में भी हमें उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होती हैं और प्रसाद की वातावरण और भावना-प्रधान। प्रेमचन्द अपनी कहानियों में सामाजिक चित्र की अवतारणा का लक्ष्य रखते हैं और प्रसाद अपनी कहानियों में मानसिक चित्र की उद्भावना करते हैं। इस प्रकार एक में वस्तु-कला है तो दूसरे में ललित-कला। टालस्टाय और तुर्गनेव की कहानी-कला में जो अन्तर है वही अन्तर प्रेमचंद और प्रसाद की कहानी-कला में पाया जाता है। टालस्टाय की कहानियाँ जनता की

कहानियाँ होती हैं, उसके दुख-सुख की, उसकी समस्याओं की कहानियाँ होती हैं; पर तुर्गनेव की कहानियाँ शुद्ध साहित्यिक होती हैं। इस प्रकार यदि प्रेमचन्द हिन्दी के टालस्टाय हैं तो प्रसाद हिन्दी के तुर्गनेव।

शैली की दृष्टि से प्रसाद, प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक गम्भीर हैं। प्रसाद की शैली पर कवित्व का पुट अधिक है। प्रेमचन्द की शैली स्पष्ट और सीधी-सादी होती है। दार्शनिकता एवं भावुकता के बाहुल्य से प्रसाद की शैली कहीं-कहीं ऐसी रहस्यपूर्ण हो जाती है कि पाठक विचारमग्न हो जाता है। इससे पाठकों के आनन्द में बाधा पड़ जाती है, पर प्रेमचन्द की शैली इस दोष से मुक्त है। वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन दोनों कलाकारों का प्रभावपूर्ण और संयत होता है। पर जहाँ प्रसाद की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण दुरूह हो जाती है, वहाँ प्रेमचन्द की भाषा अपनी सरलता के कारण पाठक के हृदय को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। शैली-सम्बन्धी इस प्रकार के अन्तर के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी हैं और प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी। दोनों कलाकारों की इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के कारण उनके पात्र भी कथोपकथन में एक ही शैली से काम नहीं लेते। प्रेमचन्द के आदर्शवादी पात्र जहाँ उपदेशक बन बैठते हैं, वहाँ प्रसाद के यथार्थवादी पात्र गम्भीर, स्पष्ट और थोड़े में बहुत कहने वाले होते हैं। प्रसाद अपनी कृतियों में आदर्शवाद की ओर संकेत करते हैं और प्रेमचन्द उसका प्रचार। प्रसाद की प्रतिभा भारतीय इतिहास और उसके प्राचीन गौरव की ओर उन्मुख है; प्रेमचन्द की प्रतिभा वर्तमान समाज और उसके कल्याण की ओर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी कला के निष्णात पंडित हैं। दोनों अपने-अपने में महान् हैं। मानवता से दोनों को प्रेम है, दोनों भारतीय समाज की विकृत अवस्था से परिचित हैं और उसका कल्याण चाहते हैं। दोनों मानव-मङ्गल के लिए समय की माँग और आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिये दोनों ने अपनी

स्वतन्त्र बुद्धि से विचार किया है, सोचा है, समझा है, और उसे जनता के सामने अपनी-अपनी शैली में उपस्थित किया है।

प्रसाद उपन्यासकार ही नहीं, नाटककार भी हैं। उपन्यासकार की अपेक्षा वह हिन्दी साहित्य-मनीषियों के बीच नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन्हीं का सर्वोच्च स्थान है। नाटक के क्षेत्र में उनका प्रवेश सन् १९१०-११ से होता है। उस समय उन्होंने एकांकी नाटकों से अपने नाट्य-साहित्य का श्री-गणेश किया। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन काल में कुल तेरह नाटकों की रचना की जिनका क्रम निम्न प्रकार है—

प्रसाद का नाट्य-साहित्य

(१) सज्जन—१९१०-११ ई० (२) कल्याणी परिणय—१९१२ ई०
(३) करुणालय—१९१२ ई० (४) प्रायश्चित—१९१४ ई०
(५) राज्यश्री—१९१५ ई० (६) विशाख—१९२२ ई०
(७) अजातशत्रु—१९२२ ई० (८) जनमेजय का नागयज्ञ—१९२६ ई०
(९) कामना—१९२३-२४ ई० (१०) स्कन्दगुप्त—१९२८ ई०
(११) चन्द्रगुप्त—१९३१ ई० (१२) एक घूँट—१९२९-३० ई०
(१३) ध्रुवस्वामिनी—१९३३ ई०

प्रसाद के इन नाटकों के रचनाकाल से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रथम पाँच नाटक लिखने के पश्चात् सात वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। इसी प्रकार विशाख तथा अजातशत्रु के पश्चात् चार वर्ष के लिए उन्होंने पुनः नाटक-रचना से अवकाश ग्रहण किया। अन्त में उन्होंने छः नाटक लिखे। इन नाटकों में से 'सज्जन' और 'प्रायश्चित' चित्राधार नामक संग्रह में संकलित हैं; 'करुणालय' प्राग-ऐतिहासिक गीति-नाट्य है; राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी ऐतिहासिक नाटक हैं। कामना रूपक है; जनमेजय का नागयज्ञ पौराणिक नाटक है और एक घूँट से संकेतवाद की प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों की रचना में प्रसाद की प्रतिभा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास

किया है, पर उनके प्रथम और अन्तिम नाटकों में इतना अन्तर हो गया है कि उसके आधार पर उनके नाटकों के सम्बन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनायी जा सकती। वास्तव में उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है। कलात्मक प्रयास अभ्यास की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों में कलात्मक प्रयास के साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। विशाख के पश्चात् धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और विचार-पद्धति विकसित और परिपक्व होती चली जाती है। उनके नाट्य-साहित्य की यह विशेषता अपने में महान् है।

प्रसाद के नाट्य-साहित्य की दो श्रेणियाँ हैं—एकांकी और सम्पूर्ण नाटक। सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, करुणालय और एक घूँट एकांकी नाटक हैं। इन एकांकियों का नाट्य-कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, पर प्रसाद की नाट्य-साधना के विकास में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके द्वारा प्रसाद ने नाट्य-रचना के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। इनमें उन्होंने काव्य की ब्रजभाषा को अपनाया है, खड़ीबोली का प्रयोग किया है और अतुकान्त नाट्य-गीत का प्रयास किया है। कथानक की दृष्टि से भी इन एकांकियों में उनके प्रयोग हुए हैं। उन्होंने प्राग-ऐतिहासिक काल से मुस्लिम काल के आरम्भ तक के पात्रों को इन एकांकियों में स्थान दिया है; उन्हें वर्तमान युग की नवीन चेतनाओं से सुसज्जित किया है। विषय और कला की यही नूतनता उन्हें नाटक-रचना में सफल बना सकी है।

प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक हैं—राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। उनके ये नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज शेक्सपियर अथवा कालिदास के नाटकों का विश्व-साहित्य में जो मान है वह इसलिए नहीं कि वे मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, अपितु इसलिए कि युग-युग से लोग उनकी कविता पढ़ते और आनन्द लाभ करते आये हैं। इसीलिए आधुनिक रोमांटिक युग में यौवन और प्रणय के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य प्रमुख अंगों के साथ नाटकों को भी अपने भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम बना

लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके नाटक अभिनयशील नहीं हैं, पर कला और काव्य की दृष्टि से वे अपने में वेजोड़ हैं। उनकी नाट्य-कला परखने के लिए हमें निम्न बातों पर विचार करना होगा—

(१) कथावस्तु—प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु सम्बन्धी सामग्री तीन प्रकार की है—१. ऐतिहासिक, २. पौराणिक और ३. भावात्मक। उन्होंने अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति और वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमलतम भावनाओं से अनुरंजित किया है। उन्होंने अपने नाटकों में जो गड़े मुर्दे उखाड़े हैं वे आज की समस्याएँ लेकर जीवित हो गये हैं। उनका शरीर पुराना है, भाव नये हैं। पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गयी है जिसके नशे से आज का साहित्य-प्रेमी झूम जाता है। उनके नाटकों में भावों और विचारों की इतनी सबल प्रेरणा है कि उसके सामने कथावस्तु गौण बन जाती है। वास्तव में कथावस्तु उनके भावों तथा विचारों का माध्यम मात्र है। इसलिए हमें उनके नाटकों में यह देखने की आवश्यकता है कि उनके पात्र क्या कहते हैं। कौन कहता है, इसकी चिन्ता और छान-बीन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों द्वारा इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ परिवर्तन भी किया है, पर एक सीमा के भीतर और बड़े कलात्मक ढंग से।

प्रसाद के समस्त नाटकों का एक ही सन्देश नहीं है। कथावस्तु की विभिन्नता के साथ-साथ उनके सन्देश भी बदलते हैं, पर ऐसे सभी सन्देश एक उद्देश्य-सूत्र से बँधे हुए हैं। उनके नाटकों का उद्देश्य है पतितों को उठाना, निराशा के गर्त में गिरे हुए प्राणियों को, पीड़ित मानव को, विश्व-मंगलकारी आशावाद का सन्देश देना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु सम्बन्धी सामग्री उस स्वर्ण युग से संकलित की है जो भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र है। इसलिए उनके नाटकों में राजनीतिक द्वन्द्व, प्रणय

के घात-प्रतिघात तथा आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ आकर्षण है, ओज है, आदर्श है ।

(२) चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण का एक विशेष स्थान होता है। यदि सच पूछा जाय तो नाटक महान् चरित्रों की एकत्रित गाथा-मात्र है। आदर्श की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में हम दो प्रकार के चरित्र पाते हैं—१. स्वाभाविक और २. परिस्थितिजन्य । परिस्थितियों से ही चरित्र बनता है और चरित्र का चित्रण भी परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इस बात का अत्यधिक ध्यान रक्खा है। उन्होंने अपने पात्र को ऐसी परिस्थितियों में रखकर उनके चरित्र का विकास किया है कि पाठक को उसे समझने में कठिनाई नहीं हो सकती। उनके पात्रों के चरित्र-विकास में एक ही सूत्र है और वह यह है कि उनका कोई भी पात्र अपने संस्कारों और जातिगत व्यवहारों से आगे नहीं जा सकता। यदि वह जाना भी चाहता है तो जीवन की परिस्थितियाँ उसे विवश कर देती हैं।

चरित्रों के दो मुख्य अंग होते हैं—१. सूचनात्मक और २. विकासात्मक। नाटकों के कथोपकथन में कुछ चरित्रों को तो हम विकासात्मक पाते हैं और कुछ को सूचनात्मक। नाटककार चरित्रों के इन दोनों अंगों का विकास १. वार्तालाप, २. स्वगत कथन, ३. दूसरों का कथन और ४. कार्य-व्यापार द्वारा करता है। प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इन चारों साधनों का सम्यक् निर्वाह किया है। उनके सम्पूर्ण चरित्र तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं—१. देवता, २. राक्षस और ३. मनुष्य। देवचरित्रों में गौतम, प्रेमानन्द और वेदव्यास आदि की गणना की जा सकती है। वे संसार में रहते हुए भी उससे तटस्थ तथा उदासीन रहते हैं। उनमें वैराग्य और निर्वेद की भावना प्रधान रहती है और इस भावना के साथ एक सात्विक वातावरण रहता है। ऐसे चरित्र उनके नाटकों में आधारभूत दार्शनिक तत्वों और धर्म-सूत्रों को तर्क-द्वारा प्रतिष्ठापित करते हैं और अपने संसर्ग में लाकर दुष्ट चरित्रों का परिष्कार तथा सुधार करते हैं। विषमता में समता लाना उनका मुख्य कार्य है। संस्कारों में परिवर्तन,

अधर्म पर धर्म की विजय, अनाचार और अत्याचार पर सदाचार का प्रभुत्व, विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करना ही मुख्य कर्त्तव्य है। ऐसे पात्र उनके प्रत्येक ऐतिहासिक नाटक में मिलते हैं। ये स्त्रियाँ भी हैं और साधु-संन्यासी भी।

असुर-चरित्रों में कश्यप, देवदत्त, शान्तिभिक्षु तथा विरुद्धक आदि की गणना की जा सकती है। मानव-स्वभाव में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर इनमें जब किसी एक की प्रधानता हो जाती है तब हम अपनी कल्पना के अनुसार देवता अथवा राक्षस-चरित्रों का अनुमान करते हैं। राक्षस-चरित्र भी परिस्थितियों की लपेट में आते हैं और अपनी प्रबल तामसिक भावनाओं के कारण समस्त वातावरण को कलुषित और विषाक्त बना देते हैं। अन्त में उनकी पराजय होती है और वे देव-चरित्रों के संघर्ष में आकर सुधर जाते हैं। तीसरे प्रकार के चरित्र मानव हैं जो संसार की तरंगों पर बहते हैं। वह रमणीय प्रलोभन और भयानक स्थिति से प्रभावित होकर घुटने टेक देते हैं। उनमें मानव की सभी दुर्बलताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रसाद ने ऐसे चरित्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का द्वार खोल दिया है। इसीलिए हमें उनके नाटकों में करुणा, क्षमा तथा प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रसाद के प्रमुख पात्र जीवन के बाह्य संग्राम के साथ-साथ स्वयं अपने साथ भी लड़ते हैं। वह आत्मचिन्तन करते हुए ही कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हें पाशविक बर्बरता को ध्वंस करने की आवश्यकता का अभ्यास होता है तो दूसरी ओर उन्हें अपने मन को संवेदनशील बनाये रखने की साधना करनी पड़ती है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्री पात्रों की प्रमुखता है। जिस प्रकार सृष्टि के मूल में स्त्रियों की प्रधानता है उसी प्रकार प्रसाद के पुरुष-पात्रों के मूल चरित्र में नारियों की। उन्हीं की सुकुमार एवं भीमाकार मनोवृत्तियों के इङ्गित पर परिचालित होकर प्रसाद के पुरुष-पात्र जीवन के विशाल रंगमंच पर नृत्य करते हैं। प्रसाद की नारी-पात्रियाँ पुरुषों को उनके कर्त्तव्य-मार्ग में उद्बुद्ध और प्रोत्साहित करती हैं। नाटककार के कौशल से पुरुष-पात्रों के तामसिक, राजसिक एवं सात्विक गुणों के अनुरूप ही उन्हें उनकी सह-

योगिनियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रसाद के नाटकों में जटिल से जटिल राजनीतिक गुत्थियाँ स्त्री-पात्रों द्वारा ही सुलझाई गयी हैं। वे कभी प्रेम के वासन्ती कुंजों में विहार करती हैं, कभी जीवन के प्रज्वलित समरस्थल में तलवारों के साथ खेलती हैं और कभी गार्हस्थ जीवन की शोभा बढ़ाती हैं। वे गायिका भी बनती हैं और जादूगरनी भी। राजनीतिक उलझनों के बीच वे छल-बल-कौशल सब से काम लेती हैं और अपने चिर अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे राजनीति-कुशला और कूटनीतिज्ञा हैं। इस दिशा में प्रसाद बंकिम बाबू के नारी पात्रों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

(३) **कथोपकथन**—कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भाव-व्यञ्जक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इसका प्रधान कार्य कथावस्तु को विस्तार देना, उसे संयत करना और उसके उत्कर्ष का साधन होना है। उसकी भाषा सजीव, शिष्ट, स्वाभाविक, संयत और गम्भीर होती है। वह पात्रों के उपयुक्त होती है और उससे पाठकों की उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है। प्रश्न और उत्तर के साथ-साथ उसमें भाषण का दोष नहीं होता। नाटकीय कथोपकथन और औपन्यासिक कथोपकथन में महान् अन्तर होता है। जहाँ उपन्यासकार अपने कथोपकथन को विस्तार देता है वहाँ नाटककार को एक उचित सीमा के भीतर शिष्ट और संयत वाक्यों में सब कुछ कह देना पड़ता है। नाटककार के कथोपकथन में अपेक्षाकृत उत्सुकता की मात्रा अधिक रहती है। प्रसाद के कथोपकथन में सब कुछ है, पर उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि पाठक को पग-पग पर अर्थ सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है।

प्रसाद उच्चकोटि के कलाकार हैं। इसलिए उनके संवाद बड़े कलात्मक होते हैं। उनका पात्रों द्वारा वस्तु-निर्देश भी बड़े कमाल का होता है। वह प्रत्येक बात बड़े अनूठे ढंग से कहते हैं। उनके संवादों में भारतेन्दुकाल के संवादों का तर्क भी रहता है और भावुकता की स्पष्ट मुद्रा भी। इस दिशा में वह 'स्वगत' और 'सूच्य' दोनों शैलियों से काम लेते हैं। कहीं-कहीं उनके पात्रों के अनावश्यक भावुक भाषण बड़े अस्वाभाविक और अरुचिकर हो गये हैं। यह प्रसाद की भावुकता का दोष है। इतना होते हुए भी उनके

नाटकों में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष देखने योग्य होता है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी संवाद की दृष्टि से उच्चकोटि के नाटक हैं।

(४) नृत्य, संगीत, दृश्य और अंक—नृत्य नाटक का एक प्रमुख अंग है। नृत्य के साथ-साथ गीत का भी स्थान है। घटना-क्रम समझाने के लिए दृश्य भी अनिवार्य होते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में इन तीनों को उचित स्थान दिया है। उनके गीत प्रायः छायावादी या रहस्यवादी होते हैं। इससे रस-परिपाक में कहीं-कहीं बाधा उपस्थित हो गयी है। नृत्य का आयोजन कम है। दृश्य दो प्रकार के हैं—(१) पथ और (२) प्रकोष्ठ। राजकीय पात्र अधिकांश प्रकोष्ठ पर दिखाए गये हैं। राजनीतिक संघर्ष के कारण व्याकुल साधारण पात्र पथ पर मिलते-जुलते हैं। पथ और प्रकोष्ठ के अतिरिक्त वन तथा उपवन की भी छटा उनके नाटकीय दृश्यों में मिलती है। स्कन्दगुप्त में दृश्यों की विचित्रता और नवीनता अधिक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी सन्निवेश किया है।

अंक और दृश्य-विभाजन में प्रसाद ने अपने नाटकों में एक ही शैली का अनुसरण नहीं किया है। राज्यश्री, विशाख और चन्द्रगुप्त में अंक तो हैं, पर प्रत्येक अंक के 'दृश्य-परिवर्तन' में उन्होंने दृश्य का प्रयोग न करके संख्या-अंकों का प्रयोग किया है। नागयज्ञ, अजातशत्रु और कामना में उन्होंने दृश्य और अंक के विभाजन वाली प्रणाली को अपनाया है। स्कन्दगुप्त में कोई संख्या-अंक भी नहीं हैं। अंक में जहाँ कहीं दृश्यान्तर आवश्यक समझा है वहाँ उन्होंने 'पट-परिवर्तन' अथवा 'पटाक्षेप' लिखकर संकेत कर दिया है। ध्रुवस्वामिनी में अंकों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

(५) अभिनयशीलता—प्रसाद के नाटक अभिनयशील नहीं हैं। भाषा की क्लिष्टता, काव्य की साहित्यिकता तथा अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने रंगमंच की शोभा बढ़ाने के लिए अपने नाटकों की रचना नहीं की। नाटक के लिए बाहरी रंगमंच ही सब कुछ नहीं है। रंगमंच को नाटककार के अनुसार अपना विकास करना पड़ता है। रंगमंच के अनुसार नाटकों की रचना करना नाटक-मंडलियों

का काम है। साहित्यिक नाटककार जब नाटक लिखने बैठता है तब उसके सामने नाट्य-साहित्य की परम्पराएँ और मानव-हृदय के अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। वह नाट्य-साहित्य की परम्पराओं का न्यूनाधिक सहारा लेकर अपनी कल्पना तथा अनुभूति से जिस नाटक की रचना करता है उसमें मानव-हृदय बोलता रहता है। वह प्रस्तुत रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता। यदि वह ऐसा करने लगे तो न तो रंगमंच का ही विकास हो सके और न नाट्य-कला का ही। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में अभिनयशीलता न होने का जो दोष है वह क्षम्य है। फिर भी कुछ काट-छाँट के पश्चात् उनके कतिपय नाटक रंगमंच की शोभा बढ़ा सकते हैं। चन्द्रगुप्त, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, तथा अजातशत्रु का अभिनय साधारण परिवर्तन के साथ बड़ी सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

(६) अन्य विशेषताएँ—उपर्युक्त पंक्तियों में प्रसाद के नाटकों की जो आलोचना की गयी है, उससे उनकी विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है, पर उन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। अतः निम्न पंक्तियों में उन्हीं पर प्रकाश डाला जायगा—

(१) प्रसाद के अधिकांश नाटक करुण सुखान्त होते हैं। इस दिशा में उन्होंने न्यूनाधिक भरत मुनि की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया है। उनके नाटकों में पहले फलागम का पता नहीं चलता, पर संघर्ष बढ़ता रहता है और अन्त में नायक को शांति प्राप्त होती है।

(२) प्रसाद के नाटकीय विधान में सर्वतोमुखी मौलिकता है। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के प्रमुख अंगों के साथ-साथ पश्चिमी सिद्धांतों का भी अनुसरण किया है। प्रस्तावना और वर्जित विषय दिखाने वाले गर्भांकों, प्रवेशकों और विष्कंभकों को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया है। उनके उच्च कोटि के नाटकों का आरम्भ उसी दृश्य से होता है जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। उनके नाटक का प्रथम अंक भावी-समस्याओं और घटनाओं की समस्त परिस्थितियों के संकेत दे देता है। इन्हीं संकेतों के आधार पर कथावस्तु का विकास होता है।

(३) कला की न्यूनाधिक स्वतन्त्रता लेते हुए भी प्रसाद ने कतिपय प्राचीन परपाटियों का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत, विदूषक और गायक का विधान प्राचीन नाट्य-परम्परा के अनुसार ही किया है। 'सज्जन' नामक एकांकी नाटक में नांदी का सर्व प्रथम आना और उसके पश्चात् सूत्रधार का अपनी स्त्री से नाट्याभिनय के लिए प्रस्ताव करना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन नाट्य-कला के प्रति उनकी सहानुभूति थी। आगे चलकर यद्यपि उनकी इस सहानुभूति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो गया, तथापि उनके कथोपकथन तथा दृश्य-वर्णन में प्राचीन परिपाटी का रंग मिलता है। वर्जित दृश्य दिखाने में उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता से काम लिया है। इस प्रकार वह कहीं प्राचीन और कहीं नवीन, दोनों एक साथ हैं।

(४) प्रसाद के नाटकों पर सामयिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का भी प्रभाव है। उन्होंने भारतीय आख्यान के पुरातन कलेवर में नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की है। भारतेन्दु-काल में लोगों का अँग्रेजी सत्ता में विश्वास था, पर बंगाल-विभाजन के पश्चात् स्वदेश-प्रेम और स्वराज्य की जो लहर फैली उसने देश की राजनीति को ही नहीं साहित्य को भी प्रभावित किया। प्रसाद इस प्रभाव से वञ्चित न रह सके। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण, उज्ज्वल और पवित्र चित्र भर दिये कि अतीत हमारे लिए वर्तमान हो गया। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा यदि पुरुष-चरित्रों में महान् हैं तो देवकी, देवसेना, अलका तथा वासवी भारतीय देवियों के चित्र हैं। ऐसे चरित्र हमारे लिए प्राचीन होने पर भी चिर नवीन हैं।

(५) प्रसाद प्राचीन इतिहास-प्रेमी हैं। उन्हें अपने प्राचीन गौरव से विशेष प्रेम है। प्रत्येक युग एक दूसरे युग का जन्मदाता होता है; अतएव वर्तमान को समझने के लिए हमें भूतकाल की ओर तथा भविष्य को समझने के लिए वर्तमान काल की ओर दृष्टिपात करना पड़ता है। इतिहास से हमें इसी प्रकार के दृष्टिपात के लिए एक प्रकाश मिलता है जिसकी साहित्य में हम अवहेलना नहीं कर सकते। प्रसाद के नाटक प्राचीन भारत की जो

झाँकी हमारे सामने उपस्थित करते हैं उससे हमें प्रोत्साहन मिलता है। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उनके सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनका यह इतिहास-प्रेम कहीं-कहीं अहितकर भी हुआ है। इससे उनका कलाकार का रूप दब-सा गया है और वस्तु-संकलन तथा कार्य-संकलन पर भी आघात पहुँचा है; पर इन दोषों के होते हुए भी उनका नाट्य-साहित्य अपने में महान् है।

(६) प्रसाद पहले रहस्यवादी कवि और बाद में नाटककार हैं। इसलिए उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर कथोपकथन करते हैं। पर सर्वत्र सभी पात्रों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। प्रसाद की शैली और विचारों का क्रमशः विकास हुआ है। इसीलिए उनके नाटक असम महत्त्व के हैं। उनकी भाषा, उनकी शैली, उनकी विचारधारा पात्रों के योग्य तथा देश और काल के सम्यक् प्रभाव से बदलती रहती है। भावावेश में ही उनकी भाषा कल्पना और अलङ्कारों का उपयोग करती है और धीरे-धीरे कवित्व का रूप धारण कर लेती है। ऐसे अवसरों पर उन्होंने अपने नाटकों में गीतों समावेश किया है।

(७) प्रसाद के नाटकों में उनकी दार्शनिकता के कारण गम्भीरता आ गयी है। इसीलिए उनमें हास्य रस का एक प्रकार से अभाव है। उनके नाटकों में करुण, शान्त, और शृङ्गार रसों की प्रधानता है। प्रत्येक नाटक का अवसान प्रायः शान्त रस में होता है।

(८) प्रसाद नियतिवादी कलाकार हैं, उनका नियतिवाद उनके नाटकों में प्रत्यक्षरूप से दिखाई पड़ता है; पर वह उनकी निराशा का, उनकी अकर्मण्यता का कारण नहीं बनता। कबीर की भाँति वह नियति से जूझने का, उससे लोहा लेने का, प्रयास करते हैं। नियति-सम्बन्धी उनकी यह धारणा उनकी विचारधारा को, उनके साहित्य को, ऊँचा उठाने में समर्थ हुई है।

हम यह बता चुके हैं कि प्रसाद के नाटकों पर बंगला-साहित्य के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव है; पर प्रसाद की मौलिकता तथा विषय की गम्भीरता ने उसे उभरने का अवसर नहीं दिया ; इसलिए

दोनों कलाकारों की कृतियों में हमें महान् अन्तर दिखायी देता है। दोनों इतिहास-प्रेमी हैं, भारत के प्राचीन वैभव के उपासक हैं; पर जहाँ प्रसाद अपने नाटकों की सामग्री बौद्ध-कालीन भारत से ग्रहण करते हैं वहाँ राय बाबू मुगलकालीन भारत से अपने नाटकों की कथावस्तु का संकलन करते हैं। हिन्दू-राष्ट्रीयता की दृष्टि से बौद्धकालीन भारत मुगलकालीन भारत की अपेक्षा अधिक वैभवपूर्ण और ओजस्वी रहा है। बौद्धकालीन भारत में हमारी सभ्यता और संस्कृति का जो रूप है वह मुगल काल में मिलना दुर्लभ है। मुगलकाल हमारी पराजय का—हमारे ह्रास का—काल है, बौद्ध काल हमारे उत्थान, यश और वैभव का! इस प्रकार प्रसाद के नाटकों का क्षेत्र द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर, रहस्यमय, जटिल और भारतीय है। इसके अतिरिक्त राय बाबू के नाटकों में मानव-हृदय और मस्तिष्क का वह अन्तर्द्वन्द्व नहीं है जो हमें प्रसाद के नाटकों में देखने को मिलता है। राय बाबू के नाटकों का मुख्य उद्देश्य है बंगीय रंगमञ्च को उन्नत करना और लोकरुचि के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करना। इसीलिए उनकी रचनाएँ अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान न होकर घटना-प्रधान हैं। इसके विरुद्ध प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना साहित्य को ऊँचा उठाने और उसका गौरव बढ़ाने के विचार से की है। वह अपने नाटकों में न तो लोकरुचि की चिन्ता करते हैं और न रंगमञ्च की। राजनीतिक क्रान्ति, प्रणय के घात-प्रतिघात और आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व के बीच वह साहित्य को—कल्याणकारी साहित्य को—जन्म देते हैं। उनका उद्देश्य है मानव-प्रवृत्तियों का संस्कार और परिष्कार। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए वह अपने नाटकों में उतनी ही घटनाओं का सन्निवेश करते हैं जितनी से उन्हें अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने में सहायता मिलती है। पर द्विजेन्द्र बाबू का उद्देश्य मानव-प्रवृत्तियों का संघर्ष उपस्थित करना नहीं है। इसलिए उनके नाटकों में उतने ही अन्तर्द्वन्द्व हैं जितने से कथावस्तु के विकास में सहायता मिलती है। यही कारण है कि राय बाबू के नाटकों में हमें जीवन की ऊपरी चहल-पहल मिलती है और

प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय

प्रसाद के नाटकों में जीवन की गम्भीरता और उसका अन्तर्द्वन्द्व।

प्रसाद तथा राय बाबू की नाट्य-कला के सम्बन्ध में जो अन्तर ऊपर की पंक्तियों में दिखाया गया है, वही अन्तर न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अन्य नाटककारों की नाट्य-कला में भी पाया जाता है। इस समय हिन्दी-साहित्य में लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन, भट्ट जी आदि उत्कृष्ट लेखक हैं; पर इन कलाकारों की कृतियों के पीछे वह साधना और वह अध्ययन नहीं है जिसके लिए प्रसाद के नाटक प्रसिद्ध हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों की कथावस्तु-सामग्री पर वर्षों मनन किया है, उसे सजाया और सँवारा है और तब उसे साहित्य का रूप दिया है। उन्होंने अपनी ऐसी कृतियों से ही हिन्दी नाट्य-साहित्य को ऊँचा उठाया है और उसे एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर किया है। उनके नाटकों के अध्ययन से हमारी अतीत की स्मृतियाँ जागरित होती हैं, हमारी भावनाओं का संस्कार होता है, हमारी राष्ट्रीयता को बल मिलता है और हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा होती है। उनके नाटकों में हम देख सकते हैं कि हम क्या थे और अब क्या हैं। इस प्रकार प्रसाद अपने नाटकों में नवभारत के स्रष्टा और उसके पथ-प्रदर्शक हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के वह अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अपने आदर्शों की स्वयं रचना और रक्षा की है। इसीलिए वह प्रभावित होकर भी प्रभावित से नहीं जान पड़ते। वह अपनी रचनाओं में अक्षरशः मौलिक हैं। उन्होंने अपनी रुचि और अपनी प्रतिभा के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतन्त्र शैली बनाली है और उसका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

प्रसाद ने उपन्यास, कहानी और नाटक ही नहीं, उत्कृष्ट निबंध भी लिखे हैं। उनके निबंधों की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में

प्रसाद का निबन्ध-साहित्य

उनके वे निबंध आते हैं जो प्रारम्भिक काल में लिखे गये हैं और चित्राधार में प्रकाशित हुए हैं। चित्राधार में पाँच प्रबन्ध हैं—दो कथा-प्रबन्ध के रूप में और तीन गद्य काव्य के रूप में। इन निबन्धों की शैली

शिथिल, असंयत और बिखरी हुई है। उनके दूसरे प्रकार के वे निबन्ध हैं जो उन्होंने भूमिका के रूप में लिखे हैं। इन निबन्धों से उनकी साहित्यिक पहुँच, उनकी अध्ययनशीलता तथा उनके साहित्यिक आदर्शों का पता चलता है। कामायनी महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् इन्द्र पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था और उसके लिए उन्होंने सामग्री भी एकत्र की थी। यह सामग्री निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुई और इससे पता चला कि इन्द्र ही प्राचीन आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। इसमें प्रसाद की प्रखर प्रतिभा और गवेषणाशक्ति का आभास मिल जाता है।

तीसरी श्रेणी में प्रसाद के उन निबन्धों की गणना की जाती है जिनका संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से किया गया है। यह निबन्ध भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों की उनके प्रथम निबन्धों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने बीस वर्ष की अवधि में अपने को कितना ऊँचा उठाया है।

प्रसाद की काव्य-साधना

प्रसाद की प्रतिभा के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वह प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। हम यह भी लिख चुके हैं कि उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण से ही सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा मिली थी। वह अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्यापूर्ति करने वाले कवियों की कविताओं का आनंद लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात-काल में जो कविताएँ कीं, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। इस प्रकार वह प्राचीन युग की काव्य-साधना के अग्रगामी बन गये। रचना-क्रम के अनुसार उन्होंने सात काव्य-ग्रन्थ—१. कानन-कुसुम, २. महाराणा का महत्त्व, ३. प्रेम-पथिक, ४. झरना, ५. आँसू, ६. लहर और ७. कामायनी लिखे हैं। इन काव्य-ग्रन्थों की

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम, शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल॥

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद मानव-सौन्दर्य के चित्रण में बड़े कुशल थे। उनकी दृष्टि बाह्य-सौन्दर्य के तरलतम तत्वों पर ही पड़ती थी। नारी-सौन्दर्य के चित्रण की जो परम्परा विद्यापति और सूरदास के काव्य में होती हुई देव और पद्माकर तक पहुँची थी, उसके वह विरोधी थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को नारी के नग्न सौन्दर्य के चित्रण से सर्वथा अछूता ही रक्खा।

(५) प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण—मानवीय सौन्दर्य में चित्रण के साथ-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण भी प्रसाद के काव्य की एक विशेषता है। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी दृष्टि सर्वप्रथम प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण गति-विधानों पर ही गयी थी। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी काव्य-प्रेरणा का मुख्य आधार प्राकृतिक सौन्दर्य ही है। प्राकृतिक सौन्दर्य ने ही उनकी काव्य-कला को वाणी दी है और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया है। उनकी समस्त रचनाएँ प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य में हमें प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं। रहस्यात्मक इसलिए कि उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम को दर्शन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा किया है। कामायनी में प्रकृति के इसी विराट् एवं रहस्यमय रूप का अङ्कन है। कथावस्तु में प्रकृति को इस प्रकार गूँथ दिया गया है कि दोनों को पृथक् करना कठिन हो जाता है। आरम्भ में प्रलय का चित्र देखिये—

नीचे जल था, ऊपर हिम था; एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन॥

प्रकृति की रहस्यमयी सत्ता का एक चित्र देखिये—

महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्-कण करते हैं किसका सन्धान॥

'लहर' में सूर्योदय का एक सुन्दर चित्र देखिये—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला॥

वस्तुतः, प्रसाद के प्राकृतिक चित्रों का ऐश्वर्य और उनका वैभव अद्भुत है। वह जिस दृश्य का वर्णन करते हैं, उसका पूरा चित्र कुशल चित्रकार की भाँति पाठकों के सामने उतार देते हैं।

(६) भाव-सौन्दर्य की स्थापना—हम पहले पढ़ चुके हैं कि प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही मार्मिक, सजीव और हृदयग्राही चित्र उतारे हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी और कुछ प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी। इन कविताओं में भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं है जितनी विषय-विन्यास की नवीनता। प्रसाद का भाव-सौन्दर्य देखने के लिए हमें आँसू, झरना, लहर, कामायनी तथा नाटकीय गीतों का अध्ययन करना चाहिए। इन काव्य-ग्रन्थों में भावों का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद हर्ष-विषाद-युक्त मानवीय मनोभावों के कवि हैं। वह मानवीय मनोभावों से इतने प्रभावित हैं कि मानव ही उनके चिंतन की इकाई बन गया है। हमें उनकी रचनाओं में सौन्दर्य और प्रेम के मनोवृत्यात्मक तथा वर्णनात्मक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ इस प्रकार गँठबंधन हो गया है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण प्रतीत होता है। उनके सौन्दर्य और प्रेम में ऐहिक भावना के साथ-साथ मानवीय मनोवृत्तियों को उन्नत रूप देने वाली उदात्त भावनाएँ भी हैं। उनकी ऐसी उदात्त भावनाओं में ही हमें उनके रहस्यवाद का परिचय मिलता है। यौवन के प्रति कवि के आग्रह का एक चित्र लीजिए—

यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पीलूँ जो रस तू है लाया॥

प्रसाद के यौवन के चित्र बड़े संयत, गम्भीर और आदर्श की पूर्ति में सहायक होते हैं। यद्यपि ऐसे चित्रों के अङ्कन में कल्पना का योग अत्यधिक रहता है, तथापि वे वास्तविक से जान पड़ते हैं। यौवन का एक चित्र और लीजिए—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अञ्चल में दीप छिपाये!
जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आये।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद अपने भावों के सुन्दर चित्र उतारने में बड़े कुशल हैं। उनकी भावाभिव्यंजना आकर्षक, सरस, सांकेतिक और वैभवयुक्त होती है।

(७) रहस्यवाद और छायावाद—प्रसाद वर्तमान युगके प्रथम छायावादी कवि थे। उन्होंने हिंदी-काव्य-जगत् में छायावाद की मधुर रागिनी उस समय छेड़ी थी जिस समय बंगला साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की धूम थी। वह उनकी गीताञ्जलि से बहुत प्रभावित थे। हम पहले कह चुके हैं कि उनके कवि-रूप को सार्थक बनाने में प्रकृति का बड़ा हाथ था। वस्तुतः प्रकृति ही उनके मस्तिष्क और हृदय को, उनके विचारों और भावों को एक सूत्र में बाँधकर अभिनव रूप देने में समर्थ हुई थी। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति अपने मनमोहक रंगस्थल में खड़ी होकर उन्हें अपनी ओर बुला रही थी और वह उसके संकेत पर उसकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। प्रकृति-सुन्दरी के इस प्रकार के आकर्षण के साथ-साथ उन पर अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। ऐसी दशा में उनका छायावादी हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः प्रसाद को छायावादी कवि बनाने में चार बातें मुख्य हैं। (१) प्रकृति-प्रेम, (२) अज्ञात के प्रति उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, (३) दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन और (४) गीताञ्जलि का प्रभाव। इन्हीं प्रभावों के कारण उन्होंने प्रकृति में मनुष्य का—मानव जीवन का—प्रतिबिम्ब देखा है और उसे प्रकृति की छाया में चित्रित किया है। छायावादियों के दो वर्ग होते हैं—

एक तो अन्योक्ति कहकर उपदेश देने वाले और दूसरे कवि। प्रसाद दीनदयालगिरि की भाँति अन्योक्तियों का सहारा लेकर उपदेश नहीं देते; वह छयावादी कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वह बाह्य परिस्थितियों की भावुकता के संचालक अथवा उनसे संचालित जीवन के रहस्यों से उद्वेलित होते हैं। ऐसी दशा जब उनके काव्य-जीवन में आती है तब वह रहस्यवादी हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद अपनी रचनाओं में कहीं छायावादी और कहीं रहस्यवादी के रूप में देखे जाते हैं। छायावादी कवियों की भाँति रहस्यवादी कवि भी दो प्रकार के होते हैं—एक विचारक और दूसरे कवि। प्रसाद रहस्यवादी कवि हैं और उनके ये दोनों रूप—छायावादी और रहस्यवादी—आनन्दमय हैं। रहस्यवादी कवि के रूप में वह आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए हैं और छायावादी कवि के रूप में वह प्राकृतिक सौंदर्य में मानव-जीवन का सौंदर्य देखते हैं। छायावाद का उदाहरण लीजिए—

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला॥

रहस्यवाद का उदाहरण लीजिये—

गूँज उठी तेरी पुकार कुछ मुझको भी दे देना,
कन कन विभव दान कर अपना यश ले लेना॥

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ?
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
हे विराट्! हे विश्व देव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान॥

(८) प्रेम-साधना—प्रसाद प्रेम और वासना की मीमांसा करने वाले हिन्दी के प्रथम कवि हैं। प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है। उनका प्रेम-निरूपण न तो एकदम अलौकिक है और न एकदम लौकिक। लौकिक और अलौकिक के बीच उनकी प्रेम-भावना का विकास हुआ है। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का संकेत पाता है। प्रेम-निरूपण की

यह धारणा सर्वथा नवीन है। भक्ति-काल के कवियों ने प्रेम को इतना ईश्वरोन्मुख बना दिया था कि उसमें लौकिक पक्ष का अभाव हो गया था। इसके विरुद्ध रीतिकाल में कवियों ने प्रेम के लौकिक पक्ष को ही प्रधानता दी थी। प्रसाद ने इन दोनों मार्गों के बीच अपना मार्ग बनाया। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय संस्कृति और युगानुकूल भावना का भी ध्यान रक्खा। वह जीवन को अनन्त मानते थे, इसलिए उनकी प्रेमभावना भी अनन्त थी। कामायनी में उन्होंने प्रेम के राजस, तामस और सात्विक तीनों रूपों का चित्रण किया है। इड़ा राजस प्रेम का प्रतीक है, मनु तामस प्रेम के प्रतीक हैं और श्रद्धा सात्विक प्रेम की प्रतीक है। श्रद्धा प्रेम का संदेश लेकर आयी है। मनु का प्रेम उद्दाम, वासना-प्रधान और कायिक है। काम और वासना शीर्षक सर्गों में इसी उद्दाम प्रेम की विस्तृत मीमांसा की गयी है।

प्रसाद की अलंकार और रस-योजना

प्रसाद मुख्यतः भाव-लोक के कवि हैं और रीतिकालीन परम्पराओं की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसलिये हम उनके काव्य में अलंकार अथवा रस की कोई निश्चित योजना नहीं पाते, भावों का चित्रण ही उनके काव्य का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में अलंकारों तथा रसों का विधान गौण रूप से हुआ है। उनकी रचनाओं में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अधिक मिलते हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी अनूठी और आकर्षक होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में जहाँ उन्होंने अलंकारों का उपयोग किया है, वहाँ भी उपमा, रूपक इत्यादि की ही अधिकता है और रूपकों में भी नारी-सापेक्ष प्रकृति की सांग-रूपकता का ही प्राधान्य है।

अलंकारों की भाँति रसों का आयोजन भी प्रसाद के साहित्य में गौण है। उनके काव्य में रस-परिपाक अपने स्वाभाविक रूप में हुआ है। भावों तथा कल्पनाओं की क्लिष्टता के कारण कहीं-कहीं रस-परिपाक में बाधाएँ भी उपस्थित हुई हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार-रस-प्रधान होती हैं जिनका पर्यवसान शान्त रस में होता है। इन दो रसों के अतिरिक्त करुण-रस का भी उनकी रचनाओं में प्राधान्य है।

प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य कई छन्दों में है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रायः घनाक्षरी में हैं। खड़ीबोली में अपने विशिष्ट काव्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने नये छन्दों का आयोजन किया है। इन नये छन्दों में अतुकान्त छन्दों का प्रमुख स्थान है। प्रेम-पथिक इसी छन्द में लिखा गया है। यद्यपि उसके पहले भी कुछ अतुकांत कविताएँ लिखी गयी थीं, तथापि भाव एवं भाषा के सामञ्जस्य की दृष्टि से जैसी रोचकता प्रसाद के अतुकांत छन्दों में पायी जाती है, वैसी उनमें नहीं है। प्रसाद ने भाव और छन्द को एक नवीन आवरण देने की अभिलाषा से ही अतुकांत छंदों की सृष्टि की है। काव्य में अतुकांत छंदों की आवश्यकता पड़ती है—गीति-नाट्य अथवा कथात्मक प्रबन्ध-काव्य में। प्रसाद ने गीति-नाट्य 'करुणालय' अतुकांत छंदों में ही लिखा। इस समय अतुकांत छंद के दो रूप सामने हैं—एक गुप्तजी द्वारा अनुवादित मेघनाद बध का घनाक्षरी से उत्पन्न मिताक्षरी छंद और दूसरा घनाक्षरी के प्रभाव के अनुरूप निराला का अतुकांत मुक्त छंद। प्रेम-पथिक के अतिरिक्त प्रसाद ने जो अतुकांत कविताएँ लिखी हैं वे प्रायः घनाक्षरी छंद के प्रवाह पर ही चली हैं। प्रेम-पथिक में उनके अतुकांत छंदों का नवीन प्रयोग है। अपने इस प्रयोग में भी वह सफल हैं। उन्होंने पंत और निराला जैसी स्वतंत्रता से अपने अतुकांत छंदों से काम नहीं लिया है। उन्होंने 'सॉनेट' (Sonnet) जैसी अँग्रेजी और त्रिपदी और पयार जैसे बंगाली छंदों का भी बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अपने काव्य-ग्रन्थ 'आँसू' में उन्होंने एक निश्चित छंद का प्रयोग किया है। यह बड़ा लोक-प्रिय छंद है। कामायनी का अन्तिम सर्ग इसी छंद में लिखा गया है। इन छंदों के अतिरिक्त कामायनी में ताटंक, पादाकुलक, रूपमाला, सार, रोला आदि छंद भी मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अपनी छन्द-योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं।

प्रसाद की छन्द-योजना

भाषा की दृष्टि से प्रसाद का साहित्य अपनी कई विशेषताओं के साथ हमारे सामने आता है। हम यह बता चुके हैं कि वह उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवयुग का साहित्य निर्माण करने में भाषा का

बहुत ध्यान रक्खा । उनकी भाषा हमें दो रूपों में मिलती है—व्यावहारिक भाषा और संस्कृत-प्रधान भाषा ।

प्रसाद की भाषा

आरम्भ में उनकी रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी, पर ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, विचारों और भावों में परिपक्वता आती गयी, त्यों-त्यों उनकी भाषा भी गम्भीर होती गयी । इसीलिए उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में हमें व्यावहारिक भाषा मिलती है । गद्य में उनकी भाषा खड़ीबोली है, पर पद्य में उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों का प्रयोग किया है । इस कारण से उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रभाव में बाधा भी पड़ी है । इसके बाद हमें उनकी संस्कृत-प्रधान भाषा मिलती है । मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गम्भीर विषयों के विवेचन में ही उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है । ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा संस्कृत तत्सम शब्दावली से युक्त होने के कारण क्लिष्ट अवश्य हो गयी है, पर उसकी स्वाभाविकता और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है । उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं है । संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारों का अनुगमन करती है । उनका शब्द-चयन अद्वितीय है । उनकी रचनाओं में एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ ज्ञात होता है । उनके वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते हैं, और विचारों की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है । उनकी रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की भाँति प्रतीत होते हैं । मुहावरों का उनकी रचनाओं में अभाव है, पर वह खटकता नहीं । कुछ मुहावरे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं, जिससे उनका सौन्दर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है । कहावतें तो मिलती ही नहीं । गम्भीर विषयों के विवेचन में इनकी आवश्यकता नहीं रहती । कदाचित् इसी कारण उन्होंने मुहावरों तथा कहावतों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजाने की चेष्टा नहीं की । उनकी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं । नाटकीय कथोपकथन में उन्होंने सामान्य पात्रों की भाषा एक-सी है, इसलिए उसमें अस्वाभा-

विकता आ गयी है। पात्रों के अनुकूल ही उनकी भाषा का उतार-चढ़ाव होना चाहिए। नाटकों की भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से कठिन है, पर उसमें सर्वत्र माधुर्य, ओज और प्रवाह बना हुआ है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इसलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते। मिल्टन और स्टीवेन्सन की भाँति उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है। वह विचारक, समालोचक और तत्वदर्शी हैं। इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गम्भीर विषयों में पहुँच है। पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों के साथ खेल किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपने मनोभावों के स्पष्टीकरण में सहायता ली है और वह सफल हुए हैं। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वह लिखते गये हैं, त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, सौन्दर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है।

भाषा की भाँति प्रसाद की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। उनकी शैली पर उनके विषय, उनकी स्वाभाविक रुचि, उनके गम्भीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है। इसलिए उसमें इतना

प्रसाद की शैली

अपनापन है, इतना 'प्रसादत्व' है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता। वह अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए-से जान पड़ते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उनमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। वह अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सहृदय भी। प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह जैसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है। यह चमत्कार वह अपनी

रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वह अपने पाठक के दुःख-सुख को, उसकी आशा निराशा को, उसके उत्थान-पतन को, उसके अनुराग-विराग को, समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वह भावावेश में आते हैं तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठक को अपने में निमग्न कर लेती है। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दों द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब जगह हमें उनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती है। कहीं-कहीं इस प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मार्मिक व्यंग्य का भी समावेश किया है। ऐसे स्थलों पर उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता दोनों समान रूप से लेते हैं।

यह तो हुई उनके गद्य-साहित्य की बात। पद्य-साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नए ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्त्व रखता है। वह अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अँगरेज़ी, बंगला तथा संस्कृत-साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके साहित्य की इतनी स्पष्ट छाप है कि उनका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में कहना चाहें तो केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी शैली सरल, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण ओजस्वी, भावव्यञ्जक, चुटीली और परिवर्तनशील होती है। निर्भीकता उनकी शैली का विशेष गुण है।

हिन्दी-साहित्य में प्रसाद का स्थान

थी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के वह निर्माता थे। उन्होंने अपने अध्ययन और चिन्तन से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और अपनी रचनाओं का दान देकर उसे सबल और प्रौढ़ बनाया। क्या नाटक, क्या कहानी और उपन्यास, क्या गीति-काव्य और महाकाव्य, क्या इतिहास और निबन्ध, सब उनकी प्रतिभा से प्रवित्र और पुष्ट हुए हैं। एक ओर उनकी कविताएँ साहित्य के निष्णात पंडितों और आचार्यों के समीप समादृत हुई हैं तो दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनेक कवियों का पथ-प्रदर्शन किया है। हिन्दी के कथा-क्षेत्र में वह एक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। उनका नाट्य-साहित्य अपने ढंग का निराला और अद्वितीय है। उसमें पात्रों की नवीनता और भावों की गम्भीरता के साथ-साथ चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। उनके उपन्यास उच्च वस्तुवादी कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं और उनमें समाज-निर्माण की कई नवीन समस्याओं का विश्लेषण है। जिस प्रकार गुप्तजी को काव्य के क्षेत्र में कथा-वस्तु द्वारा भावोद्भावना होती है, उसी प्रकार प्रसाद को उपन्यास के क्षेत्र में भाव एवं विचार द्वारा कथा-सृष्टि की स्फूर्ति मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में निम्न वर्ग के—ग्रामीण जीवन के—चित्र बड़ी सफलता-पूर्वक उतारे हैं और प्रसाद ने उच्च वर्ग के नागरिक जीवन के। इसलिए प्रसाद के पात्र अपनी-अपनी शिक्षा के आलोक में प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता और विचारक हैं। उनमें पतितों के प्रति सहानुभूति और करुणा का भाव है। इसका एक कारण है। प्रसाद ने अपनी साहित्य-साधना में बौद्ध-साहित्य एवं दर्शन से करुणा का बौद्धिक दृष्टिकोण ग्रहण किया और हिन्दू-दर्शन एवं उपनिषद्, विशेषतः वेदान्त, से स्थायी एवं विराट् चेतना का आधार लिया। इसके साथ शैव-तत्त्व-ज्ञान से उनको आनन्द और उत्फुल्लता तथा उसी के साथ शक्ति के अभेदत्व की अनुभूति प्राप्त हुई। इस प्रकार तीन तत्वज्ञानों से उन्होंने अपनी साधना का सूत्र ग्रहण किया और उनको अपनी बुद्धि एवं चेतना के प्रकाश में एक उज्ज्वल और कल्याणकारी रूप प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं

कि उनकी साधना का सारा आधार बौद्धिक था। अपनी इसी बौद्धिक प्रतिभा और शक्ति के कारण उन्होंने जीवन के अनेक संघर्षों से लोहा लिया और अन्ततः वे साहित्य-स्रष्टा के रूप में सफल हुए।

प्रसाद का जन्म दो शताब्दियों के संक्रान्ति-काल में हुआ था। वह उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हुए और बीसवीं सदी में पनपे; पर इन दोनों सदियों के प्रभाव से अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही वह अपने आपको बचा सके। वह स्वयं अपने निर्माता बने। उन्होंने इन दोनों शताब्दियों के बीच से होकर जाने वाले मार्ग का अनुसरण किया। इसलिए वह हमारे सामने प्राचीनता और नवीनता दोनों एक साथ लेकर आये। उनकी प्राचीनता में नवीनता और नवीनता में प्राचीनता थी। वह कहीं भी एकदम प्राचीन अथवा नवीन नहीं थे। क्या साहित्य में, क्या जीवन में, उनके विकास की धारा दोनों कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। इस दृष्टि से जब हम उनके समकालीन कलाकारों की रचनाओं पर दृष्टि-पात करते हैं तब हमें निराश होना पड़ता है। हम उनमें प्रसाद-जैसी न तो बौद्धिक शक्ति पाते हैं और न निश्चित विकास की रेखा। कोई साहित्य-कार अपनी कृतियों की गिनती गिनाकर ही साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी नहीं बन जाता। प्रसाद का महत्व हिन्दी-साहित्य में उनके प्रकाशनों की संख्या के कारण नहीं, वरन् उनकी बौद्धिक प्रतिभा और उस प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास के कारण है। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि जब उन्होंने लिखना आरम्भ किया तब से वह सदा आगे ही बढ़ते गये और अन्त में 'कामायनी' के रूप में उन्होंने हिन्दी को ऐसा सुन्दर दान दिया जिसकी जोड़ का आधुनिक काव्य-साहित्य में कोई ग्रन्थ ही नहीं है। आप 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक की उनकी समस्त रचनाएँ उठा लीजिए, किसी स्थल पर भी आप उन्हें लड़खड़ाते

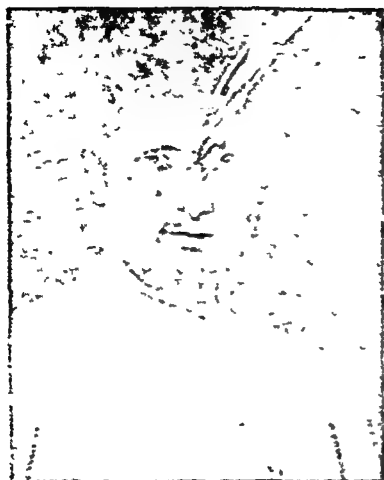
बौद्धिक दृष्टिकोण का अंकुश लगा दिया। एक सच्चे साहित्यकार का यही काम है।

प्रसाद की साहित्य-साधना के सम्बन्ध में हम पिछले पृष्ठों में बहुत कुछ कह चुके हैं। हम देख चुके हैं कि साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच थी। वस्तुतः वह हिन्दी के रवीन्द्रनाथ थे। जो कार्य रवीन्द्रनाथ ने बंग-साहित्य में किया, वही काम प्रसाद ने हिन्दी में किया। वंग-साहित्य का परिष्कार एवं परिमार्जन करने में जिन कठिनाइयों और परिस्थितियों का अनुभव रवीन्द्रनाथ को करना पड़ा, प्रसाद की कठिनाइयाँ उनसे कम नहीं थीं। साहित्य-साधना के क्षेत्र में दोनों कलाकार एक ही परिस्थिति से गुजरे हैं और अपने-अपने पथ के स्वयं निर्देशक और निर्माता रहे हैं। इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा और अनुभूति की मात्रा में अन्तर हो सकता है, पर जैसे रवीन्द्रनाथ ने नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध, गीति-नाट्य सभी कुछ सफलता के साथ लिखे हैं उसी प्रकार प्रसाद ने भी साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारता पूर्वक अपनी प्रतिभा का दान किया है। इतना होते हुए भी प्रसाद को रवीन्द्रनाथ की सी लोकप्रियता नसीब नहीं हुई। इसका कारण प्रसाद के पक्ष में उपयुक्त साधनों का अभाव था। प्रसाद हिन्दी साहित्य के मौन साधक थे। कहीं जाना और वाद-विवाद में भाग लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। वह कलाकार का साहित्यिक बाजारों और मेलों में जाना उचित नहीं समझते थे। अपने घर से दूकान तक और फिर दूकान से घर तक—बस इतनी ही दूर उनका आना-जाना होता था। इसलिए वह अपने पाठकों का कोई समुदाय नहीं बना सके। रवीन्द्रनाथ के पाठकों का एक समुदाय था जिसने उन्हें ऊँचा उठा दिया। इसलिए रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हो गये और प्रसाद हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रह गये; पर इससे उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। हिन्दी साहित्य के प्रति जनता की रुचि ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी त्यों-त्यों प्रसाद की कला से वह प्रभावित होती गयी और आज वह उन्हें आधुनिक हिन्दी कविता के पिता के रूप में देख रही है। प्रसाद का साहित्य इतना विस्तृत और महान् है कि उस पर बराबर नयी-नयी आलोचनाएँ निकलती जा रही हैं

और उनकी काव्य-कला के सौंदर्य से लोग प्रभावित होते जा रहे हैं।

प्रसाद अपने प्रमुख रूप में कवि हैं। उनके एक इसी रूप में उनके कई रूपों का समाहार और अवसान हुआ है। वह एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। उनकी समस्त रचनाएँ एक आदर्श, एक उद्देश्य, से बँधी हुई हैं। उनमें एक ही स्वर है और वह है करुणा, दया, सहानुभूति और विश्व-प्रेम का स्वर। वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को उनका यही सन्देश है। दार्शनिक भाव-भूमि पर उन्होंने अपने इस संदेश को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह अपने में महान् है। लाख चेष्टा करने पर भी उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हिन्दी के वह अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना की उड़ान में, अपने भावों तथा विचारों के समन्वय में, अपने प्रकृति-चित्रण में, अपने भावों को गीतात्मक रूप देने में, वह नवयुग के साहित्य में अग्रगण्य हैं। उनके गीतों में जो सरसता है, जो प्रवाह, जो संगीत और मानव-जीवन का जो सत्य है, उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे विश्व-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

हमें यह बात नहीं मिलती। उन्होंने अपने युग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी परखा। उनकी रचनाएँ कभी इस युग की समस्या लेकर आयी हैं और कभी युगेतर की, पर प्रसाद का सर्वत्र एक ही स्वर है। यही प्रसाद की महत्ता है और इसीलिए हम उनके साहित्य को भारतीय साहित्य की परम निधि मानते हैं। वह अपनी रचनाओं में चिर नवीन, चिर जीवित और अमर हैं। हिन्दी उन्हें ऊँचा स्थान देकर आज अपना गौरव बढ़ा रही है।



९

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म

सं० १९५३

कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म माघ शुक्ल ११ संवत् १९५३ वि० को हुआ था। उनके पिता पण्डित रामसहाय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गढ़कोला नामक गाँव के रहने वाले थे; पर जीविका के कारण उन्हें बंगाल जाना पड़ा।

जीवन-परिचय बंगाल में वह मेदिनीपुर के महिषा-दल राज्य में नौकरी करते थे। यहीं निरालाजी का जन्म हुआ और यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। राज-दरबार की उनके पिता पर विशेष कृपा थी, इसलिए उसने अपनी ओर से निरालाजी की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया।

निरालाजी अपनी बाल्यावस्था से ही स्वतंत्रता-प्रिय थे। किसी भी प्रकार का बन्धन उन्हे अप्रिय था। पाठशाला की बँधी पढ़ाई उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। इसलिए उन्होने विविध दिशाओं में विविध कलाओं का

ज्ञान और अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। अध्ययन के अतिरिक्त उन्हें कुश्ती लड़ने और अश्वारोहण में भी विशेष आनन्द मिलता था। इन दोनों कलाओं में वह दक्ष थे। राजकीय कृपा के कारण उन्हें जीवन-निर्माण की सभी सुविधाएँ सुलभ थीं। संगीताचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण उन्हें संगीत से भी प्रेम हो गया, और इस कला के वह पंडित हो गये। बंगला भाषा तो उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित थी। इसलिए उसका साहित्य उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम था; अतः इसकी छाप उनके जीवन पर बराबर बनी रही।

निरालाजी धनी परिवार के बालक थे। उन्हें अपने बचपन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हो चुका था। इससे दो संतानें हुईं - एक लड़का और एक लड़की। लड़की की तो मृत्यु हो गयी, पर लड़का जीवित है। उनकी पत्नी मनोहरादेवी विदुषी थीं। संगीत और साहित्य से उन्हें विशेष प्रेम था। निरालाजी को संगीत एवं साहित्य-साधना में उनसे विशेष प्रेरणा मिली थी और अपने दाम्पत्य जीवन से दोनों संतुष्ट थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् निरालाजी ने महिषा-दल राज्य में नौकरी भी कर ली थी। उन्हें आर्थिक संकट भी नहीं था। पर सन् १९१९ के पश्चात् उनके जीवन में महान् परिवर्त्तन उपस्थित हो गया; २२–२३ वर्ष की अल्पावस्था में उनकी पत्नी का देहान्त हो जाने से उनकी जीवन-दिशा बदल गयी। उन्होंने राज्य की नौकरी त्याग दी। इससे उन्हें आर्थिक संकटों का सामना अवश्य करना पड़ा; पर इस बात की उन्होंने चिंता नहीं की। उनका व्यक्तित्व अत्यंत सबल था और वह जीवन के प्रत्येक संघर्ष से प्रसन्नतापूर्वक लोहा ले सकते थे।

इस समय तक निरालाजी हिन्दी-साहित्यिकों के सम्पर्क में आ चुके थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उनकी प्रतिभा से भली-भाँति परिचित हो चुके थे और उन्हें बराबर प्रोत्साहन दिया करते थे। इसलिए जब निरालाजी महिषा-दल राज्य से पृथक हुए तब संवत् १९७८ में द्विवेदीजी ने उन्हें 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के प्रधान केन्द्र बेलूर मठ में

'समन्वय' का सम्पादन करने के लिए भेज दिया। निरालाजी को अपनी रुचि के अनुसार कार्य मिल गया। इस कार्य-भार को ग्रहण करने से उन्हें भारतीय दर्शन की नवीनतम व्याख्या को निकट से अध्ययन करने का शुभ अवसर हाथ लग गया। अतः उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। इससे उनके अपरिपक्व विचारों में प्रौढ़ता और दार्शनिकता आ गयी।

'समन्वय' कलकत्ता से निकलता था, पर जब कुछ दिनों पश्चात् वहाँ स्वर्गीय श्री महादेवप्रसाद सेठ द्वारा हिंदी का नवीन आयोजन हुआ और 'मतवाला' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा तब निरालाजी उसके सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उनके विशेष प्रयत्न से यह पत्र चमक उठा और थोड़े ही दिनों में वह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। यह हास्य और व्यंग्य का प्रमुख पत्र था।

'मतवाला' में एक वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् निरालाजी कलकत्ता छोड़कर लखनऊ चले आये और यहाँ कुछ दिन रहकर अपने गाँव चले गये। गाँव से आकर उन्होंने पुनः लखनऊ को ही स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाना पसन्द किया, पर अधिक दिनों तक वहाँ उनका जी नहीं लगा। लखनऊ के पश्चात् उन्होंने प्रयाग को अपनाया। संवत् २००३ वि० में काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा में उनकी जयन्ती बड़े समारोह से मनायी गयी। इस जयन्ती में हिंदी के बहुत से साहित्यिकों ने भाग लिया और उनकी साहित्यिक सेवाओं की मार्मिक शब्दों में प्रशंसा की। निराला जी अभी जीवित हैं, पर शरीर और मन दोनों से वह शिथिल हो गये हैं। उनका साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो चुका है।

निरालाजी अपने विद्यार्थी जीवन से ही कविता-प्रेमी रहे हैं। जब वह पाठशाला में पढ़ते थे तब कभी-कभी कविता भी किया करते थे। उस समय उनकी कविताएँ बंगला भाषा में होती थीं। हिंदी खड़ीबोली का ज्ञान उन्हें नहीं था। तुलसीकृत रामायण का पाठ करने के कारण उन्हें ब्रजभाषा, अवधी और बैसवाड़ी का साधारण ज्ञान हो गया था। अतः कभी-कभी इन भाषाओं में भी तुकबन्दियाँ कर लिया करते थे। बाद को

जब उन्होंने संस्कृत-भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तब इस भाषा में भी उन्होंने रचनाएँ कीं। अन्त में उन्होंने बड़े परिश्रम से खड़ीबोली सीखी। 'जुही की कली' खड़ीबोली में उनकी सर्वप्रथम रचना है। उनका पहला लेख हिन्दी और बंगला के सम्बन्ध में सन् १६१६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दो प्रारम्भिक रचनाओं से हिन्दी में उनके साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ और तब से अब तक वह अजस्र रूप से हिंदी की सेवा करते आ रहे हैं। उनका साहित्यिक जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है। इस जीवन में प्रवेश करने पर उन्हें आचार्य द्विवेदी जी तथा श्री महादेव प्रसाद सेठ से अधिक प्रोत्साहन मिला है। निरालाजी ने स्वयं इन दोनों साहित्य-कारों का आभार स्वीकार किया है। वस्तुतः निरालाजी को प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं दोनों व्यक्तियों को है। 'समन्वय' और 'मतवाला' उनके साहित्यिक जीवन के निर्माण में बहुत सहायक हुए हैं।

निरालाजी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कलाकार हैं। उनकी गणना द्विवेदी-युग के आरम्भ के द्वितीय खेवे के साहित्यकारों में की जाती है। उनका साहित्यिक जीवन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १६१६ से आरम्भ होता है। तब से अब तक उन्होंने हिंदी साहित्य की अद्वितीय सेवा की है। 'समन्वय' का सम्पादन करने के अतिरिक्त उन्होंने लगभग ५४ ग्रंथों की रचना की है। इस प्रकार हिंदी-साहित्य के परिवर्द्धन तथा विकास में उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है। उनके ग्रंथ इस प्रकार हैं—

निराला की रचनाएँ

(१) काव्य—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका (नवीन), कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते, अपरा (चुनी-हुई कविताओं का संग्रह) और अर्चना।

(२) उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली।

(३) कहानी-संग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी।

(४) रेखाचित्र—कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

(५) आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह—प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा,

प्रबन्ध परिचय, रवीन्द्र-कविता-कानन।

(६) जीवनियाँ—राणा प्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला।

(७) अनुवाद—महाभारत, श्री रामकृष्ण-वचनामृत (चार भागों में), परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्दमठ, चंद्रशेखर, कृष्णकांत का विल, दुर्गेशनंदिनी, रजनी, युगलांगुलीय, राधारानी, तुलसीकृत रामायण की टीका, वात्स्यायनकृत कामसूत्र, गोविंददास पदावली (पद्य में अप्रकाशित)।

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में निरालाजी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वह सैकड़ों में शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। उनका शरीर उन्हें छिपा नहीं सकता। विशाल शरीर, तेजस्वी आँखें, लहराते हुए बाल और उनकी मस्तानी चाल को जिन्होंने एक बार देखा है वे उन्हें कभी भूल नहीं सकते। उनके मुख-मण्डल की रेखाएँ किसी रोमन अथवा यूनानी मूर्ति की भाँति पूर्णतया व्यक्त, सुस्पष्ट और साथ ही सजीव भी हैं। उनकी वाणी में सिंह का-सा गर्जन और ओज है। जिस समय वह कविता-पाठ करते हैं, उस समय उनकी वाणी में ओज और माधुर्य का अत्यन्त सुन्दर समन्वय सुनायी पड़ता है और वह मेघदूत के विरही यक्ष के आकार-प्रकार के-से परिलक्षित होते हैं। उनके कविता-पाठ करने की एक विशेष मुद्रा है जो इतनी प्रभावपूर्ण, आकर्षक, गम्भीर और ओजस्विनी है कि पाठक उसका अनुभव करते ही मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। पाठक को अपनी ओजमयी वाणी से, अपनी सङ्गीत की स्वर-लहरी से, अपने हाव-भाव से, वह इतने शीघ्र आकृष्ट कर लेते हैं कि अन्य कवि उनकी इस कला की तुलना में टिक नहीं सकते।

निराला का व्यक्तित्व

निरालाजी आकार सदृश प्रज्ञ हैं। शरीर की विशालता के साथ-साथ उनका हृदय और उनकी बुद्धि भी विशाल है। वह कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। बंगला, अवधी, व्रजभाषा, हिन्दी, खड़ीबोली, संस्कृत, उर्दू तथा अँगरेजी का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। भावना के क्षेत्र में दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम है। इसलिए वह काल्पनिक और रहस्यवादी

अधिक हैं। वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला अपने में पूर्ण है। काव्य-कला का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। इसलिए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार काव्य-कला का प्रयोग करने में सफल हो सके हैं। उनके व्यक्तित्व में केशव का पाण्डित्य है। स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण वह स्वाभिमानी भी हैं। अपने विषय में की गयी अनुचित आलोचना उन्हें असह्य हो जाती है। वह किसी का रौब अपने ऊपर सहन नहीं कर सकते। अपने काव्य-जीवन के वह स्वयं निर्माता हैं। उनके स्वभाव में अक्खड़पन भी है और कोमलता भी; व्यंग्य भी है और हास्य भी। वैविध्य और वैषम्य से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है और इन दोनों के सुन्दर समन्वय से ही उनका व्यक्तित्व विकसित हुआ है। वह बंधनमुक्त प्राणी हैं। दार्शनिक होते हुए भी वह भक्त हैं। ईश्वर के अस्तित्व में उनकी आस्था है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनका आग्रह अद्वितीय है। वह पीछे मुड़कर भी देखते हैं और आगे भी। वह आशावादी हैं। आदर और सत्कार में वह बड़े उदार हैं।

निराला का लौकिक और साहित्यिक जीवन संघर्षमय रहा है। अपने इस प्रकार के संघर्ष में उन्होंने प्रत्येक चोट का, प्रत्येक आक्रमण का, साहस-पूर्वक सामना किया है। निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी हुई है। स्वतंत्रता, साहस और निर्भीकता—यही तीनों उनके जीवन के संबल हैं। श्रृङ्गार और वीर रसों का जैसा सुन्दर समन्वय उनके स्वभाव में है वैसा ही उनकी रचनाओं में भी पाया जाता है। उन्हें अपनी कला-कृतियों पर उतना ही गर्व है जितना कि अपनी परिस्थितियों पर। हिन्दी संसार में ऐसा व्यक्तित्व अप्रतिम है।

निराला के व्यक्तित्व की भाँति ही उनकी साहित्यिक सर्जना शक्तिशाली है। द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में जन्म लेकर उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा अभिनव साहित्य का नेतृत्व किया है। अपने नेतृत्व में उन्होंने हिन्दी को जो दान दिया है उसका एक विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः हिन्दी के सभी क्षेत्र उनकी निराली देन से प्रभावित, आलोकित

निराला का महत्त्व

और विकसित हुए हैं।

हम अभी कह चुके हैं कि निराला ने द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में साहित्य-निर्माण आरम्भ किया था। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण साहित्य-कार की दृष्टि से संग्राहक युग था। इस युग में भाषा के परिष्कार की पुकार थी और इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता थी। विषय बहुधा भारतीय गौरव से सम्बन्ध रखते थे। ऐसे विषयों का प्रतिपादन भारतीय इतिहास तथा पुराणों के कथानकों के आधार पर होता था। कभी-कभी उसी वर्ग के राष्ट्रीय पुरुषों के वृत्तों पर भी रचनाएँ हो जाती थीं। इस प्रकार की रच-नाओं में चरित्र-निर्माण तथा सुधार पर ही अधिक बल दिया जाता था। समस्यापूर्ति की प्रणाली भी प्रचलित थी। गीतों का तो एक प्रकार से अभाव ही था। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार अवश्य हो गयी थी, पर काव्य में उसका स्वतंत्र-चित्रण, जैसा होना चाहिए था, अभी नहीं हुआ। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर चल रहा था। बँधे छन्द थे, बँधे भाव थे। काव्य के इन बन्धनों से ऊबकर कतिपय कवियों ने उसमें कल्पना का रंग और हृदय का वेग भरना आरम्भ कर दिया था। पर क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने का उनमें साहस नहीं होता था। हिन्दी साहित्य की ऐसी परिस्थिति में निराला ने जन्म लेकर द्विवेदी-युग के प्रथम चरण का अन्त और द्वितीय चरण का नेतृत्व-भार ग्रहण किया। उन्होंने हिन्दी काव्य-क्षेत्र में आँधी की तरह प्रवेश किया और अपने नवीन काव्य के सन्देश से क्रांति की सूचना दी। उनके सन्देश में पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह था। उनका विद्रोह था हिन्दी काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से उन्मुक्त करके स्वाभाविक प्रवाह में लाना; जिसमें न छन्दों का बन्धन हो, न तुक का आग्रह। इस विद्रोह का हिन्दी-संसार में खुलकर विरोध हुआ, पर वह अपने सन्देश पर आरूढ़ रहे। इस विरोध का इतना प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा कि वह उन्मुक्त भावना को साहित्य में न चला सके। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा—"मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया।"

निराला की विद्रोह-भावना का परिचय हिन्दी-संसार को सर्वप्रथम 'अनामिका' द्वारा मिला। इसमें संगृहीत कविताएँ अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द में लिखी गयी थीं। उन कविताओं के विषय नवीन थे, भाव नवीन थे, छन्द नवीन थे। हिन्दी-साहित्य में इन कविताओं की विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई, पर साहित्य-समालोचकों का ध्यान उनकी ओर अवश्य आकृष्ट हुआ। उनमें से कुछ ने निन्दा की, कुछ ने प्रशंसा। स्वर्गीय महादेवप्रसाद सेठ तथा आचार्य द्विवेदीजी ने इन रचनाओं की विशेष प्रशंसा की और हिन्दी का गौरव बढ़ाने के लिए उन्हें अनुकरणीय बताया। इस प्रकार निराला की 'अनामिका' ने हिन्दी जगत् में एक विशेष परिवर्तन की सूचना दी। अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द निराला की हिन्दी को सर्वश्रेष्ठ देन है। इन छन्दों में संगीत का, उस संगीत का जिसे उन्होंने पाश्चात्य संगीत के स्वर और ताल से प्रभावित बंग-काव्य से प्राप्त किया था, सफल आयोजन हुआ। हिन्दी के लिए यह सर्वथा नवीन चीज थी। इस प्रकार निराला ने काव्य के रूप के सम्बन्ध में एक साथ दो देनें दीं—उन्मुक्त छन्द और संगीतपरकता।

भाव-क्षेत्र में निराला की देन और भी महत्त्वपूर्ण है। हम यह बता चुके हैं कि उन्होंने काव्य को संगीत के निकट लाने का अभिनव प्रयत्न किया है। ऐसा ही अभिनव प्रयत्न रहस्यवाद के क्षेत्र में दिखाई देता है। सौन्दर्यानुभूति की विस्तृत भूमि में अद्वैत-सहानुभूति की जड़ जमा कर उन्होंने आधुनिक रहस्यवाद को रीतिकाल का विलोम मात्र होने से बचाया है। उनका रहस्यवाद 'विराट्-सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रसाद की भाँति मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त न करके उन्होंने विराट् सत्ता द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं। प्रसाद के चैतन्य की इकाई है 'मानव' और निराला के चैतन्य की इकाई है 'शाश्वत ज्योति'। यही इकाई उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक तथा कलात्मक विचारों के मूल में काम करती है। उनकी दृष्टि में यह जीव-जगत् मिथ्या है, सारहीन है। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर उसी अमूर्त शाश्वत ज्योति का ही चित्रण किया है। वह रूप-रंगों में प्रकट होकर भी अमूर्त का ही अभिव्यञ्जन करते हैं। उनकी निबन्धात्मक रचनाओं

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। उनका रहस्यवाद एक तरह से बंग-साहित्य का ही रहस्यवाद है। बंग-साहित्य में दर्शन और भक्ति का समन्वय जिस रूप में पाया जाता है, उससे मिलता-जुलता ही रूप निराला-साहित्य में देखा जा सकता है। बात यह है कि निराला ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर की कतिपय कविताओं का अनुवाद किया था। इससे उनकी विचारधारा तथा रचना-शैली पर उक्त दोनों कवियों की विचारधारा तथा रचना-शैली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हिन्दी में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व किया। अपनी रुचि के अनुसार ही कलकत्ता में रामकृष्ण मठ के 'समन्वय' मासिक पत्र का सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हें अपनी वैदांतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। स्वामी विवेकानन्द के वेदांत के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निराला की कविताओं में भी यही बातें देखी जा सकती हैं। उनके गीतों पर रवीन्द्रनाथ के गीतों की छाया पड़ी है। इधर कुछ दिनों से वह मार्क्सवाद के प्रभाव में भी आ गये हैं और उन्होंने कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी लिखी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला पर बंग-साहित्य का अधिक प्रभाव पड़ा है, पर इस प्रभाव को निराला के शक्तिशाली व्यक्तित्व तथा उनकी बहु-वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा ने अपने में इतना आत्मसात् कर लिया है कि उसका महत्त्व उनकी रचनाओं में गौड़ हो गया है। उनकी प्रत्येक रचना पर उनके व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा की इतनी स्पष्ट छाप है कि हम उन पर पड़े हुए प्रभावों को भूल जाते हैं।

निराला की दार्शनिकता

अब तक की आलोचना से हम यह देख चुके हैं कि निराला के व्यक्तित्व में अद्वैतवादी बुद्धित्व की प्रधानता है। उनकी अनेक रचनाएँ सूक्ष्म दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत हैं। पंचवटी प्रसंग में प्रलय की व्याख्या करते समय भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने ब्रह्म और जीव का जो विवेचन किया

है वह निराला के वेदान्ती सिद्धान्तों का सार है। इन सिद्धान्तों पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है। इसलिए निराला हिन्दी में उनके वैदान्तिक सिद्धान्तों के साहित्यिक प्रतिनिधि माने जाते हैं।

निराला के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार यह जीव जगत् मिथ्या है, सारहीन है और ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। प्रत्येक दृश्य वस्तु का पर्यवसान उसी आनन्दस्वरूप ब्रह्म, अदृश्य, अनन्त सत्ता में होता है। जीव भी ब्रह्म होकर आनन्दस्वरूप हो जायगा। यहाँ निराला की दार्शनिकता उनके मस्तिष्क का विषय बनी है; पर इसके आगे नहीं। वह मस्तिष्क से अद्वैतवादी हैं, हृदय से भक्त तथा प्रेमवादी। उनका जीव स्वयं आनन्दस्वरूप होने की अपेक्षा आनन्द का अनुभव करना चाहता है। इसलिए वह उपासक ही बने रहना चाहते हैं। इन विचारों को उन्होंने लक्ष्मण के पञ्चवटी प्रसङ्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है—

आनन्द बन जाना हेय है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है

यही पंक्तियाँ निराला की भक्ति का आधार हैं। वह आस्तिक हैं, करुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान् पर विश्वास करते हैं। दुःख में, सुख में, वह सदैव भगवान् को याद करते हैं। भक्तों की भाँति उन्हें पूर्ण विश्वास है कि एक दिन उस 'शाश्वत ज्योति' का, उस 'अमूर्त्त सत्ता' का, साक्षात्कार होने पर भक्त की सारी वेदना, उसके हृदय की सारी विकलता, शान्त हो जायगी—

डोलती नाव, प्रखर है धार, सँभालो जीवन-खेवनहार

इन पंक्तियों में निराला की भक्ति का स्वर प्रखर हो उठा है। पर निराला की भक्ति सूर अथवा तुलसी की भक्ति नहीं है। वह मुख्यतः तत्त्वज्ञानी हैं। उन्होंने एक वेदान्ती की दृष्टि से अपनी आन्तरिक प्रेरणाओं का अङ्कन किया है। उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं में भक्तोन्वित भावुकता है, इसलिए उनकी रहस्यवादी कृतियाँ अस्पष्ट नहीं होने पायी हैं। उनका रहस्यवाद मस्तिष्क की रंगशाला में पहुँचने पर 'सोऽहम्' से मिलती-जुलती भावना में परिणत हो जाता है; पर जब वही हृदय की रंग-स्थली में पहुँचता है तब उसमें प्रेम की सुकुमारता, कमनीयता और तड़पन आ

जाती है। उनका रहस्यवाद एक ओर परोक्षप्रियता पर अवलम्बित है, दूसरी ओर उसी के व्यक्त गोचर स्वरूप पर। इस प्रकार उनकी रहस्यवादी भावना के दो पहलू हैं—एक तो वह जो 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है और दूसरा वह जो 'जड़' जीव-जगत् में सर्वत्र उसी 'शाश्वत ज्योति' का प्रकाश देखता है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके रहस्यवाद की इकाई 'शाश्वत ज्योति' है। इस 'शाश्वत ज्योति' को उन्होंने अमर विराम, माता, श्यामा आदि सांकेतिक शब्दों द्वारा अपनी रचनाओं में सूचित किया है। संक्षेप में यही निराला के काव्य की दार्शनिक भावभूमि है।

निराला की साहित्य-साधना के दो रूप हैं—एक पद्य में, दूसरा गद्य में। उनके गद्यकार के रूप पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ हम यह देखेंगे कि वह पद्यकार के रूप में कहाँ तक सफल हुए हैं। हम यह बता चुके हैं कि निराला का हिन्दी-जगत् में प्रवेश उस समय हुआ जब सत्काव्य की अनुभूति का समय आ रहा था। वह हिन्दी के नवीन विकास की किशोरावस्था थी। इस अवस्था में यौवन की दृढ़ता अथवा शक्ति का परिचय थोड़ी ही मात्रा में था। स्वर्गीय हरिऔध और गुप्तजी प्रकाश में आ चुके थे; प्रसाद उभर रहे थे। इस परिस्थिति में निराला की 'अनामिका' प्रकाशित हुई और इसी ने निराला को हिन्दी का कवि घोषित कर दिया। अनामिका के पश्चात् परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता आदि काव्य-पुस्तकें उन्होंने हिन्दी को भेंट कीं। इन कृतियों के अनुशीलन से उनके विकास की चार स्पष्ट रेखाएँ हमारे सामने आती हैं।

निराला की काव्य-साधना

(१) निराला के विकास की प्रथम रेखा—निराला के विकास की प्रथम रेखा हमें उनकी 'अनामिका' में ही मिलती है। इस काव्य में स्वच्छन्द छन्दों की पूर्णता की ओर उनका जितना झुकाव है उतना अन्य बातों की ओर नहीं है। उनकी स्वच्छन्द छन्द-योजना में प्राचीन रूढ़ियों का तिरोभाव हो गया—इससे नवीन धारा का स्वागत करने वालों में आत्मविश्वास की भावना को दृढ़ता प्राप्त हुई। वस्तुतः स्वच्छन्द छन्द के

मूल में ही यह मनोवृत्ति थी। निराला ने अपनी अन्य रचनाओं द्वारा इस आत्मविश्वास को और भी दृढ़ किया।

(२) निराला के विकास की द्वितीय रेखा—यह रेखा हमारे सामने उस समय प्रस्तुत होती है जब वह छन्दोबद्ध संगीतात्मक सृष्टि की ओर झुकते हैं। 'परिमल' की अधिकांश छन्दोबद्ध रचनाएँ इसी समय की हैं। हिन्दी-साहित्य का यह वह समय था जब कविता में भावना की प्रधानता हो चली थी; पर निराला की बौद्धिक प्रक्रिया उसके साथ-साथ रही। अपने इसी विकास-स्तर पर पहुँचकर निराला बुद्धि और भावना का सुन्दर समन्वय करने में समर्थ हुए। इससे उनकी कविताएँ निखर आयीं। उस समय की उनकी छोटी और बड़ी सभी रचनाओं में यह संयोग देखा जा सकता है।

(३) निराला के विकास की तृतीय रेखा—यह उनके गीतों से परिलक्षित होती है। उनके गीत कुछ तो दार्शनिक हैं और कुछ प्रेम और शृंगारविषयक। मधुर भावों की व्यञ्जना इन गीतों की विशेषता है। 'परिमल' की कविताओं में उन्हें जो सफलता नहीं मिली वह उन्हें इन गीतों में मिली है। इनमें बुद्धि-तत्व की अपेक्षा हृदय-तत्व अधिक है। भाव और कल्पना तथा मस्तिष्क और हृदय के सुन्दर समन्वय में ही निराला के कवित्व का पूर्ण विकास हुआ है। इस काल के अन्तर्गत लिखी गयी उनकी रचनाएँ मानव-जीवन के प्रभाव से निखरी हुई हैं। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं का अभाव भी है।

(४) निराला के विकास की चतुर्थ रेखा—यह उनकी प्रगतिवादी रचनाओं में देखने को मिलती है। अपने इस विकास-स्थल पर वह मार्क्सवाद से थोड़े-बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। 'कुकुरमुत्ता' आदि पूंजीवाद के प्रति उनके जो व्यंग्य हैं वह आज की नवीन धारा के अनुकूल ही हैं।

निराला के विकास की इन चार रेखाओं से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनमें एक दूसरे से पृथक्ता है। हमारे कहने का अभिप्राय केवल इतना है कि निराला की काव्य-साधना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है

जिसके मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की प्रधानता रही है। उनके विकास में उनका काव्य-गत दृष्टिकोण सर्वथा सहायक रहा है और उसकी गति कभी मन्द नहीं हुई। वह आराम से ही एक रस रहे हैं।

निराला हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक कविता दार्शनिक भाव-भूमि पर खड़ी है। हम यह भी बता चुके हैं कि उनकी दार्शनिकता में भक्ति का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। इस प्रकार के समन्वय से उनकी रहस्यवादी रचनाएँ अधिकांश साम्प्रदायिक न होकर सार्वभौम और स्वाभाविक हो गयी हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम उनकी कविताओं को पाँच श्रेणियों में विभाजित करते हैं—(१) दार्शनिकता-प्रधान रचनाएँ, (२) विशुद्ध प्रगीत, (३) आलंकारिकता प्रधान और उदात्त, (४) प्रगतिशील रचनाएँ और (५) व्यंग्य और हास्य-सम्बन्धी रचनाएँ।

(१) दार्शनिकता-प्रधान रचनाएँ—निराला की दार्शनिकता-प्रधान रचनाओं से हमारा तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें उनके अद्वैतवादी मस्तिष्क का प्रयोग अधिक है। ऐसी कविताएँ प्रायः निबन्धात्मक हैं। 'परिमल' में उनकी 'जागरण' शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। इसमें हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता में उन्होंने आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को ही सच मानकर उसी के द्वारा सृजन-क्रिया के होने का उल्लेख किया है। इसमें कवि ने बताया है कि हमारी आत्मा माया के आवरण से ढकी हुई है। यह मायावरण असत्य है। मन के विकारों के कारण हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि कर लेते हैं। शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा इन आवरणों को भेद कर अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचता है। माया का शुद्ध रूप प्रेम-रूप है। आनन्दमय चिदात्म-तत्त्व ने अपने प्रेम-रूप में ही सृष्टि की रचना की है। उसने अपनी माया का प्रसार प्रेम-रूप में ही किया है। सारांश यह कि निराला की दार्शनिक रचनाएँ इसी प्रकार के विचारों से परिपूर्ण हैं।

(२) विशुद्ध प्रगीत—निराला के विशुद्ध प्रगीतों में 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'सरोज स्मृति' आदि शीर्षक

रचनाएँ आती हैं। इन प्रगीतों में प्रकृति, करुणा, प्रेम, देश आदि के सफल चित्रण मिलते हैं। निराला की ऐसी कविताएँ 'गीतिका' और 'परिमल' में संगृहीत हैं। वह सौंदर्योपासक कवि हैं। उन्होंने जीवन की शृङ्गारिक भावना के बड़े सुन्दर नग्न चित्र उतारे हैं, पर उनमें अश्लीलता नहीं है; संयम है, विलास की सौंदर्य-वृत्ति है। 'जुही की कली' इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें कवि के शृङ्गार-चित्र प्रकृतिमय होकर सजीव हो चुके हैं। इन पंक्तियों में उनकी शृंगारिक भावना की पवित्रता देखिए—

हेर प्यारे को सेज पास, नम्र-मुखी हँसी खिली
खेल रंग, प्यारे संग

उनकी 'शेफालिका' शीर्षक कविता भी इसी प्रकार की है। इसमें यौवन उन्मन होकर रोम-रोम से फूट निकलता है। 'जागो फिर एक बार' में कवि अपने युग की राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित जान पड़ता है, पर इस चेतना को उसने अपनी कला और दर्शन के माध्यम से देखा है, केवल राजनीति के दृष्टिकोण से नहीं—

जागो फिर एक वार,
सिंहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह, रहते प्राण ? रे अजान

'परिमल' में निराला के तीन प्रकार के गीत हैं—१. तुकान्त २. अतुकान्त और ३. मुक्तक। उनकी भाषा संगीतात्मक है, शब्द चित्रपूर्ण हैं और भावना बहुत ही मधुर है। संगीत की दृष्टि से उनके गीतों का स्थान बहुत ऊँचा है। अपने ऐसे गीतों में उन्होंने दीन मानवों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति भी चित्रित की है। 'विधवा' और 'भिक्षुक' शीर्षक उनकी रचनाएँ बड़ी मार्मिक और पूत भावनाओं से भरी हुई हैं। इन कविताओं में न छायावाद काव्य की रंगीनी है, न आदर्शवादिता की चमक, न जड़ कल्पना की उड़ान। 'भिक्षुक' का चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

उनकी समानता का दावा नहीं कर सकता।

निराला की काव्य-साधना के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है और वह है उनका प्रकृति-चित्रण। इस सम्बन्ध में हमें सबसे पहली बात जो याद रखनी चाहिये वह यह है कि निराला ने प्रकृति का चित्रण किसी प्राचीन प्रणाली के अन्तर्गत नहीं किया है। उनके प्रकृति-चित्रण में न तो प्रकृति की स्वाभाविकता है और न उसकी यथार्थता। उनकी प्रकृति स्वयं उनकी निर्माण की हुई है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि उन्होंने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी दोनों दृष्टियों से देखा है। प्रकृति-चित्रण में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखने से हमारा यह तात्पर्य है कि निराला ने भौतिक सीमा से कहीं ऊँचा उठकर प्रकृति के भीतर से एक चरम सत्य अथवा चरम सौन्दर्य तक पहुँचने का प्रयास किया है। ऐसी दशा में प्रकृति-चित्रण में आत्मीयता आ जाती है। जायसी का प्रकृति-चित्रण इसीलिए रहस्यवादी कहा जाता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न होता है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है। साधना के उच्च-स्तर पर पहुँचने के पश्चात् दोनों में यह भेद मिट जाता है। निराला अद्वैतवादी हैं। वह प्रकृति और परमात्मा में अद्वैतता मानते हैं। इसलिये वह जायसी की भाँति प्रकृति और परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का भाव बना रहता है। प्रकृति के प्रति यह दार्शनिक भाव होते हुए भी उनके प्रकृति-चित्र रहस्यवादी भावना से अनुरंजित हैं। एक प्रकार से रहस्यवाद और अद्वैतवाद का सुन्दर समाहार उनके प्रकृति-वर्णन में ही हुआ है। उनके प्रकृति-वर्णन में विविधता है। उन्होंने प्रकृति को अनेक रूपों में देखा है। उनके प्रकृति-चित्रों के निम्न रूप प्रमुख हैं—

निराला का प्रकृति-चित्रण

(१) प्रकृति के दिगन्त व्यापी रूप का चित्रण करने के लिये निराला के कवि ने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में उदाहरणस्वरूप उनकी दो रचनाएँ—'जूही की कली' और 'शेफालिका'—बड़ी ही उत्कृष्ट हैं। इन

दोनों कविताओं में प्रकृति के दिगन्तव्यापी चित्रण के पश्चात् क्रमशः असीम की ससीम के प्रति, और ससीम की असीम के प्रति आसक्ति दिखायी गयी है 'शेफालिका' कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव-पर्यङ्क पर सोती शेफालिके

इस कविता में ससीम की असीम के प्रति आसक्ति है। शेफाली (आत्मा) वासक सज्जा है। उसका प्रेमी गगन (परमात्मा) है। आत्मा जब अपने पूर्ण सौंदर्य में विकसित हो जाती है तब उसे अनन्त का स्पर्श मिलता है। इस मिलन के फलस्वरूप वह बन्धन-मुक्त होती है। वह कहती है—

पाती अमर प्रेम दान
आशा की प्यास एक रात में झर जाती है।

(२) इन प्राकृतिक रूपक चित्रों के अतिरिक्त निराला ने प्रकृति के ऐश्वर्यपूर्ण स्वच्छन्द चित्र भी चित्रित किये हैं। अपने ऐसे वर्णनों में वह जायसी के अधिक निकट आ गये हैं। संध्या का वर्णन इन पंक्तियों में देखिए—

अस्ताचल ढले रवि, शशि-छवि विभावरी में।
चित्रित हुई है देख यामिनी-गंधा जगी—

इसी प्रकार अतीत युग का ऐश्वर्यपूर्ण चित्र 'जागरण' शीर्षक कविता में देखने को मिलता है।

(३) निराला ने प्रकृति के अमूर्त विलास का चित्रण 'वन-कुसुमों की शय्या' में किया है। शरद् और शिशिर दो ऋतुएँ हैं और आस-पास आती हैं। निराला ने उनमें बहनापा दिखाया है। देखिए—

सोती हुई सरोज-अङ्क पर शरत शिशर दोनों बहनों के,
सुख-विलास-मद शिथिल अंग पर पद्म-पत्र पंखा झलते थे,
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे आती।

(४) प्रकृति का प्रेयसी रूप में आलंकारिक चित्रण उनकी 'वसन वासंती लेगी' शीर्षक कविता में देखने को मिलता है। इस कविता में सूखी

डाल को लेकर निराला ने पौराणिक पार्वती के तप का चित्र उपस्थित किया है। प्रकृति के गम्भीर रूप का चित्रण उनकी 'संध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता में देखने को मिलता है। सारांश यह कि निराला ने प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गम्भीर रूपों का चित्रण बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। 'परिमल' में उनके अनेक प्रकृति-चित्र मिलते हैं। प्रभाती, यमुना के प्रति, वासंती- तरंगों के प्रति, जलद के प्रति आदि उनकी प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

निराला का गद्य-साहित्य

निराला कवि ही नहीं, गद्यकार भी हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में भी कई पुस्तकें हिन्दी को भेंट की हैं। कहानीकार के रूप में सखी, लिली, चतुरी चमार और सुकुल की बीबी; उपन्यास के रूप में अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे और चमेली; रेखा-चित्रकार के रूप में कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा और निबन्धकार के रूप में प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिभा, प्रबन्ध-परिचय आदि ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। उन्होंने कुछ जीवनियाँ भी लिखी हैं और महाभारत आदि के अनुवाद भी किये हैं। इस प्रकार उनकी प्रतिभा का प्रसार साहित्य के दोनों क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है।

निराला में कथा-सृष्टि की सुन्दर क्षमता है; कहानियों में भी, उपन्यास में भी। उपन्यास के क्षेत्र में वह शरद् बाबू की औपन्यासिक कला से प्रभावित हुए हैं। इसका यथेष्ट परिचय 'निरुपमा' के कथानक से मिलता है। इस पर शरद् बाबू की 'दत्ता' की स्पष्ट छाप है। अपने उपन्यासों में निराला अतीत के ऐश्वर्य की ओर अधिक झुके हैं। उनमें उपन्यास लिखने की प्रतिभा और कला दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। अप्सरा, प्रभावती, अलका आदि चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। निराला ने नारी-चरित्र-चित्रण में बड़े संयम से काम लिया है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके पात्रों में अधिक आग्रह है।

उपन्यासों से अधिक निराला को रेखाचित्रों में सफलता मिली है। कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा उनके दो अद्वितीय रेखा-चित्र हैं।

इन रेखा-चित्रों में व्यंग्य और हास्य की नवीन शैली को स्थान मिला है। निराला के शब्दों में 'बिल्लेसुर बकरिहा' प्रगतिशील साहित्य का नमूना है। यह उच्च कोटि के हास्य की मंजूषा है।

निराला के अधिकांश निबन्ध आलोचनात्मक हैं। उनके निबन्धों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से कुछ दार्शनिक हैं, कुछ साहित्यिक। 'पन्त और पल्लव' उनका आलोचनात्मक निबन्ध है। इस निबन्ध के अध्ययन से उनकी आलोचना-शक्ति का यथार्थ परिचय मिलता है। दार्शनिक निबन्धों से उनके मस्तिष्क के विकास का आभास मिलता है। 'शून्य और शक्ति' उनका दार्शनिक निबन्ध है।

निराला की अलङ्कार और रस-योजना

निराला अपनी रचनाओं में अलंकारों तथा रसों के भी सफल प्रयोग-कर्त्ता हैं। उनकी अलङ्कार-योजना भाव-व्यञ्जना की आवश्यकता के अनुसार है। अनावश्यक अलङ्कारों से उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को सजाने की चेष्टा नहीं की है। काव्य-कला के पण्डित होने पर भी केशव का सा पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्होंने अपनी रचनाओं में नहीं किया है। अलंकार-क्षेत्र में वह अनुप्रास के बड़े प्रेमी हैं और यह इसलिए कि वह सङ्गीतज्ञ हैं। उन्होंने प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोग भी किया है और नयी कल्पनाओं से भी सहायता ली है। उनकी अधिकांश उपमाएँ पुरानी हैं, पर उन्होंने उन्हीं पुरानी उपमाओं को अपनाया है जो प्रकृति-निरीक्षण तथा वास्तविकता के अनुकूल पड़ती हैं। उनमें नये उपमान भी सजीव, आकर्षक और चुटीले हैं। वह प्रत्येक उपमान को बड़ी सार्थकतापूर्वक प्रयोग में लाते हैं। सांगोपांग रूपक का चित्र खींचने में वह बड़े दक्ष हैं। उनकी सन्देहालङ्कार की योजना भी अत्यन्त सार्थक हुई है। विशेषण विपर्यय अलङ्कार का एक उदाहरण लीजिए—

चल चरणों का व्याकुल पनघट,
कहाँ आज वह वृन्दा धाम ?

अलङ्कार-योजना की भाँति ही निराला की रस-योजना भी बड़ी सफल

है। उन्होंने शृङ्गार, वीर, रौद्र आदि रसों के बड़े सुन्दर चित्र अङ्कित किये हैं। उनके इन चित्रों में स्वाभाविकता है। उनका ओजपूर्ण व्यक्तित्व वीर रस के निर्वाह में बहुत सफल हुआ है। उनकी अधिकांश कविताएँ वीर रस पूर्ण हैं। निराला अपनी ऐसी रचनाओं के कलापूर्ण वर्णन से पाठकों में ओज और उत्साह भर देते हैं। शृङ्गार के चित्र भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उनका शृङ्गार सर्वत्र संयत है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृङ्गार वर्णन करते हुए भी उनका व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं हुआ है। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। निराला के शृङ्गारिक वर्णनों में दार्शनिक तटस्थता है। एक रूपक में देखिए—

पल्लव-पर्यङ्क पर सोती शेफालिके
मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

निराला का यह दार्शनिक रूपक हिन्दी की अमर निधि है और इस पर जितना गर्व किया जाय थोड़ा है।

निराला हिन्दी-कविता की बाह्य कला में स्वतन्त्रता के सूत्रधार हैं। उनमें कवित्व कम, कलाकारिता अधिक है। हिन्दी मुक्त-छन्द का प्रवर्त्तन उनकी सबसे बड़ी देन है। मुक्त-छन्द कविता में भाव-प्रवाह को एक विशेष गति प्रदान करता है। यह गति बन्धनमय छन्दों में सुलभ नहीं होती। इस सम्बन्ध में परिमल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'मनुष्यों की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस प्रकार मुक्त मनुष्य कभी किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम काम औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतन्त्र—इसी तरह कविता का हाल है। मुक्त-काव्य साहित्य के लिए कभी अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की चेतना फैलती है,

निराला की छन्द-योजना

जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।' निराला ने अपने इसी विश्वास को लेकर हिन्दी के छन्द-शास्त्र में क्रांति की है। उन्होंने छन्दों के प्रयोग में स्वतंत्रता से काम लिया है। खड़ीबोली में काव्य-रचना प्रारम्भ होने के समय से उपयुक्त छन्दों के चुनावों का कठिन तथा आवश्यक प्रश्न कवियों के सामने था। उन्होंने अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर दिया। इसमें उनको उचित सफलता मिली। भिन्न तुकान्त का प्रयोग उनके पहले भी हो चुका था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद और रूपनारायण पाण्डेय अतुकान्त छन्दों में रचना कर चुके थे। उन्होंने स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग आरम्भ किया। उनके विचार से मुक्त छन्द वह है जो छन्द की भूमि में रहकर मुक्त है। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-साहित्य प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार उन्होंने स्वच्छन्द छन्द की सृष्टि हिन्दी में की है, उसी प्रकार की एक मुक्तसृष्टि बंगला-साहित्य में स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष कर गये हैं। इससे जान पड़ता है कि निराला ने उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने का प्रयास किया है।

निराला ने दो तरह के मुक्त-छन्द लिखे हैं, १—तुकांत और २—अतुकांत। तुकांत में तुक के नियमों का पालन किया गया है, अतुकांत में तुक का पालन नहीं है। ऊपर-नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। प्रत्येक पंक्ति अपने ही में पूर्ण है और भावों की आवश्यकतानुसार अल्पकायिक अथवा विस्तृत है। पर एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति दूसरी की आश्रित भी है। छन्द में एक मधुर लय तथा ध्वनि का ध्यान रक्खा गया है जिसके अनुशासन का पालन सब पंक्तियों को करना पड़ा है। संगीत की धारा को प्रवाहमय बनाये रखने के लिये प्रत्येक पंक्ति को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना आवश्यक हो गया है। बेमेल चरणों का विलक्षण प्रयोग उन्होंने अपने अतुकान्त छन्दों में अत्यधिक किया है। इस विलक्षणता के कारण बहुत से लोगों ने उसका नाम 'रबर-छन्द' अथवा 'केंचुआ छन्द' आदि भी रख लिया है। अतुकान्त छन्द में घनाक्षरी का प्रयोग उनकी एक विशेषता है। इसमें छन्द का नियम न होते हुए भी

वाक्य प्रवाह से छन्द का निर्देश मिलता है। उनके अतुकान्त छन्द उनके विचार-वेग के पौरुष तथा उनके हृदय के ज्वलन्त व्यक्तित्व के द्योतक हैं। तुकान्त मुक्तक छन्दों में भी उनका ऐसा ही पौरुष है जो भावमय उद्‌गार के रूप में होने के कारण कवित्वपूर्ण है।

निराला के मुक्तक छन्दों द्वारा मुक्तक-काव्यों को भाव-स्वातंत्र्य मिलता है और अतुकान्त मुक्तक छन्द द्वारा गीति-नाट्यों में वाक्-स्वातंत्र्य। उन्होंने पञ्चवटी-प्रसंग में जो तुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह गुनगुनाई जा सकती हैं। पर तुकान्त कविताएँ उन्होंने केवल पढ़ने के लिये लिखी हैं। इस प्रकार उनके तुकान्त छन्दों में संगीत-कला है और अतुकान्त छन्दों में पठन-कला। अतुकान्त छन्दों का प्रयोग उन्होंने प्रायः वर्णनात्मक कविताओं में ही किया है। उनके गीत प्रायः तुकान्त छन्दों में हैं।

इन विशेषताओं के होने पर भी निराला के स्वच्छन्द छन्दों में कुछ दोष भी आ गये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने अपने छन्दों को इतना स्वच्छन्द और विस्तृत कर दिया है कि उसमें स्वच्छन्दता का सौन्दर्य ही नष्ट हो गया है। अति स्वच्छन्दता के कारण उनकी पंक्तियाँ कहीं-कहीं गद्य-सी हो गयी हैं। इसलिये उनमें गतिभंग दोष भी आ गया है। अपने इन्हीं दोषों के कारण उन्हें साधारण पाठक तक पहुँचने में कठिनाई हुई है।

निराला की स्वातंत्र्य-प्रियता केवल हिन्दी छन्दों तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने उर्दू-शैली का अनुकरण करके हिन्दी में गजलें भी लिखी हैं। उनकी इन गजलों में वही विदेशी उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ हैं जिनके लिये उर्दू के कवि प्रसिद्ध हैं। दो-चार स्थलों के अतिरिक्त उनमें नवीनता नहीं है।

निराला की भाषा और शैली

निराला की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण खड़ीबोली है। उस पर बंग-भाषा का भी प्रभाव है। उन्होंने बंग-भाषा के बहुत से शब्द अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक प्रयोग किये हैं। उर्दू और फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। ऐसे विदेशी शब्दों के प्रयोगों से कभी तो उनकी भाषा में जान आ जाती है, पर कभी हल्के

भी पड़ जाते हैं। उनके वाक्य-विन्यास पर बंग-शैली का स्पष्टतः प्रभाव है। भाषा की दृष्टि से वह शब्द-रासायनिक कहे जाते हैं। उसके प्रयोग में वह बड़े समर्थ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में खड़ीबोली को संगीतात्मक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए खड़ीबोली की कर्कशता उनकी रचनाओं में नहीं है। उनकी रचनाओं में जहाँ बौद्धिक तत्व अधिक है वहाँ उनकी भाषा जटिल और दुरूह है, पर जहाँ हृदय-तत्व की प्रधानता है वहाँ उनकी भाषा संस्कृतयुक्त कोमल-कान्त-पदावली के प्रयोगों से सजी हुई है। उन्होंने विशेष मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक परिस्थिति के अवसर पर भाषा के अत्यन्त व्यंजक प्रयोग किये हैं और अपने शब्द-कोष में अप्रत्याशित विस्तार भी किया है। कोई भी शब्द उन्हें अग्राह्य नहीं है। वह विशेषतः अभिधात्मक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं और जहाँ से चाहते हैं—जनता से, काव्य से, शास्त्र से, धर्म से, दर्शन से, उसे उठा लेते हैं; और जहाँ तक होता है उसका सबसे अच्छा प्रयोग करते हैं। निराला की ऐसी रचनाओं में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है, पर इस प्रकार की भाषा सर्वत्र नहीं है। क्लिष्ट भाषा का उदाहरण लीजिए—

गंध व्याकुल—कुल—उर—सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर
हर्ष-अलि हर स्पर्श शरसर
गूँज बारम्बार! (रे कह)

इन उद्धृत रचनाओं में निराला की भाषा उनके भावों की भाँति ही मस्तिष्क को मथ डालती है। उन्होंने जहाँ कहीं भी अपना बौद्धिक चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, वहाँ उनकी भाषा उनकी भावधारा को व्यक्त करने में अशक्त हो गयी है। एक बात और है। बंग-साहित्य से प्रभावित होने के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के निकट लाने का प्रयास किया है, वहाँ अर्थ-बाधकता की ओर उनका ध्यान कम गया है। 'गीतिका' में उनके ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिनमें उनका ध्यान संगीत की ओर अधिक है, अर्थ-

समन्वय की ओर कम।

भाषा की भाँति निराला की शैली भी बंग-शैली से प्रभावित है। समासयुक्त लम्बी पदावलियों का बाहुल्य और क्रिया-पदों का लोप आदि उनकी शैली में विशेष रूप से पाया जाता है। एक शब्द को उठाकर दूसरे स्थान पर समस्त-पद का अंग बना देने में ही उनकी शैली का चरमोत्कर्ष है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में कम है। उन्होंने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधा शैली और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। वह अपनी शैली में सर्वथा स्वतन्त्र रहे हैं। विद्रोही कवि होने के कारण उन्होंने अभिव्यक्ति की किसी विशिष्ट प्रणाली के भीतर अपनी विचारधारा को बाँधना स्वीकार नहीं किया है। उनकी शैली ओजमय, पठन-कलायुक्त और नाटकीय छटा से परिपूर्ण है। शृंगार की मधुरिमा और वीर रस का ओज उनकी शैली की विशेषता है। अनुप्रास के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। संगीतमय सांगोपांग रूपक बाँधने में वह सिद्ध-हस्त हैं।

निराला और पन्त

अभी हमने निराला की भाषा-शैली पर विचार किया है। अब हम उनकी और उनके समकालीन कवि पन्त की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। हम यह तो जानते ही हैं कि प्रत्येक कवि अपने जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उन प्रभावों का अंकन अपनी रचनाओं में करता है। ऐसी दशा में एक ही युग में जन्म लेने और एक ही साथ काव्य-साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर भी कवियों की विचार-धारा और उसकी अभिव्यंजना में अन्तर पड़ जाता है। निराला और पन्त के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। दोनों एक ही युग—नवीन युग—के कलाकार हैं और लगभग एक ही साथ दोनों कवियों का हिन्दी-साहित्य में अभ्युदय तथा उत्थान होता है; पर दोनों अपनी जीवन-परिस्थितियों और मनोदशाओं के अनुकूल साहित्य-साधना के पुनीत क्षेत्र में अपने स्वतन्त्र मार्ग का अनुसरण करते हैं। निराला की मनोदशा उनकी भार्या के स्वर्गारोहण के पश्चात्, श्री रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी

विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्पर्क में आने पर परिवर्तित होती है, पर उसी समय पन्त के जीवन में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित नहीं होता। निराला का पूर्व जीवन भी पन्त के पूर्व जीवन से भिन्न है। निराला का बचपन बंगाल के एक राजदरबार में बीता है। व्यायाम में भी उनकी रुचि रही है, इसलिये उनके स्वभाव में पौरुष और स्वाभिमान है। पन्त का बचपन प्रकृति की गोद में बीता है, इसलिये उनके स्वभाव में कोमलता और मार्दव है। इसके अतिरिक्त निराला का जीवन अधिक संघर्षमय रहा है। उन्होंने अपने जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ अधिक झेली हैं और समाज की कटुता का सामना किया है। पन्त का जीवन बराबर शान्तिमय रहा है। वह शान्तिमय वातावरण में पनपे और विकसित हुए हैं। इसलिए निराला ने अपनी रचनाओं में जहाँ सामाजिक भावनाओं की प्रायः उपेक्षा की है, वहाँ पन्त उनकी ओर अग्रसर रहे हैं।

भावना के क्षेत्र में निराला और पन्त दोनों करुणा और संवेदना के गायक हैं। मानव की कोमल प्रवृत्तियों और उनके सुख-दुःख का चित्रण दोनों ने सफलतापूर्वक किया है। निराला की 'विधवा' और पन्त की 'विधवा नववधू' में करुणा और संवेदनशीलता की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। विश्व-बधुत्व की ओर निराला भी झुके हैं और पन्त भी। पन्त के 'गूँजे जय ध्वनि से आसमान' और निराला के 'जग को ज्योतिर्मय कर दो' में विश्व-बन्धुत्व की भावना समान रूप से चित्रित हुई है। पर इतनी समानता होने पर भी जो तड़पन, जो टीस, भावनाओं की जो गहनता और तन्मयता हमें पन्त में मिलती है वह निराला में नहीं है। निराला में भावों का सहज ओज है और पन्त में भावों का स्वाभाविक मार्दव। निराला की 'विधवा' जहाँ केवल करुणा का—संवेदनशीलता का—चित्र उपस्थित करके रह जाती है, वहाँ पन्त की 'विधवा नववधू' हमारी करुणा पर, हमारी संवेदना पर, अपना स्वाभाविक अधिकार जमा लेती है। निराला हमारी भावनाओं को जगाते हैं, उन्हें उद्वेलित और संचालित नहीं करते; पन्त हमारी भावनाओं को जगाते हैं और उन्हें उद्वेलित और संचालित भी करते हैं। निराला में भावों की कला है और पन्त में भावों

का मार्दव। निराला की रचनाओं के युगल वाहक हैं भावना और तर्कना एवं अनुभूति और बुद्धि। उनकी बुद्धिशीलता उन्हें तार्किक और दार्शनिक रूप में हिन्दी-संसार के सामने लाती है और उनकी अनुभूतिशीलता उन्हें कवि के रूप में। पन्त की रचनाओं में उनका एक ही रूप निखरा है और वह है कवि का। पन्त प्रकृति, यौवन, प्रेम और शृङ्गार के कवि हैं। भावना के क्षेत्र में पन्त का बौद्धिक विकास उसी सीमा तक ग्राह्य हुआ है जिस सीमा तक एक कवि के लिए उसका प्रयोग वांछनीय है। अपने इसी गुण के कारण पन्त निराला की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय हैं। एक बात और है। पन्त की कविता जीवन के संघर्ष में नहीं, जीवन के प्रहर्ष में ही ग्राह्य हुई है। वह सदैव दृश्य जगत् के कवि रहे हैं और उन्होंने जीवन में सौन्दर्य और संगीत को प्यार किया है। उनकी रचनाओ में जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का सजीव और सुन्दर चित्रण है। उनकी कविता राजसी है, तामसी नहीं। उसमें एकान्त क्रीड़ा है, पीड़ा नहीं। निराला का काव्य संघर्ष में पनपा और विकसित हुआ है। उनकी कविता राजसी होने पर भी हर्ष-विषाद और सांसारिक आवेग-प्रवेग के उद्वेगों से परिपूर्ण है।

दार्शनिक क्षेत्र में निराला और पन्त दोनों रहस्यवादी और छायावादी हैं, पर पन्त में छायावाद की और निराला में रहस्यवाद की मात्रा अधिक है। छायावाद में आत्मा का आत्मा से मिलन होता है और रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से। इस प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण, सचेतन, संवेदनशील पाते हैं तब छायावाद की सृष्टि होती है; परन्तु जब हम उस पुष्प में किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन की सत्ता का आभास पाते हैं तब रहस्यवाद की अनुभूति होती है। निराला शुद्ध रहस्यवादी हैं। उनका सारा काव्य अद्वैत-भक्ति-दर्शन से प्रभावित है। वेदान्ती होने के कारण अदृश्य के प्रति उनके काव्य में इतना आग्रह है कि वह किसी क्षण उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। इसलिये उनकी रहस्यभावना में साम्प्रदायिकता का पुट आ गया है और उन्होंने उसकी रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं; पर पन्त में जहाँ

रहस्य-भावना है वहाँ वह अधिकतर स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं। उनकी रहस्य-भावना एक कवि की रहस्य-भावना है। उसमें जटिलता नहीं है, अस्पष्टता नहीं है, दुराव नहीं है। साम्प्रदायिक रहस्य-भावना के कारण ही निराला अपनी रचनाओं में अधिकांश अस्पष्ट और जटिल हो गये हैं। और इसलिए उन्हें समझने में पाठकों को कठिनाई होती है। पन्त का छायावाद सामान्य भाव-भूमि पर है; इसीलिए वह सरस, सुबोध और हृदयग्राही है। वह हमें प्रिय है इसीलिए कि वह हमें वस्तु-जगत् से वस्तु-जगत् की ओर ही ले जाता है और हमारी मनोवृत्तियों का, हमारी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का, हमारे सुख-दुःख का, यथार्थ चित्रण करता है।

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। वह प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानते हैं। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौन्दर्य की बड़ी ही सुन्दर व्यञ्जना की है। पन्त का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति इससे भिन्न है। उन्होंने प्रकृति को नारी के विविध रूपों में देखा है। इसलिए उनके प्रकृति-चित्रण में ऐन्द्रिक सुख अधिक है। प्रकृति के व्यापारों के प्रति दोनों कलाकारों ने आश्चर्य प्रकट किया है, पर निराला की जिज्ञासा पंत की भाँति बाल-जिज्ञासा नहीं है। निराला अपनी जिज्ञासा में एक सतर्क दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गम्भीर रूप का ही चित्रण किया है। इसलिए जहाँ पन्त प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य पर ही टिक गये हैं, वहाँ निराला ने उसके भीतर पैठने का भी प्रयास किया है। रंगों के वर्णन में दोनों की समान गति है, पर जहाँ निराला में श्यामवर्ण की ओर अधिक झुकाव है वहाँ पंत में श्वेत और उज्ज्वल की ओर।

काव्य-विषय की दृष्टि से निराला की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह अधिक है। इसलिए उन्होंने निबन्धात्मक रचनाएँ भी की हैं। 'तुलसीदास' उनकी निबन्धात्मक रचना है। उनके अधिकांश मुक्तक भी

का मार्दव। निराला की रचनाओं के युगल वाहक हैं भावना और तर्कना एवं अनुभूति और बुद्धि। उनकी बुद्धिशीलता उन्हें तार्किक और दार्शनिक रूप में हिन्दी-संसार के सामने लाती है और उनकी अनुभूतिशीलता उन्हें कवि के रूप में। पन्त की रचनाओं में उनका एक ही रूप निखरा है और वह है कवि का। पन्त प्रकृति, यौवन, प्रेम और शृङ्गार के कवि हैं। भावना के क्षेत्र में पन्त का बौद्धिक विकास उसी सीमा तक ग्राह्य हुआ है जिस सीमा तक एक कवि के लिए उसका प्रयोग वांछनीय है। अपने इसी गुण के कारण पन्त निराला की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय हैं। एक बात और है। पन्त की कविता जीवन के संघर्ष में नहीं, जीवन के प्रहर्ष में ही ग्राह्य हुई है। वह सदैव दृश्य जगत् के कवि रहे हैं और उन्होंने जीवन में सौन्दर्य और संगीत को प्यार किया है। उनकी रचनाओं में जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का सजीव और सुन्दर चित्रण है। उनकी कविता राजसी है, तामसी नहीं। उसमें एकान्त क्रीड़ा है, पीड़ा नहीं। निराला का काव्य संघर्ष में पनपा और विकसित हुआ है। उनकी कविता राजसी होने पर भी हर्ष-विषाद और सांसारिक आवेग-प्रवेग के उद्वेगों से परिपूर्ण है।

दार्शनिक क्षेत्र में निराला और पन्त दोनों रहस्यवादी और छायावादी हैं, पर पन्त में छायावाद की और निराला में रहस्यवाद की मात्रा अधिक है। छायावाद में आत्मा का आत्मा से मिलन होता है और रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से। इस प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण, सचेतन, संवेदनशील पाते हैं तब छायावाद की सृष्टि होती है; परन्तु जब हम उस पुष्प में किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन की सत्ता का आभास पाते हैं तब रहस्यवाद की अनुभूति होती है। निराला शुद्ध रहस्यवादी हैं। उनका सारा काव्य अद्वैत-भक्ति-दर्शन से प्रभावित है। वेदान्ती होने के कारण अदृश्य के प्रति उनके काव्य में इतना आग्रह है कि वह किसी क्षण उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। इसलिये उनकी रहस्यभावना में साम्प्रदायिकता का पुट आ गया है और उन्होंने उसकी रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं; पर पन्त में जहाँ

रहस्य-भावना है वहाँ वह अधिकतर स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं। उनकी रहस्य-भावना एक कवि की रहस्य-भावना है। उसमें जटिलता नहीं है, अस्पष्टता नहीं है, दुराव नहीं है। साम्प्रदायिक रहस्य-भावना के कारण ही निराला अपनी रचनाओं में अधिकांश अस्पष्ट और जटिल हो गये हैं। और इसलिए उन्हें समझने में पाठकों को कठिनाई होती है। पन्त का छायावाद सामान्य भाव-भूमि पर है; इसीलिए वह सरस, सुबोध और हृदयग्राही है। वह हमें प्रिय है इसीलिए कि वह हमें वस्तु-जगत् से वस्तु-जगत् की ओर ही ले जाता है और हमारी मनोवृत्तियों का, हमारी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का, हमारे सुख-दुःख का, यथार्थ चित्रण करता है।

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। वह प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानते हैं। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौन्दर्य की बड़ी ही सुन्दर व्यञ्जना की है। पन्त का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति इससे भिन्न है। उन्होंने प्रकृति को नारी के विविध रूपों में देखा है। इसलिए उनके प्रकृति-चित्रण में ऐन्द्रिक सुख अधिक है। प्रकृति के व्यापारों के प्रति दोनों कलाकारों ने आश्चर्य प्रकट किया है, पर निराला की जिज्ञासा पंत की भाँति बाल-जिज्ञासा नहीं है। निराला अपनी जिज्ञासा में एक सतर्क दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गम्भीर रूप का ही चित्रण किया है। इसलिए जहाँ पन्त प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य पर ही टिक गये हैं, वहाँ निराला ने उसके भीतर पैठने का भी प्रयास किया है। रंगों के वर्णन में दोनों की समान गति है, पर जहाँ निराला में श्यामवर्ण की ओर अधिक झुकाव है वहाँ पंत में श्वेत और उज्ज्वल की ओर।

काव्य-विषय की दृष्टि से निराला की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह अधिक है। इसलिए उन्होंने निबन्धात्मक रचनाएँ भी की हैं। 'तुलसीदास' उनकी निबन्धात्मक रचना है। उनके अधिकांश मुक्तक भी

निबन्धात्मक हो गये हैं। पर उनमें एक ही भाव की पूर्णता है। पंत ने मुक्तक कविताएँ लिखी हैं। उनके मुक्तकों में न तो निबन्धात्मकता है और न एक भाव की पूर्णता। भावों की विविधता ही उनके मुक्तकों का सौन्दर्य है। उनमें भावों का काव्योचित प्रकाशन है, निबन्धोचित प्रतिष्ठापन नहीं।

काव्य-कला की दृष्टि से निराला पंत की अपेक्षा अधिक कला-प्रिय हैं। निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है उतनी अभिव्यक्ति में तन्मय नहीं है। उनका काव्य-पाण्डित्य उनके कवि को स्वाभाविक नहीं रहने देता। जहाँ उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है वहाँ उनकी कला अनुभूति से मार्मिक हो गयी है। पंत भाव-प्रिय हैं। कला-भार से उनकी रचना बोझिल नहीं हुई है। यही कारण है कि पंत अपनी रचनाओं में निराला के समान दुरूह नहीं हैं। निराला कला-प्रधान हैं और पंत भाव और कल्पना-प्रधान। बलशाली कल्पना-शक्ति के कारण पंत निराला की अपेक्षा उपमा पर अधिक आकर्षण विकीर्ण कर सके हैं। निराला में प्रबन्धात्मकता के कारण साङ्गोपाङ्ग रूपक को स्थान मिला है। इस प्रकार 'निराला का काव्य यदि अपनी प्रतिभा की जटिलता में एक गहन-गिरि-कानन बन गया है तो पंत का काव्य अपनी स्वच्छ सुषमा में एक पल्लवित गुञ्जित उद्यान'। यही कारण है कि निराला की अपेक्षा पंत नवयुवकों में अधिक लोक-प्रिय हैं।

छन्द-योजना की दृष्टि से निराला ने पंत की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयोग किया है। छन्द-बन्धनों को मुक्त करने में निराला का सर्वप्रथम स्थान है। उन्होने ही मुक्त रचनाओं और गीतों में शक्ति-सौन्दर्य भरा है और काव्य के साथ संगीत का संयोजन बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। उन्होंने गजलें भी लिखी हैं और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में भी कविता की है। उनके पद्यों के चरणों में चरणों की स्वछन्द विषमता है। पंत की छन्द-योजना में विविधता नहीं है, पर वह है संगीतमय। उसमें स्वरों की तारतम्यता और सम मात्राओं की अधिकता है। निराला के छन्दों में इनका अभाव-सा है।

भाषा-शैली की दृष्टि से निराला की भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित

और क्लिष्ट है। उनकी भाषा-शैली पर बंग-भाषा और शैली का भी यथेष्ट प्रभाव है। कहीं-कहीं समास-युक्त शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से काव्य में जटिलता भी आ गयी है। उन्होंने शब्दों को कला की दृष्टि से अधिक परखा है और नये शब्द भी गढ़े हैं। उनकी शैली में ओज, पौरुष और नाटकीय छटा अधिक है। पन्त की भाषा दूर्वादल के समान कोमल और ललित है। उसमें माधुर्य का आधिक्य है। उनका शब्द-चयन भावपूर्ण और सरस है। वह समासांत पदों के प्रयोग में पटु हैं और शब्दों की ध्वनि से भावों को मूर्त्त रूप देने की अच्छी कला जानते हैं। निराला वाक्यों के प्रवाह से वातावरण को मूर्त्त रूप देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला और पन्त हिन्दी के नवीन साहित्याकाश के दो उज्ज्वल नक्षत्र हैं जिनके प्रकाश से वर्तमान हिन्दी का कोना-कोना जगमगा रहा है। वस्तुतः छायावादी युग के ये दोनों कलाकार दो छोर हैं। निराला में पुरुष-सुषमा है, पन्त में कोमल मधुरिमा। निराला इस युग के हृदय के अवचेतन मानस हैं, पन्त उसकी चेतना अभिव्यक्ति। निराला में शैव वैविध्य है, पन्त में भावों की एकरसता और 'वैष्णवी विलास'। हिन्दी के ये दोनों साधक एक साथ उभरे, एक साथ पनपे हैं। कभी दोनों ने कदम मिलाया और कभी दोनों में संघर्ष हुआ, पर दोनों परिस्थितियों में हिन्दी-साहित्य को उनसे जो दान मिला वह अपने में महान् है।

अभी हम निराला और पन्त की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर चुके हैं। अब हम उनकी रचनाओं की उनके समकालीन अन्य कवियों की रचनाओं से तुलना करेंगे। पहले हम 'प्रसाद' को लेते हैं।

निराला और प्रसाद

प्रसाद और निराला हिन्दी के दो अप्रतिम कलाकार हैं। दोनों की प्रतिभा प्रायः बहुमुखी है। नाटक और चम्पू के अतिरिक्त निराला की देन वही है जो प्रसाद की। दोनों का मूल संस्कार संस्कृत साहित्य में है। दोनों दार्शनिक और विवेचक हैं। दोनों की आधार-भूमि अतीत कालीन है। दोनों में सौन्दर्य-पिपासा, अज्ञात की गहरी अनुभूति, निराशा के पश्चात् आशा का

संदेश और शृङ्गार का संयम पाया जाता है। पर इतनी समानता होते हुए भी दोनों एक नहीं हैं। निराला दार्शनिक होकर कवि हैं और प्रसाद कवि होकर दार्शनिक हैं। निराला के रहस्यवाद का माध्यम है शाश्वत ज्योति; प्रसाद के रहस्यवाद का माध्यम है मानव। निराला का माध्यम खड़ीबोली के सम्पर्क में आया और प्रसाद का माध्यम बंगला के सम्पर्क में। निराला में शैली की प्रधानता है, प्रसाद में सौन्दर्य की। दोनों की भाषा और शैली में भी बाह्यान्तर है। निराला की भाषा में पक्षपात नहीं है। संस्कृत, फारसी बंगला—इन तीनों भाषाओं के शब्दों से उन्होंने अपनी शैली को अलंकृत किया है। प्रसाद की भाषा में पक्षपात है। उनकी भाषा में केवल संस्कृत-शब्दों की प्रधानता है। शैली के क्षेत्र में निराला प्रसाद की अपेक्षा अधिक 'टेकनीशियन' हैं। उन्होंने छन्द, भाषा और अलङ्कार में नये-नये प्रयोग किये हैं। इस कारण जहाँ निराला अस्पष्ट हो गये हैं वहाँ प्रसाद अपनी भाषा, शैली, पद-योजना आदि में स्पष्ट हैं। निराला पर बंग-साहित्य का प्रभाव है और प्रसाद पर संस्कृत-साहित्य का।

निराला और महादेवी

अब महादेवी को लीजिये। निराला से महादेवी की तुलना केवल गीति-काव्य के क्षेत्र में की जा सकती है। महादेवी आधुनिक गीति-काव्य की 'मीरा' हैं। उनके गीतों में मीरा की विरह-कातर करुणा है। उन्होंने वेदना में ही पूर्ण सन्तोष, जीवन की पूर्ण उज्ज्वलता पाई है। उनके विरह में उल्लास की रेखा है। उनका प्रियतम विश्वव्यापक दिव्य सत्य है; अतएव उसकी अनुभूति में वह पार्थिव संसार से विरक्त होकर भाव-जगत् में पहुँच जाती हैं और राग-विराग, द्वैत-अद्वैत की बाधा से मुक्त होकर उसी में एकाकार हो जाती हैं। सूफियों की-सी यह रहस्यात्मकता निराला के गीतों में नहीं है। निराला वेदान्ती गीतिकार हैं। उनके गीतों में पुरुषत्व है, महादेवी के गीतों में नारीत्व। वह महादेवी की अपेक्षा भाव-भूमि में बहुत ऊँचे हैं और संगीत, रस, काव्यकला आदि में आगे हैं। उनकी प्रतिभा भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। महादेवी करुणापूर्ण नारी-सुलभ हृदय की स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति में अतुलनीय हैं। भाषा और शैली के क्षेत्र में

महादेवी और निराला में वही अन्तर है जो प्रसाद और निराला में। महादेवी की अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है; पर निराला की भाँति वह उन्हीं में सीमित नहीं हैं।

अब तक की विवेचनाओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में निराला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लौह-लेखनी से प्रसूत रचनाओं ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया है और विश्व के साहित्य में उसे गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी को उनकी देन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। जिस समय हिन्दी के पुनीत प्रांगण में उन्होंने प्रवेश किया था, उस समय हिन्दी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसका साहित्य अत्यन्त गिरा हुआ—बिखरा हुआ था। निराला उसी युग में अवतीर्ण हुए। द्विवेदी-युग के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी को अपनाया और उसे बँधी हुई शैली से निकालकर विविधता प्रदान की। उन्होंने हिन्दी कविता के बाह्य और आंतरिक दोनों रूपों में युगान्तरकारी परिवर्तन किया और विदेशी प्रभावों को उसमें घुला-मिलाकर उसे काव्य-भूमि पर खड़े होने योग्य बनाया। क्या भाव, क्या छन्द और क्या भाषा—तीनों दिशाओं में उनकी देन हिन्दी को गौरवान्वित करने में समर्थ हुई है।

निराला का स्थान

निराला हिन्दी की अमर विभूति हैं। वह कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। वह कवि हैं, कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं, निबन्धकार हैं और रेखा-चित्रकार हैं। उन्होंने आलोचना भी की है। हिन्दी-जगत् में निराला अपने कवि रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने इस रूप में वह उच्चकोटि के कलाकार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बंग-साहित्य में पोषित होने के कारण उनकी कला-कृतियाँ उससे प्रभावित हैं; पर जैसा अन्यत्र कहा गया है, उन्होंने प्रत्येक प्रभाव पर अपने पौरुष और अपने गंभीर दार्शनिक विचारों की मुद्रा अंकित कर दी है। वह हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। अद्वैतवाद की जटिल और संस्कृतमयी विचारधारा का सरस-सहज प्रकाशन उनकी रचना में बड़ी ही रमणीयता और सुन्दरता से हुआ है। उनके भावों की व्यंजना बड़ी ही विशद और प्रभावोत्पादक

संदेश और शृङ्गार का संयम पाया जाता है। पर इतनी समानता होते हुए भी दोनों एक नहीं हैं। निराला दार्शनिक होकर कवि हैं और प्रसाद कवि होकर दार्शनिक हैं। निराला के रहस्यवाद का माध्यम है शाश्वत ज्योति; प्रसाद के रहस्यवाद का माध्यम है मानव। निराला का माध्यम खड़ीबोली के सम्पर्क में आया और प्रसाद का माध्यम बंगला के सम्पर्क में। निराला में शैली की प्रधानता है, प्रसाद में सौन्दर्य की। दोनों की भाषा और शैली में भी बाह्यान्तर है। निराला की भाषा में पक्षपात नहीं है। संस्कृत, फारसी बंगला—इन तीनों भाषाओं के शब्दों से उन्होंने अपनी शैली को अलंकृत किया है। प्रसाद की भाषा में पक्षपात है। उनकी भाषा में केवल संस्कृत-शब्दों की प्रधानता है। शैली के क्षेत्र में निराला प्रसाद की अपेक्षा अधिक 'टेकनीशियन' हैं। उन्होंने छन्द, भाषा और अलङ्कार में नये-नये प्रयोग किये हैं। इस कारण जहाँ निराला अस्पष्ट हो गये हैं वहाँ प्रसाद अपनी भाषा, शैली, पद-योजना आदि में स्पष्ट हैं। निराला पर बंग-साहित्य का प्रभाव है और प्रसाद पर संस्कृत-साहित्य का।

निराला और महादेवी

अब महादेवी को लीजिये। निराला से महादेवी की तुलना केवल गीति-काव्य के क्षेत्र में की जा सकती है। महादेवी आधुनिक गीति-काव्य की 'मीरा' हैं। उनके गीतों में मीरा की विरह-कातर करुणा है। उन्होंने वेदना में ही पूर्ण सन्तोष, जीवन की पूर्ण उज्ज्वलता पाई है। उनके विरह में उल्लास की रेखा है। उनका प्रियतम विश्वव्यापक दिव्य सत्य है; अतएव उसकी अनुभूति में वह पार्थिव संसार से विरक्त होकर भाव-जगत् में पहुँच जाती हैं और राग-विराग, द्वैत-अद्वैत की बाधा से मुक्त होकर उसी में एकाकार हो जाती हैं। सूफियों की-सी यह रहस्यात्मकता निराला के गीतों में नहीं है। निराला वेदान्ती गीतिकार हैं। उनके गीतों में पुरुषत्व है, महादेवी के गीतों में नारीत्व। वह महादेवी की अपेक्षा भाव-भूमि में बहुत ऊँचे हैं और संगीत, रस, काव्यकला आदि में आगे हैं। उनकी प्रतिभा भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। महादेवी करुणापूर्ण नारी-सुलभ हृदय की स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति में अतुलनीय हैं। भाषा और शैली के क्षेत्र में

महादेवी और निराला में वही अन्तर है जो प्रसाद और निराला में। महादेवी की अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है; पर निराला की भाँति वह उन्हीं में सीमित नहीं हैं।

निराला का स्थान

अब तक की विवेचनाओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में निराला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लौह-लेखनी से प्रसूत रचनाओं ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया है और विश्व के साहित्य में उसे गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी को उनकी देन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। जिस समय हिन्दी के पुनीत प्रांगण में उन्होंने प्रवेश किया था, उस समय हिन्दी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसका साहित्य अत्यन्त गिरा हुआ—बिखरा हुआ था। निराला उसी युग में अवतीर्ण हुए। द्विवेदी-युग के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी को अपनाया और उसे बँधी हुई शैली से निकालकर विविधता प्रदान की। उन्होंने हिन्दी कविता के बाह्य और आंतरिक दोनों रूपों में युगान्तरकारी परिवर्तन किया और विदेशी प्रभावों को उसमें घुला-मिलाकर उसे काव्य-भूमि पर खड़े होने योग्य बनाया। क्या भाव, क्या छन्द और क्या भाषा—तीनों दिशाओं में उनकी देन हिन्दी को गौरवान्वित करने में समर्थ हुई है।

निराला हिन्दी की अमर विभूति हैं। वह कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। वह कवि हैं, कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं, निबन्धकार हैं और रेखा-चित्रकार हैं। उन्होंने आलोचना भी की है। हिन्दी-जगत् में निराला अपने कवि रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने इस रूप में वह उच्चकोटि के कलाकार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बंग-साहित्य में पोषित होने के कारण उनकी कला-कृतियाँ उससे प्रभावित हैं; पर जैसा अन्यत्र कहा गया है, उन्होंने प्रत्येक प्रभाव पर अपने पौरुष और अपने गंभीर दार्शनिक विचारों की मुद्रा अंकित कर दी है। वह हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। अद्वैतवाद की जटिल और संस्कृतमयी विचारधारा का सरस-सहज प्रकाशन उनकी रचना में बड़ी ही रमणीयता और सुन्दरता से हुआ है। उनके भावों की व्यंजना बड़ी ही विशद और प्रभावोत्पादक

होती है। उन्होंने पार्थिव और अपार्थिव दोनों के उत्तम और निर्मल शब्द-चित्र हिन्दी को दिये हैं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि बड़ी प्रखर, व्यापक और सूक्ष्म है। यही कारण है कि उन्होंने जीवन, जगत् और प्रकृति के जो अनेक मनोरम चित्र अपनी अन्तर्भावना के सामञ्जस्य से उतारे हैं, उनसे हिन्दी-साहित्य को, विशेषतः काव्य-साहित्य को यथेष्ट बल मिला है। उनके पार्थिव सौंदर्य के चित्र कहीं-कहीं नग्न अवश्य हो गये हैं, पर उनमें अश्लीलता की भावना नहीं है। ऐसे पार्थिव सौंदर्य-चित्रण से कवि की भावना की तो तृप्ति हो जाती है,उसके पीछे कोई संकेत नहीं मिलता।

निराला का काव्य-साहित्य वर्णनात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार का है। उनकी वर्णनात्मक रचनाओं में 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके गीत हिन्दी-काव्य की विशेष निधि हैं। उनके गीतों में उनकी भावना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी गीतात्मक और मुखरित हो उठी है। उनमें भावों का तीव्र वेग है, तन्मयता और तल्लीनता है। भाव और संगीत का सुन्दर समन्वय उनके गीतों में ही हुआ है। उनमें हमें उनके प्रेम और भक्ति की कोमलतम भावनाओं का सहज स्पन्दन और उनके अद्वैतवादी उद्गारों का तन्मय राग मिलता है। 'परिमल' उनकी ऐसी ही मार्मिक और हृदय-भेदी रचनाओं का संग्रह है। इन गीतों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ करुणा और सहानुभूति के आधार पर खड़ी हैं। उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' में हुआ है। इन गीतों में विषय का वैविध्य अत्यधिक है। कुछ गीतों में जिज्ञासा का भाव है, कुछ में भक्तिपूर्ण उद्गार हैं और कुछ में देश-भक्ति है। कुछ गीतों से कवि की आशावादिता भी परिलक्षित होती है। इधर कुछ दिनों से वह वस्तुवाद की ओर भी झुके हैं। यह उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव जान पड़ता है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में उनके काव्य के आदर्श बहुत पीछे छूट गये हैं। अब केवल सिद्धांतवाद और वस्तुओं का वास्तविक चित्रण ही उनकी कविता का विशेष गुण रह गया है। 'अणिमा' और 'कुकुरमुत्ता' में उनका यही दृष्टिकोण दिखायी देता है। 'परिमल', 'अनामिका' तथा 'गीतिका' में हमें उनका जो रूप

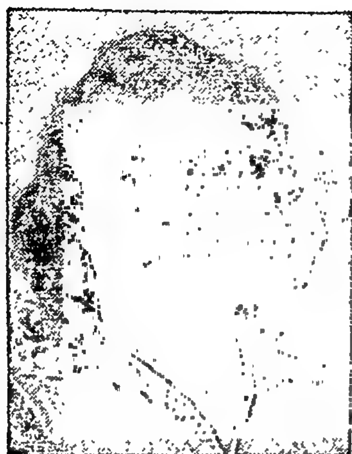
देखने को मिला है, उसका इन दोनों नवीनतम रचनाओं में अभाव है। 'परिमल' के निराला 'कुकुरमुत्ता' में अपना पूर्वपन खो बैठे हैं।

निराला कहानीकार और उपन्यास-लेखक भी हैं, पर इन रूपों में हिन्दी-जगत् ने उन्हें अधिक स्वीकार नहीं किया है। सखी, अप्सरा, अलका, लिली, प्रभावती आदि में उन्होंने वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर विकासमूलक मनोरम अंशों को ही अपनाया है। कविता की भाँति वह उपन्यास तथा कहानियों में भारतीय संस्कृति को भूले नहीं हैं। उन्होंने इन रचनाओं में अपनी विद्या-बुद्धि और संस्कृति से ही नायिकाएँ संघटित की हैं। इनमें घटनाएँ हैं, पर ऐसी नहीं जो पात्रों पर शासन करती हों। उनकी कहानी तथा उपन्यास में घटनाओं का संकलन पात्रों को प्रकाश में लाने के लिये हुआ है। उनके रेखा-चित्र उनकी कहानियों तथा उपन्यासों से उत्कृष्ट हैं। उनके गद्य में शक्ति और ओज, व्यंग्यशीलता और चुटकियाँ, अक्खड़पन और रसिकता, एक साथ मिलती हैं। काव्य की भाँति वह अपने गद्य में भी रहस्यवादी हैं।

निराला की छन्द-योजना विस्तृत और विशाल है। उन्होंने हिन्दी-छन्दों में कई स्वतंत्र प्रयोग किये हैं। उनके मुक्त अतुकान्त छन्द हिन्दी में एक नये युग का विधान करते हैं। उन्होंने गजलें भी लिखी हैं, पर इस दिशा में वह अधिक सफल नहीं हुए हैं। मात्रिक छन्दों का उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उनके छंद संगीतमय और नाटकीय होते हैं।

निराला स्वतंत्र प्रकृति के कवि हैं। वह स्वाभिमानी हैं और उनकी प्रतिभा मर्दानी है। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार ही कविता-कामिनी को स्वच्छंदता देकर उसका स्वाभाविक संगीतमय सौन्दर्य उद्भाषित करने का प्रयत्न किया है। उसमें वैविध्य भी है और विषमता भी। वैविध्य और विषमता का उनकी रचनाओं में सुन्दर सम्मिलन हुआ है। उनकी स्वच्छंद छंदमय कविताएँ कुछ तुकान्त हैं और कुछ अतुकान्त। उनमें बुद्धिवाद भी है और हृदयवाद भी। उनमें ब्रह्मवाद भी है, पर ब्रह्मवाद के साथ भक्तिवाद भी है। उन्होंने निबन्धात्मक कविताएँ भी लिखी हैं और गीतों की रचना भी की है। अपनी इन रचनाओं में वह कहीं ओजस्वी हैं और कहीं कोमल। उनके भावों में, उनकी

कला में, उनकी भाषा और शैली में विविधता है। उनकी कविता कला के संघर्ष में पनपी और विकसित हुई है। उनके शब्द-चित्र भी बड़े मनोमुग्धकारी और सजीव होते हैं। उनके ऐसे चित्र करुणा और सहानुभूति से भरे रहते हैं। वह आशावादी हैं और भारतीय संस्कृति के उपासक हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में दार्शनिकता का उल्लास रहता है। उनकी कल्पना-शक्ति प्रबल है। कल्पना उनकी सहचरी होकर उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। उनके रहस्यवाद में स्वाभाविकता कम, साम्प्रदायिकता अधिक है; इससे वह कुछ जटिल अवश्य हो गये हैं। भाव, भाषा और छन्द के क्षेत्रों में निराला सर्वथा नवीन हैं और इसी नवीनता तथा मौलिकता के कारण वह युग-प्रवर्तक कवि कहे जाते हैं।



७

सुमित्रानन्दन पंत

जन्म

सं० १९५७

जीवन-परिचय

अलमोड़ा से लगभग २५ मील उत्तर की ओर कौसानी एक रमणीक प्रकृति-सौन्दर्य-पूर्ण पहाड़ी ग्राम है। इसी ग्राम में सं० १९५७ में पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म हुआ था। उनके पिता पं० गंगादत्त पन्त जमींदार थे और कौसानी राज्य में कोषाध्यक्ष का काम करते थे। उनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। पन्तजी उनकी सबसे छोटी सन्तान हैं। वह चार भाई हैं।

पन्त की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में सात वर्ष की अवस्था से आरम्भ हुई। यहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह अलमोड़ा के गवर्नमेंट हाई स्कूल में भर्ती हुए। इस स्कूल में उन्होंने नवीं कक्षा तक पढ़ा। इसके बाद वह काशी चले गये और सन् १९१७ ई० में वहाँ के जयनारायण हाईस्कूल से स्कूल-लीविंग की परीक्षा पास की।

सन् १९१९ ई० में वह प्रयाग आए और म्योर सेंट्रल कॉलिज में भर्ती हुए। यहाँ उनकी विकासोन्मुखी प्रतिभा को आश्रय मिला। आरम्भ ही से साहित्यिक अभिरुचि रखने के कारण कॉलिज में पढ़ते समय पं० शिवाधार पाण्डेय का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। वह हिन्दी के पुराने लेखक तथा काव्य-मर्मज्ञ थे और उनका अध्ययन भी गम्भीर था; इसीलिए उन्होंने पन्त की काव्य-प्रतिभा देखकर अँगरेजी कवियों की रचनाएँ पढ़ने में उन्हें विशेष सहायता दी। उन्हीं की देख-रेख में पन्त ने उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध आलोचनात्मक निबन्धों, भास आदि के नाटकों तथा तुलनात्मक आलोचना का अध्ययन किया। निरन्तर अध्ययन से पन्त की रुचि साहित्य और काव्य रचना की ओर परिष्कृत रूप से अग्रसर हुई।

सन् १९२२ ई० में पन्त को अपना कॉलिज-जीवन समाप्त कर देना पड़ा। इसके पश्चात् वह घर चले गये और वहाँ उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना प्रारम्भ किया। उनका अध्ययन कई दिशाओं में हुआ है। अँगरेजी तथा विदेशी साहित्यकारों के काव्यों, श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों और संस्कृत के काव्यों का मनन करने से उनकी प्रतिभा को पर्याप्त बल मिला है। उपनिषद्, दर्शन तथा आध्यात्मिक साहित्य की ओर भी उनकी रुचि रही है। बंगला-साहित्य, विशेषतः रविबाबू के साहित्य, का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। संगीत से उन्हें विशेष प्रेम है। उन्होंने कुछ दिनों तक 'रूपाभ' मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है। मदरास में रहकर उन्होंने उदयशंकर के चलचित्र 'कल्पना' का कार्य भी किया है। लोकायन संस्कृत-पीठ के निर्माण और संगठन में भी उनका हाथ है। इस समय वह रेडियो-विभाग में कार्य कर रहे हैं।

पन्त की रचनाएँ—पंत ने आधुनिक हिंदी साहित्य को कई काव्य-पुस्तकें दान की हैं। विद्यार्थी-जीवन से ही काव्य-रचना की ओर अग्रसर होने के कारण उनकी रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने कहानी, नाटक, उपन्यास लिखने के साथ-साथ कविता भी की है। वास्तव में कविता ही उनकी प्रतिभा का प्रधान क्षेत्र है। इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता सर्वमान्य है। वह हिन्दी के कुशल कवि और कलाकार हैं। उनकी

रचनाएँ इस प्रकार हैं —

(१) काव्य—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रन्थि, गुञ्जन, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल।

(२) नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्स्ना।

(३) उपन्यास—हार।

(४) कहानी-संग्रह—पाँच कहानियाँ।

(५) अनुवाद—उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद।

हिन्दी-काव्य के उन्नायकों में पंत का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनके रेशम-से कोमल कुंचित केश, उनका प्रशस्त ललाट, उनकी चमकती हुई आँखें, उनका सुगठित शरीर जहाँ हमें उनके शारीरिक सौंदर्य का परिचय देता है, वहाँ उनकी वेश-भूषा, उनका रहन-सहन, उनकी चाल-ढाल से हमें उनके आन्तरिक सौंदर्य का, उनकी कला-प्रियता का भी आभास मिल जाता है।

पन्त का व्यक्तित्व

वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला-प्रेमी हैं। प्रकृति-सुन्दरी की गोद में जन्म लेने के कारण उन्हें प्रकृति से विशेष प्रेम है, और यही प्रेम उनकी काव्य-प्रेरणा का रहस्य है। उनमें जो शालीनता, चिन्तनशीलता, सौम्यता, दार्शनिकता, कल्पना-शीलता, कोमलता और उदारता है वह उनके प्रकृति-प्रेम के ही कारण है। उनके प्रकृति-प्रेम ने उनमें जहाँ एक ओर इन विशेषताओं को प्रतिष्ठापित किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने उन्हें जन-भीरु भी बना दिया है। यही कारण है कि जन-समूह से अब भी वह दूर रहते हैं।

पंत के व्यक्तित्व की एक यह भी विशेषता है कि उनका अन्तर्व्यक्तित्व जितना कोलाहलपूर्ण और गम्भीर है उतना ही उनका वहिर्व्यक्तित्व उल्लासपूर्ण है। व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों के समन्वय में ही उनके कवि का यथार्थ परिचय एवं दर्शन मिलता है। साधारण दृष्टि से उनका व्यक्तित्व संस्कृत तथा शालीन है। उनके संगीतमय सुमधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य, विनम्र और निश्छल वार्तालाप में अद्भुत आकर्षण है। वह परम आस्तिक, आशावादी, आत्मविश्वासी और निरभिमानी हैं।

उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की सुन्दर क्षमता है। दैनिक जीवन में वह अपने ऊपर उतना ही बोझ रखना पसंद करते हैं जितने से स्वस्थ रहकर वह जीवन को जीवन बनाये रह सकें। कवि के साथ ही वह अच्छे गायक और मनोहर वाद्यकार भी हैं।

पंत अध्ययनशील कवि हैं। अपने विद्यार्थी-जीवन से अब तक वह बराबर अध्ययन करते आ रहे हैं। दर्शन, उपनिषद् आदि संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन उन्होंने विशेष रूप से किया है। इसके अतिरिक्त वह रवीन्द्र-साहित्य के भी प्रेमी रहे हैं और अँगरेजी-साहित्य के भी। वह हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता हैं। इन विविध प्रकार के अध्ययनों से उनके व्यक्तित्व को पर्याप्त बल मिला है। प्रकृति की खुली पुस्तक भी उनके अध्ययन का माध्यम रही है। इसलिए उनकी पर्यवेक्षण-शक्ति अद्भुत है। प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का उन्हें जितना ज्ञान है उतना हिन्दी के अन्य कवियों को नहीं है। वह प्रकृति के सुन्दर और सौम्य रूप के ही उपासक हैं, पर उसका उग्र रूप भी उन्होंने चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का सुन्दर पक्ष ही उन्होंने ग्रहण किया है। उनका मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं की ओर आकृष्ट नहीं हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अपने काव्य-जीवन में केवल सौंदर्य और प्रेम के ही उपासक रहे हैं और रहेंगे।

पंत का व्यक्तित्व असामान्य है। उनका अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर हैं। उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है। इसलिए वह जीवन के संघर्ष में जम कर खड़े नहीं हो सकते। उनका अब तक अविवाहित रहना, जीविका की ओर से प्रायः उदासीन रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न रहना आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह अपने जीवन में किसी प्रकार का संघर्ष सहन नहीं कर पाते। जीवन की बहुरंगी कठिनाइयों से वह उसी प्रकार भागते हैं जिस प्रकार एक साधक; और वस्तुतः वह एक साधक हैं। जीवन का एकाकीपन उनकी साधना में सहायक हुआ है; अतएव वह निरंतर एकान्त एवं अन्तर्मुखी होती गयी है। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही एक

पलायन, एक एस्केप है और यही पलायन-वृत्ति उनकी सौन्दर्य-साधना की जननी है। पलायन का मूल है अपने में वर्तमान विषमता के समाधान की शक्ति का अभाव देखना। इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य जब अपने में वर्तमान विषमताओं का समाधान नहीं कर पाता और उनसे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेता है तब वह पलायनशील हो जाता है। पन्त हिन्दी के पलायनशील कवि हैं और वस्तुतः इसी पलायनशीलता ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

अब हम पन्त पर पड़े हुए प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक कवि अथवा लेखक की कृतियों के बहिरंग तथा अन्तरंग पर उसके जीवन सम्बन्धी भौतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक वातावरण का अवश्य प्रभाव पड़ता है।

पन्त पर प्रभाव पन्त अपनी साहित्यिक-साधना में दो बातों से अधिक प्रभावित दीख पड़ते हैं—एक तो अपने भौतिक वातावरण से और दूसरे अपने साहित्यिक अध्ययन से। पन्त के जीवन-परिचय में हम यह बता चुके हैं कि बचपन में उनका पालन-पोषण प्राकृतिक सुषमा की गोद में हुआ था। इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्य का उनके काव्य-जीवन पर प्रभाव अवश्यंभावी था। इस सम्बन्ध में 'उन्होंने आधुनिक कवि संख्या २' के पर्यालोचन में लिखा है—"कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल-प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, घण्टों एकान्त में बैठा मैं प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।.... और यह शायद पर्वत-प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना पर्वत ही की तरह निश्चल रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं भागता हूँ।" पन्त के इन शब्दों के आलोक में उनकी रचनाओं की बहुत-सी गुत्थियाँ

सुलझ जाती हैं और आलोचकों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

पन्त की रचनाओं पर दूसरा प्रभाव उनके अध्ययन एवं अनुशीलन का पड़ा है। इस सम्बन्ध में वह अपनी उसी पुस्तक के पर्यालोचन में कहते हैं—'स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई।' इससे स्पष्ट है कि वह दार्शनिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के वैदान्तिक सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हुए और 'परिवर्तन' की रचना उन्होंने उन्हीं के प्रभावों के अन्तर्गत की। वस्तुतः भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि 'पल्लव' में हमें कवि का मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है। इसके बाद की उनकी रचनाएँ आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा से भरी हुई हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में कलावाद के प्रभाव से जिस सौन्दर्यवाद का चलन योरुप के काव्यक्षेत्र में हुआ उसका भी पन्त पर पूरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर सौन्दर्य-चयन को अपने जीवन की साधना माना है। अन्य बातों में वह अँग्रेजी कवियों—मुख्यतः शैली, वर्ड्‌स वर्थ, कीट्स और टेनीसन से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। इस सम्बन्ध में पन्त का कहना है—"इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौन्दर्य-कल्पना से ही परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का 'स्लोगन' भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ।"

पन्त अपने युग की प्रगति तथा उसकी राजनीतिक परिस्थितियों और आवश्यकता से भी प्रभावित हैं। गांधीवाद और समाजवाद का भी उन पर विशेष प्रभाव है; पर इन दोनों वादों को उन्होंने अक्षरशः नहीं अपनाया है। उन्होंने इन दोनों वादों के सत्य को ग्रहण करके एक वाद के अभाव की दूसरे वाद से पूर्ति की है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में न

तो विशुद्ध गांधीवाद है और न विशुद्ध समाजवाद। इन दोनों का सुन्दर समन्वय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। समय परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील लीला का प्रभाव जब व्यष्टि रूप से हृदय पर पड़ता है तब साहित्य-कला की सृष्टि होती है; और जब समष्टि रूप से समाज पर पड़ता है तब इतिहास की रचना होती है। पंत ने अपने युग के परिवर्तनों के इन दोनों प्रभावों को ग्रहण किया है, इसलिए उनकी काव्य-धारा भी बदली है और मनोधारा भी। युग की सम्पूर्ण प्रगति अभी प्राप्त नहीं, क्योंकि संसार में युग ने अभी अपना प्रथम चरण ही रक्खा है, अतएव वह भी अभी अविकसित है।

पंत का महत्त्व

हिन्दी-साहित्य के उत्थान में पंत का महत्त्व कई दृष्टियों से आँका जा सकता है। भाषा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि खड़ी-बोली को काव्योचित भाषा का स्थान देने का एकच्छत्र श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। व्रजभाषा ने मध्ययुग से द्विवेदी-काल तक जो कल-कोमल प्राञ्जलता, मनोहर चित्र-चारुता प्राप्त की थी, उसे उन्होंने अपने कुल बीस-पचीस वर्षों के काव्य-जीवन में ही खड़ीबोली को अर्पित कर दिया। खड़ीबोली की कविता के लिए यह प्रवाद था कि उसकी खड़खड़ाहट में व्रजभाषा जैसा माधुर्य नहीं आ सकता। पंत ने उसकी खड़खड़ाहट और खुरखुराहट दूर कर उसे इतना सुस्निग्ध एवं कोमल बना दिया है कि सम्प्रति उसके सम्बन्ध में इस प्रवाद का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। द्विवेदी-युग में स्वर्गीय श्रीधर पाठक ने व्रजभाषा के सम्मिश्रण से खड़ीबोली को मधुर बनाने का प्रयत्न किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। गुप्तजी ने खड़ीबोली का निजी साँचा हिन्दी और संस्कृत के साहचर्य से उपस्थित किया, पर उनकी भाषा में माधुर्य का गौण रूप से ही समावेश हो पाया। निराला ने खड़ीबोली को प्राञ्जल उत्कर्ष अवश्य प्रदान किया, पर उनकी भाषा में उनके मानसिक पौरुष को ही स्थान मिला। अतः भाषा को अभी संगीत के कोमल व्यक्तित्व से द्रवित होने की आवश्यकता थी। पंत ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उनकी कविता में भाषा का कोमल संगीत खड़ीबोली के अन्य सभी कवियों

की अपेक्षा अधिक मुखरित हुआ। इस दिशा में उन्हें ब्रजभाषा के कवियों की अपेक्षा अधिक स्वावलम्बी बनना पड़ा। इसलिए भाषा के क्षेत्र में खड़ी-बोली के नीरस कलेवर में रस-सञ्चार का श्रेय केवल उन्हीं को प्राप्त है।

पंत के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी अपनी रचनाओं में भाषा के सौंदर्य और भावों के माधुर्य का ताल और स्वर की भाँति संतुलन बनाये रखते हैं। यह बड़े सधे हुए हाथों का काम है। काव्य-कला की यह साधना अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः इसी साधना में उनकी लोक-प्रियता का रहस्य निहित है। उनकी काव्य-कला की एक और विशेषता है और वह है पुनरुक्ति की—रिपीटी-शन की। इस दिशा में अधिकांश कवियों ने पुराने कवियों की-सी टेक ही अपनायी है। पंत ने अपनी कविताओं में शब्दों की पुनरुक्ति का प्रयोग विशेष कलात्मक ढँग से किया है। उनका रिपीटीशन उस संगीत की भाँति है जो कुछ बजा कर अपनी अन्तिम ताल में प्रथम ताल को छू लेता है। इससे उनकी कविता में मर्मव्यंजकता आ गयी है। शैली की इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत विधान की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं।

भावना के क्षेत्र में कल्पना ही पंत की कविता की विशेषता और उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं का आधार है और उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। यही उनकी कविता की मेरुदण्ड और उनकी काव्य-सृष्टि का माप-दण्ड है। कोरी कल्पना की बाल-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर अत्यन्त तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में उनके कवि का विकास-क्रम देखा जा सकता है। उनकी इस कल्पना-शक्ति को उनकी सौंदर्यानुभूति से पर्याप्त बल मिला है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके उन्हें ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक वर्ग-से खुल जाते हैं। प्रेम के संयोग और वियोग पक्षों को भी समान सौंदर्य से प्रकट करने में उनकी कल्पना कुण्ठित नहीं होती। वह रहस्यमयी सृष्टि का आयोजन भी करती है। वस्तुतः पंत अपनी ऐसी

कल्पना-शक्ति के कारण ही स्वच्छंद होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। आधुनिक हिंदी का कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समानता नहीं कर सकता।

पर हिंदी-जगत् में पंत की प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता केवल इन्हीं विशेषताओं के कारण नहीं है। ऐसी विशेषताएँ तो न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक कवि की रचनाओं में पायी जा सकती हैं। साहित्यकारों के बीच कवि का महत्त्वपूर्ण स्थान बनाता है उसका स्वतंत्र चिन्तन। पंत ने अपने स्वतंत्र चिंतन द्वारा हमें बहुत कुछ दिया है। इस सम्बन्ध में हम उनकी देन की चर्चा अन्यत्र करेंगे, पर यहाँ संक्षेप में हम यह बता देना चाहते हैं कि उन्होंने हिंदी की वर्तमान काव्य-धारा को सर्व प्रथम छायावाद और रहस्यवाद की रूढियों से निकाल कर स्वाभाविक स्वच्छंदता—ट्रू रोमैण्टिसिज्म—की ओर उन्मुख किया है। 'पल्लव' की कतिपय रचनाएँ—उच्छ्वास, आँसू, परिवर्तन और बादल आदि—ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें देखने से पता चलता है कि यदि छायावाद के नाम से एक वाद न चल पड़ा होता तो पंत स्वच्छंदता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते, क्योंकि रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर उनकी प्रतिभा बहुत कम उन्मुख हुई है।

पंत के स्वतंत्र चिंतन की दूसरी विशेषता है उनका मानव-काव्य। हिंदी-जगत् के लिए यह एक बिलकुल नयी चीज है। पंत के मानव-काव्य में उनकी सौन्दर्य-भावना मंगल-भावना के रूप में परिणत हो गयी है और वह अपने इस दृष्टिकोण के कारण बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनकी एक अपनी फिलासफी है जिसे उन्होंने कई वादों के अध्ययन तथा मंथन के पश्चात् ग्रहण किया है। उन्होंने काव्य, सङ्गीत, चित्र और शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करने की चेष्टा की है।

एक दृष्टि से हिंदी साहित्य में पंत का और भी महत्त्व है। उन्होंने हिंदी कविता में मुक्तकों को एक विशेष उत्कर्ष दिया है। मध्य-युग में एक कवित्त अथवा एक सवैया में एक भाव अथवा एक चित्र के रूप में मुक्तकों

की सृष्टि हुई थी। कतिपय वैष्णव कवियों के गीति-काव्य में कहीं-कहीं एक भावना का विविध उत्थान-पतन भी दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग में एक विषय के भाव-प्रवण विस्तार पर ध्यान रक्खा गया। पंत ने भाव-प्रवण विस्तार ही नहीं, चित्र की अनेकता तथा भाव की विविधता को संगीतोपम स्वरूप दिया। उनकी प्रायः प्रत्येक मुक्तक कविता एक खण्ड-काव्य का स्वरूप ग्रहण करती चलती है, जिसकी पंक्तियाँ किसी कथानक पर अवलम्बित न होकर भी भावों का सुदीर्घ उत्थान-पतन तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का विपुल निरीक्षण करती चलती हैं। उनके कई विषय बिलकुल नये हैं। 'छाया' जैसे अमूर्त विषय को अपनी विपुल कल्पनाओं द्वारा साकार कर देना और 'बादल' जैसे चिर परिचित विषय को अभिनव छवि और अभिनव ध्वनि प्रदान कर देना उनकी शक्तिशाली कवि-प्रतिभा का सूचक है। इसमें संदेह नहीं कि अपने इस कार्य-सम्पादन में कहीं-कहीं उन्होंने अन्य कवियों के भावों का पाथेय लिया है; पर जिस प्रकार उन्होंने उन भावों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखा है वह सर्वथा नवीन और हिन्दी को उनकी अपूर्व देन है।

प्रत्येक साहित्यिक की एक अपनी विचारधारा और एक अपनी सूझ होती है जिसके अनुसार वह साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। पंत की भी एक अपनी विचारधारा है, एक अपनी सूझ है।

पन्त की दार्शनिक भाव-भूमि

ईश्वर, जीव, प्रकृति और इस त्रैत के अन्तर्गत आने वाला जीवन, प्रकृति, दुःख-सुख आदि गूढ़तम समस्याओं के प्रति जिस प्रकार अन्य कवियों ने अपनी-अपनी धारणा और विश्वास के अनुकूल विचार प्रकट किये हैं उसी प्रकार पंत ने भी इन समस्याओं पर विचार किया है। यहाँ हम संक्षेप में इन्हीं बातों पर विचार करेंगे—

(१) ईश्वर-सम्बन्धी विचार—पंत पूर्ण आस्तिक हैं। ईश्वर पर उनका पूर्ण विश्वास है। विश्वास को वह जीवन का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं। निर्गुण रूप में वह अपने ईश्वर को 'उल्लास' संज्ञा से विभूषित करते हैं। वह कहते हैं—

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास।

यही 'उल्लास' ईश्वर की अज्ञात शक्ति है जो कभी उन्हें प्रियतम के रूप में विस्मित करती है और कभी जगज्जननी के रूप में उन्हें आनन्द-विभोर। वह मुख्यतः उस अलौकिक छवि के अखिल-व्यास सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं।

(२) जीव और प्रकृति-सम्बन्धी विचार—ईश्वर की महत्ता के साथ-साथ पन्त जीव की महत्ता भी स्वीकार करते हैं। वह उसके गौरव से भी अभिभूत हैं और उसे सत्य मानते हैं। उनके विचार में वह उसी सत्ता का—अज्ञात शक्ति का—प्रकाशमात्र है। इसी प्रकार प्रकृति भी सत्य है, क्योंकि वह भी ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है—

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास ;
शाश्वत लघु लहरों का विलास, हे जग जीवन के कर्णधार !

पन्त उस अलौकिक छवि के अखिल-व्यात सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं यही नारी-रूप प्रकृति के भिन्न रूपों में, हमारी गृह-लक्ष्मियों की भाँति, कहीं माता, कहीं सहचरी और कहीं प्रेयसी है। वह निखिल भुवन मोहिनी एक रूप अनेक होकर चतुर्दिक् प्रकृति में अपनी सुषमा-शोभा का विस्तार करती है।

(३) जीवन और जगत्-सम्बन्धी विचार—पन्त की दृष्टि में यह जगत् उस अलौकिक छवि का प्रतिबिम्ब है, इसलिये यह भी सुन्दर और सत्य है। अपनी इस धारणा के कारण वह विश्व-प्रेमी हैं। उन्हें इस विश्व की प्रत्येक वस्तु से प्रेम है। देखिए—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, पशु, पक्षी, नर, सुर वर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर !

जगत् से प्रेम होने के कारण पन्त को जीवन से भी प्रेम है। उनके विचार से जीवन सत्य और सुन्दर है। देखिए—

जग-जीवन में उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे।

की सृष्टि हुई थी। कतिपय वैष्णव कवियों के गीति-काव्य में कहीं-कहीं एक भावना का विविध उत्थान-पतन भी दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग में एक विषय के भाव-प्रवण विस्तार पर ध्यान रक्खा गया। पंत ने भाव-प्रवण विस्तार ही नहीं, चित्र की अनेकता तथा भाव की विविधता को संगीतोपम स्वरूप दिया। उनकी प्रायः प्रत्येक मुक्तक कविता एक खण्ड-काव्य का स्वरूप ग्रहण करती चलती है, जिसकी पंक्तियाँ किसी कथानक पर अवलम्बित न होकर भी भावों का सुदीर्घ उत्थान-पतन तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का विपुल निरीक्षण करती चलती हैं। उनके कई विषय बिलकुल नये हैं। 'छाया' जैसे अमूर्त विषय को अपनी विपुल कल्पनाओं द्वारा साकार कर देना और 'बादल' जैसे चिर परिचित विषय को अभिनव छवि और अभिनव ध्वनि प्रदान कर देना उनकी शक्तिशाली कवि-प्रतिभा का सूचक है। इसमें संदेह नहीं कि अपने इस कार्य-सम्पादन में कहीं-कहीं उन्होंने अन्य कवियों के भावों का पाथेय लिया है; पर जिस प्रकार उन्होंने उन भावों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखा है वह सर्वथा नवीन और हिन्दी को उनकी अपूर्व देन है।

प्रत्येक साहित्यिक की एक अपनी विचारधारा और एक अपनी सूझ होती है जिसके अनुसार वह साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। पंत की भी एक अपनी विचारधारा है, एक अपनी सूझ है।

पन्त की दार्शनिक भाव-भूमि

ईश्वर, जीव, प्रकृति और इस त्रैत के अन्तर्गत आने वाला जीवन, प्रकृति, दुःख-सुख आदि गूढ़तम समस्याओं के प्रति जिस प्रकार अन्य कवियों ने अपनी-अपनी धारणा और विश्वास के अनुकूल विचार प्रकट किये हैं उसी प्रकार पंत ने भी इन समस्याओं पर विचार किया है। यहाँ हम संक्षेप में इन्हीं बातों पर विचार करेंगे—

(१) ईश्वर-सम्बन्धी विचार—पंत पूर्ण आस्तिक हैं। ईश्वर पर उनका पूर्ण विश्वास है। विश्वास को वह जीवन का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं। निर्गुण रूप में वह अपने ईश्वर को 'उल्लास' संज्ञा से विभूषित करते हैं। वह कहते हैं—

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास।

यही 'उल्लास' ईश्वर की अज्ञात शक्ति है जो कभी उन्हें प्रियतम के रूप में विस्मित करती है और कभी जगज्जननी के रूप में उन्हें आनन्द-विभोर। वह मुख्यतः उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं।

(२) **जीव और प्रकृति-सम्बन्धी विचार**—ईश्वर की महत्ता के साथ-साथ पन्त जीव की महत्ता भी स्वीकार करते हैं। वह उसके गौरव से भी अभिभूत हैं और उसे सत्य मानते हैं। उनके विचार में वह उसी सत्ता का—अज्ञात शक्ति का—प्रकाशमात्र है। इसी प्रकार प्रकृति भी सत्य है, क्योंकि वह भी ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है—

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास;
शाश्वत लघु लहरों का विलास, हे जग जीवन के कर्णधार!

पन्त उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं यही नारी-रूप प्रकृति के भिन्न रूपों में, हमारी गृह-लक्ष्मियों की भाँति, कहीं माता, कहीं सहचरी और कहीं प्रेयसी है। वह निखिल भुवन मोहिनी एक रूप अनेक होकर चतुर्दिक् प्रकृति में अपनी सुषमा-शोभा का विस्तार करती है।

(३) **जीवन और जगत्-सम्बन्धी विचार**—पन्त की दृष्टि में यह जगत् उस अलौकिक छवि का प्रतिबिम्ब है, इसलिये यह भी सुन्दर और सत्य है। अपनी इस धारणा के कारण वह विश्व-प्रेमी हैं। उन्हें इस विश्व की प्रत्येक वस्तु से प्रेम है। देखिए—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, पशु, पक्षी, नर, सुर वर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर!

जगत् से प्रेम होने के कारण पन्त को जीवन से भी प्रेम है। उनके विचार से जीवन सत्य और सुन्दर है। देखिए—

जग-जीवन में उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे।

परन्तु जीवन अपूर्ण है। उसमें कोलाहल है, द्वन्द्व है, संघर्ष है। पन्त की दृष्टि में इसका कारण यह है कि मनुष्य मानव-जीवन का अर्थवाद की दृष्टि से तत्त्वावलोकन करता है। वस्तुतः उनके हृदय में भौतिकवाद के प्रति अधिक आस्था है। इसलिये वह कहते हैं—

आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

पन्त शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करके भी उन्हें सब कुछ नहीं मान लेते, वह आत्मवाद और भौतिकवाद के सुन्दर संयोजन से एक नवीन संस्कृति का उद्भव चाहते हैं जो अपूर्ण मानव-जीवन को वास्तविक मानव-जीवन बनाने में समर्थ हो सके। यह उसी दशा में सम्भव होगा जब मानव जीवन के अन्तर में प्रवेश करेगा। जीवन के अन्तर में प्रवेश करने का अर्थ है जीवन को साररूप में ग्रहण करना, जीवन में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन को जागरित करना। इससे संसार स्वर्ग हो जायगा और मानव देवता।

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर; देवता यही मानव शोभन;
अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति यही जीवन बन्धन।

(४) जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी विचार—जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में पन्त के वही विचार हैं जो प्रायः भारतीय दार्शनिकों के रहे हैं। उनके विचार से जीवन विकास का नाम है और मृत्यु उसके क्रम के ह्रास का। जन्म और मृत्यु इस जगत् के दो द्वार हैं जिनमें से होकर आना-जाना लगा रहता है। जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्व के इन नर रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे तब तक मानव जाति विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएवः हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज, संसार को पत्र-पुष्प देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है, यही सृष्टि का रहस्य है।

(५) जीवन के सुख-दुःख सम्बन्धी विचार—मानव के सुख-दुःख के सम्बन्ध में पन्त कहते हैं—

जग जीवन में है सुख दुख,
सुख दुख में है जग जीवन।

× × ×

सुख दुःख न कोई सका भूल।

पंत जीवन में सुख और दुःख दोनों की सत्ता स्वीकार तो करते हैं, पर चित्रण करते हैं सुख का—जीवन के आह्लाद का। पंत जीवन को हास-हुलासमय देखना चाहते हैं। अपने मधुर-मलय-पुलकित जीवन में वह कभी निदाघ-संतप्त समीर का भी स्पर्श पा लेते हैं और उस समय उनकी पलकों में विश्ववेदना के कुछ तुहिन-बिन्दु भी उमड़ पड़ते हैं; पर जीवन के प्रति उनका जो विश्वास है वह उन्हें वेदना की ओर झुकने का अधिक अवकाश नहीं देता। वह कहते हैं—

हँसमुख से ही जीवन का पर हो सकता अभिवादन,

× × ×

जीवन की लहर लहर से हँस खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में, नित बूड़-बूड़ रे भाविक॥

इसलिए कि—

अस्थिर है जग का सुख-दुख, जीवन ही नित्य चिरंतन।
सुख-दुख से ऊपर, मन का जीवन ही रे आलंबन॥

पंत की दृष्टि में जीवन के क्षणिक सुख-दुख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति जीवन से भिन्न हैं। जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर, लहराता जीवन सागर।

जीवन के इस उन्मुक्त स्वरूप को हृदयंगम कर लेने पर विश्व की जटिलता में भी मनुष्य अपने लिए एक स्थान बना लेता है। 'पन्त जीवन को निस्तरंग रूप में नहीं, अपितु एक तरंगाकुल कलकलनिनादिनी सरिता के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। निस्तरंग सरिता जिस अनन्त सिन्धु में जा मिलेगी, तरंगाकुल सरिता भी उसी में मिलकर पूत होगी। निस्तरंग जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। वह विडम्बना मात्र है। इसलिए उनका

विश्वास है कि यदि अपने हृदय का हास-हुलास, क्रीड़ा-कलरव लेकर यह जीवन उस अनन्त सिन्धु से मिले तो सच्चिदानन्द को अधिक प्रसन्नता होगी।'

(६) मुक्ति-सम्बन्धी विचार—पंत संसार के दारुण दुःख और उच्छ्वास से विरक्त होकर जीवन को संसार से पृथक् करना पसन्द नहीं करते। वह कर्म में विश्वास करते हैं, वैराग्य में उनकी आस्था नहीं है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में ही आस्था है। वह कहते हैं—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरसपन।
है सहज मुक्ति का मधु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बंधन॥

जीवन के नियम देखने में तो सरल हैं, पर वे युगों के गूढ़ आत्म-चिन्तन के पश्चात् सुलभ हुए हैं इसलिए उनका सरलपन चिरगूढ़ है। उन सरल नियमों के बन्धन में यदि हम विश्वास से काम लें तो लोक-जीवन सुखी हो सकता है। जीवन के नियमों को तोड़ कर उन्मुक्त हो जाना सहज है, पर जीवन के बन्धनों में ही मुक्ति को आबद्ध पाना एक आत्म-साधना है। बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सगुण द्वारा निर्गुण की अनुभूति अथवा शरीर द्वारा आत्मा की प्राप्ति। इसलिए वह कहते हैं—

तेरी मधुर शक्ति ही बन्धन,
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन।
निज अरूप में भर स्वरूप मन।

(७) सामाजिक आदर्श—पंत आस्तिक और आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका आत्म-साधना में विश्वास है। वह मुक्ति नहीं चाहते। वैराग्य में भी उनकी आस्था नहीं है। उन्हें अपने जीवन से, अपने संसार से, प्रेम है। वह चाहते हैं मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाना, ऐसा मानव बनाना जिसके मस्तिष्क और हृदय में सामंजस्य हो, जिसके हृदय में संकीर्णता न हो, जो सारी मानव-जाति को, विश्व के प्रत्येक मानव को, अपना समझे। यही उनका सामाजिक आदर्श है, यही उनका उच्चादर्श है।

अपने इस आदर्श को वह रूढ़ियों के बंधन में नहीं, अपितु व्यक्तियों के स्वतंत्र विकास में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। वह चाहते हैं मानव-जीवन में स्वार्थ का त्याग और आत्मोत्सर्ग का महत्त्व स्थापित करना। मानव-जगत् में अब राष्ट्रीयता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता भी आ गयी है। केवल राजनीति की सिद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता ही नहीं, वरन् आंतरिक ऐक्य के लिए विश्व-मानवता भी आ रही है। इसके फलस्वरूप जिस मानव, जिस समाज, जिस विश्व के उदय की उदयाचल पर अरुणिमा प्रकट होने को है, उसी का स्वप्न हम नवयुग के पलकों में देख रहे हैं। वह स्वप्न एक देश का नहीं, अपितु सम्पूर्ण देशों की सुसंस्कृत आत्माओं में अपना छायाचित्र उतार रहा है। हमारे साहित्य में पंत भी ऐसे ही स्वप्नदर्शी हैं—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर, मेरे विचार जग के विचार,
मेरे मानव का स्वर्गलोक, उतरेगा भू पर नई धार।

इस प्रकार विचार करने पर हम देखते हैं कि पंत की विचारधारा में एक विकास-सूत्र है जिससे उनके दर्शन का यथार्थ परिचय मिल जाता है। उनके विचार सभी समस्याओं पर अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट हैं। वह अपने दर्शन में समन्वयवादी अधिक हैं। भूतवाद और अध्यात्मवाद, मनुष्यत्व और देवत्व, पदार्थ और चेतना, समाजवाद और गांधीवाद तथा व्यष्टि और समष्टि के अन्दर समन्वय में ही उनके दर्शन का, उनकी चिन्तन-शैली का, विकास हुआ है। युगवाणी में उनके कथनानुसार पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं—

[१] भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

[२] समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

[३] पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ियों की तीव्र भर्त्सना जो आज मानव के विकास में बाधक हो रही हैं।

[४] मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि-शास्त्रीय मनोदर्शन का युग की

विचार-धारा पर प्रभाव, जैन-समाज का पुनः संगठन एवं दलित लोकसमुदाय का जीर्णोद्धार।

[५] बहिर्जगत् के साथ अन्तःजीवन के संगठन की आवश्यकता, राग-भावना का विकास तथा नारी-जागरण।

पन्त ने अपने दर्शन में विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न में हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायँ। देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहें और मानव-दुर्बलताओं के भीतर से ही अपना निर्माण एवं विकास करें। पन्त की यह विचारधारा वर्तमान समय के अनुकूल ही है। आज संसार में जो विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं वह गत सामाजिक संघर्षों की प्रतिक्रियाएँ हैं। वर्तमान राजनैतिक आंदोलन इन्हें दबाने में लगे हुए हैं। इनमें से एक सूक्ष्म तत्त्व है मनुष्य का रागतत्व जो पिछले युगों के संस्कारों और युगों से सीमित है। इस रागतत्व को अपने विकास के लिये अधिक उन्नत धरातल चाहिये। इस वृत्ति के विकास से ही मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँचेगा।

पन्त की दार्शनिक भाव-भूमि से यह स्पष्ट है कि वह नवीनतम हिन्दी-साहित्य के एक जागरूक कवि और कलाकार हैं। उन्होंने हिन्दी-संसार को अपनी जो रचनाएँ भेंट की हैं उनमें भाषा की नवीनता है, भावों का माधुर्य है और विचारों की गम्भीरता है; पर अपनी अब तक की रचनाओं में वह सर्वत्र एक से नहीं हैं। समय के अनुसार उनमें परिवर्तन हुआ है। इससे हमारा तात्पर्य केवल यह है कि आरम्भ में उन्होंने जिस माध्यम से हिंदी काव्य में प्रवेश किया वह उनकी अब तक की रचनाओं में विभिन्न रूप धारण करता रहा है। माध्यम की विविधता ही उनके कवित्व का प्राण है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि 'पल्लव' और 'गुंजन' के पन्त 'ज्योत्स्ना' के पंत नहीं हैं और 'ज्योत्स्ना' के पंत 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' के पंत नहीं हैं; पर माध्यम की इस विभिन्नता के

पन्त की काव्य-साधना

कारण पन्त के कवि के विकास में कहीं भी बाधा नहीं पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि बाह्य दृष्टि से देखने पर कवि के तीन रूप दिखाई देते हैं, पर रचनाओं की आत्मा में प्रवेश करने पर उनका एक ही रूप उन तीनों रूपों में व्याप्त दिखाई पड़ता है। उनके कवित्व की प्रगति-रेखा टेढ़ी-मेढ़ी अवश्य है, पर उनकी विचारधारा का विकास सीधा और स्पष्ट है। उनके विकास के तीन सोपान इस प्रकार हैं—

(१) पन्त अपने काव्य-जीवन के आरम्भ में सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं। 'वीणा' उनकी प्रथम कृति है। इसमें उन्होंने प्रकृति के सुन्दर रूपों की आह्लादमयी अनुभूतियों का बड़ी ही ललित भाषा में चित्रण किया है। इसके बाद 'ग्रन्थि' उनकी दूसरी रचना है। इसमें एक छोटे-से प्रेम-प्रसंग का आधार लेकर उनके कवि-हृदय ने प्रेम की अनुभूति में प्रवेश, फिर चिर विषाद के गर्त में पतन दिखाया है। 'पल्लव' उनकी तीसरी कृति है। यह उनकी प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसमें प्रतिभा के उत्साह का तथा प्राचीन काव्य-रचनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें प्रस्फुटित यौवन का अन्तर्बाह्य दृष्टिपात तथा भाव-भाषा का दृगोपम दीर्घ प्रसार है। इस प्रकार अपनी तीनों कृतियों में पन्त मुख्यतः सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं।

(२) 'पल्लव' के पश्चात् पन्त के विकास का द्वितीय सोपान आरम्भ होता है। इस सोपान का आरम्भ अचानक नहीं होता। उनकी प्रथम तीन कृतियों में इसके बीज वर्तमान रहते हैं जो अंकुरित और विकसित होते हुए 'गुञ्जन' तक आते हैं। 'गुञ्जन' में उनकी सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति की प्रौढ़ता मिलती है। इसमें वह लोक-जीवन के अन्तस्तल में भी अवगाहन करते हैं। इसमें संग्रहीत उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता उनकी प्रौढ़ चिंतनशीलता का प्रतिनिधित्व करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भावुक न रह कर चिन्तक हो गये हैं। उनकी प्रथम तीन कृतियों में प्राकृतिक सुषमा की मनोज्ञ झाँकी है पर इस कृति में उनकी अन्तर्दर्शन की जिज्ञासा है। यह अन्तर्जिज्ञासा उनके कवि-हृदय में लीला-मय जीवन के प्रति बुद्धि की विरक्ति नहीं, अपितु एक विश्वासपूर्ण

अनुरक्ति उत्पन्न करती है।

(३) 'गुञ्जन' के बाद पन्त की रचनाएँ हैं—युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या। इन रचनाओं द्वारा वह अपने विकास के तृतीय सोपान पर आते हैं। यहाँ आकर वह जीवन के कवि हो गये हैं। यहाँ हम उन्हें केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभ वाले सौन्दर्य से बढ़कर जीवन-सौन्दर्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं। उनके बाह्य जगत में सौन्दर्य, स्नेह और उल्लास का अभाव दिखाई देता है। इससे वह जीवन की सुन्दरता की भावना मन में करके उसे जगत् में फैलाना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि 'पल्लव' की सौन्दर्य-भावना 'गुञ्जन' में चिन्तन-शक्ति का पाथेय पाकर प्रौढ़ होती है और युगान्त में वह व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हो जाती है। 'पल्लव' और 'गुञ्जन' में वह लोक-जीवन के शीत और ताप से अपने हृदय को बचाते-से रहे हैं, पर 'युगान्त' में उन्होंने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है।

पन्त के इस विकास-क्रम से उनकी रचनाओं का वर्गीकरण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। हम उनकी रचनाओं को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

(१) सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त प्रकृति-सुषमा के सुकुमार कवि हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति के मनोरम रूप का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कारण, वह प्रकृति की गोद में पले हैं। प्रकृति के सुन्दर व्यापारों के प्रति उनकी अत्यधिक आस्था है, इसलिये प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण उनकी रचनाओं में बहुत कम है। उनकी सौन्दर्यानुभूति की कविताओं में मन्द-मन्द संगीत है, सघन झंकार नहीं। कहीं-कहीं नव विहंग की भाँति भावों के उच्चाकाश तक उड़ने का सफल प्रयत्न भी है। भावी प्रतिभा की अन्तर्हित स्फूर्ति ने इस प्रयत्न में उन्हें सहायता प्रदान की है। उनकी ऐसी रचनाएँ उनकी किशोरावस्था की रचनाएँ हैं। 'प्रथम रश्मि का आना तूने रंगिणि! कैसे पहचाना' में उनके किशोर वय का उन्मन संगीत है। 'निर्झर' में वह कहते हैं—

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास
उपलों पर बहुरंगा लास
फैलाती हो फेनिल हास
फूलों से कूलों पर चल।

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वयं प्रकृति ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से उनके गीतों में सहज-सौन्दर्य का प्रसार किया है।

(२) प्रेमानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त की प्रेमानुभूति का आभास 'ग्रन्थि' से मिलता है। इस छोटे-से प्रेम-काव्य में एक तरुण हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है। इसके साथ ही इसमें ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव वय का विद्रोह भी है। कला की दृष्टि से यह दुखान्त वर्णनात्मक शैली की अत्यन्त सुन्दर अलंकृत रचना है। अलंकारों और उक्तियों ने उनके नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखाई है। वस्तुतः यह रचना एक युवक कवि का उन्मुक्त गान है जिसकी व्यंजना सच्ची अनुभूति और उर्वर कल्पना के सुन्दर सम्मिश्रण से हुई है। एक निराश प्रेमी की विवशता इन पंक्तियों में देखिए—

शैवालिनि! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को।
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर।
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी, बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।

विश्व में ऐसी ही वियोग-जन्य अनुभूति कविता को जन्म देती है। 'आँसू' में पन्त कहते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।

वेदना की अनुभूतियों के चित्रण में पन्त को बहुत अच्छी सफलता मिली है। उनकी प्रेम की अनुभूति सच्ची है। इसलिये उनकी रचनाओं में प्रेमविप्लुता तथा सत्यता है, प्रेमवृत्ति की परिधि के अन्तर्गत आने वाली जितनी सुकुमार भावनाओं की व्यंजना उन्होंने की, उतनी आधुनिक कवियों की रचनाओं में कम मिलती है।

(३) रहस्यानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त की रहस्यानुभूति स्वाभाविक है, उसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। उनकी जैसी रहस्य-भावना है, वैसी इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देखकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करते हुए उन्होंने इसे केवल अवृत जिज्ञासा के रूप में ही प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि उन्होंने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी प्रिय और प्रेमिक का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री भेद रखा है, 'प्रसाद जी' के समान दोनों को पुल्लिंग रखकर फारसी या सूफ़ी परम्परा का अनुसरण नहीं किया है।

पन्त अलौकिक छवि के अखिल व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं। वह नारी-रूप प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में कहीं माता है, कहीं सहचरी है, कहीं प्रेयसी। वह निखिल भुवनमोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक् प्रकृति में अपनी शोभा-सुषमा का प्रसार करती है। 'पल्लव' के 'मौन निमंत्रण' में उन्होंने अपने आपको प्रेमिका के रूप में, 'गुंजन' में प्रेमी के रूप में और 'वीणा' में बालिका के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रहस्यवाद की रूढ़ियों का अनुसरण नहीं किया है।

स्वाभाविक भोलापन है। उनकी जिज्ञासा एक बालिका की जिज्ञासा है और उनकी भक्ति एक बालिका की भक्ति है—

न अपना ही न जगत का भान, न परिचित है निज नयन, न काम
दीखता है जग कैसा तात! नाम, गुण, रूप समान

× × ×

उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही माँ!
वह अपनी वयवाली में, सजा हृदय की थाली में,

× × ×

अब न अगोचर रहो सुजान
निशानाथ के प्रियवर सहचर! अन्धकार, स्वप्नों के यान
किसके पद की छाया हो तुम, किसका करते हो अभिमान?

इन पंक्तियों से पंत की रहस्य-भावना की सरलता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। छायावाद के क्षेत्र में वह एक ऐसे कवि हैं जिनका प्रकृति के साथ सीधा सम्बन्ध है। वस्तुतः प्रकृति के अत्यन्त रमणीय दृश्यों के बीच ही उनके कवि-हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है और उनकी सुषमा की उमंग भरी भावना के भीतर ही वह विहार करता रहा है। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं गई है। प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक पहुँचने की उसने चेष्टा की है। वह प्रकृति-परक रहस्यवादी कवि हैं। उनकी रहस्य-भावना धर्ममूलक नहीं, कलामूलक है। कलामूलक होने के कारण ही उनके रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-शैली परिवर्तित हो गई है।

(४) जीवन-दर्शन सम्बन्धी रचनाएँ—पंत अपनी रचनाओं में रहस्यवादी की अपेक्षा जीवन के कवि अधिक हैं। वह प्रकृति-सौन्दर्य से जीवन-सौन्दर्य की ओर मुड़े हैं। 'पल्लव' तक वह प्रकृति के केवल सुन्दर, मधुर पक्ष में अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन थे, कर्म-मार्ग उन्हें कठोर ही कठोर दिखायी देता था—

मेरा मधुकर का-सा जीवन; कठिन कर्म है, कोमल है मन।

पर जब उनके व्यक्तिगत जीवन की किसी विषम परिस्थिति के कारण कर्म-मार्ग से उनका साक्षात्कार हुआ, तब जहाँ उनके जीवन में मोड़ आया,

वहाँ उनकी कविता भी जगत् और जीवन के पूर्ण स्वरूप की ओर अग्रसर हुई। जीवन के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करने पर उनकी कल्पना को कोमल-कठोर, मधुर-कटु, करुण-भयङ्कर कई प्रकार की भूमियों पर बहुत दूर तक सम्बद्ध धारा के रूप में चलना पड़ा है। इस दिशा में उनकी मानसिक स्थिति की दो धाराएँ दीख पड़ती हैं। पहले वह लगातार सुख का दुःख में, उत्थान का पतन में, उल्लास का विषाद में, परिवर्तन सामने लाकर क्षोभ से भर जाते हैं—

अहे निष्ठुर परिवर्तन!

× × ×

मृदुल होठों का हिम-जल-हास, उड़ा जाता निःश्वास समीर
सरल भौंहों का शरदाकाश, घेर लेते घन घिर गम्भीर।

× × ×

दैव! जीवन भर का विश्लेष, मृत्यु ही है निःशेष!!

पर इस प्रकार का क्षोभ उनके हृदय में स्थायी नहीं रह पाता। वह अपनी इस मानसिक स्थिति से शीघ्र ही ऊब जाते हैं और परिवर्तन के दूसरे पक्ष पर आते हैं। उनकी प्रथम मानसिक स्थिति उन्हें निराशावाद की ओर ले जा रही थी, पर अपनी इस दूसरी मानसिक स्थिति में वह आशावाद की ओर आये हैं। यह उनकी अन्तश्चेतना का, उनकी अन्तर्दृष्टि का, परिणाम है। इस मानसिक स्थिति पर पहुँचकर उनके दृष्टिकोण की दो धाराएँ हो गई हैं—एक सापेक्षिक दृष्टिकोण, दूसरा निरपेक्ष दृष्टिकोण। सापेक्षिक दृष्टिकोण से वह कहते हैं—

आज का दुख, कल का आह्लाद
और कल का सुख आज विषाद

× × ×

स्वीय कर्मों के अनुसार, एक गुण फलता विविध प्रकार।
कहीं राखी बनता सुकुमार, कहीं बेड़ी का भार॥
बिना दुःख के सब सुख निःसार, बिना आँसू के जीवन भार।

× × ×

सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जगत् के द्वन्द्वात्मक विधान को समझकर जहाँ वह अपने मन को शान्त करते हैं, वहाँ निरपेक्ष दृष्टि से वह यह भी कहते हैं—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर, लहराता जीवन सागर।
अस्थिर है जग का सुख-दुख, जीवन ही नित्य चिरंतन।
सुख-दुख के ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन।

पन्त का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को सन्तुलन देता है। वह सुख-दुःख तथा आत्मा और भूत को निमित्त मात्र मानते हैं; इसीलिये उनके प्रति अनावश्यक लोभ न रख कर उनका समुचित संकलन कर लेते हैं। उभयं द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के परे एक परम सत्य को पा लेने के लिये वह अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ द्रष्टा हैं। उनकी दृष्टि में जीवन का वर्तमान संघर्ष शाश्वत नहीं है। उसका कभी-न-कभी अन्त होगा—

होंगे संघर्ष परास्त।
धर्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सब की क्षीण पुकार।

इसलिये वह कहते हैं—

जीवन की लहर-लहर से हंस-खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़-बूड़ रे भाविक।

(५) सामाजिक आदर्श सम्बन्धी रचनाएँ—हम अभी देख चुके हैं कि पन्त का आत्म-साधना में अटल विश्वास है। इसलिये मानव-जीवन और उसके उच्चादर्शों से उन्हें प्रेम है। आज के संघर्षमय तथा कोलाहलपूर्ण जीवन में मानव-समाज को जिस आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की आवश्यकता है उसकी ओर उनकी रचनाओं में पर्याप्त संकेत है। वह कहते हैं—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।

× × ×

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर, देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति यही जीवन बन्धन,
मृण्मय प्रदीप में दीपित हम शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल, ज्योतित जिससे जग का आँगन।

वस्तुतः इस आत्मबोध के द्वारा ही हम अपने-अपने अस्तित्व की विराट् सार्थकता समझ कर परस्पर स्नेही, सहृदय एवं सहचर बन सकते हैं, और तभी विश्व में समान भाव की उपलब्धि हो सकती है। यही सृष्टि पन्त की नवीन सृष्टि है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर,

अपने इस स्वप्न को सत्य करने के लिये वह ईश्वर से प्रार्थी हैं। वह कहते हैं—

जग-जीवन में जो चिर महान, सौन्दर्यपूर्ण और सत्यप्राण।
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ ! जिसमें मानव-हित हो समान !!

× × ×

कंकाल-जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली

इतना ही नहीं, जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है, वह नवजीवन-सौन्दर्य लेकर आने वाले युग के उपयुक्त नहीं है, उसे भी वह बड़ी निर्ममता से हटाना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त, ध्वस्त, हे शुष्क, शीर्ण !
हिम ताप-पीत लघु वात भीत, तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !

इस प्रकार पन्त की वाणी में लोक-मंगल की आशा और आकांक्षा के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भरा हुआ है। गत युग के अवशेषों को समूल नष्ट करने के लिये मानव को उत्तेजित करते हुए वह कहते हैं—

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ाकर !
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर !

सामाजिक जीवन में क्रान्ति के लिये पंत की यह हुँकार यह सिद्ध करती है कि वह क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युगवाणी दे रहे हैं। क्रान्ति द्वारा वह पुरातन का, उस पुरातन का जिसमें पाखण्ड है, अत्याचार है, अनीति है, द्वेष और मनोमालिन्य है, विनाश चाहते हैं और उसके स्थान पर नवयुग का सृजन करना चाहते हैं। उनके नवयुग में—

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कार्य-निरत हों भेद मूल,
बन्धुत्व भाव ही विश्व-मूल

पंत की हाल की रचनाएँ इसी आदर्श को लेकर चली हैं।

(६) ग्राम्य जीवन सम्बन्धी रचनाएँ—पंत की ग्राम्य-जीवन सम्बन्धी रचनाएँ 'ग्राम्या' में संग्रहीत हैं। इसमें उन्होंने ग्राम के समस्त रूपों को, वहाँ के नर-नारियों को, नित्य-प्रति के जीवन को, उसकी संस्कृति को व्यष्टि रूप में नहीं, समष्टि रूप में देखा है। कुछ चित्र व्यक्तियों के भी अंकित किये गये हैं। ग्राम्य युवती, ग्राम-नारी, कठपुतले, गाँव के लड़के, वह बुड्ढा, ग्राम-बधू, वे आँखें, मजदूरनी आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। कुछ कविताएँ सामान्य जीवन से भी सम्बन्ध रखती हैं। इनमें धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच, कहारों का रुद्र-नृत्य आदि भी सम्मिलित हैं। ग्रामीण दृश्य सम्बन्धी भी कुछ कविताएँ हैं। इन समस्त कविताओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि पंत की निरीक्षण-शक्ति बड़ी तीव्र है और ग्रामीण जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक सहानुभूति है। बौद्धिक सहानुभूति का यह अर्थ है कि कवि उसमें भावमग्न नहीं होता। वस्तुतः पंत का ग्राम्य जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है और न उसके प्रति उनके हृदय में विशेष अनुराग है। इसलिये उनकी कविता में ग्राम्य जीवन विषयक त्रुटियों की कमी नहीं है। अनेक चित्रों में अतिरंजना और एकांगिता आ गई है।

(७) गीति-काव्य—पंत का गीति-काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। उन्होंने कई ऐसे गीत हिन्दी साहित्य को दिये हैं जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से

बेजोड़ हैं। 'मौन निमंत्रण' उनका एक अमर गीत है। उसका एक-एक पद भाव में पूर्ण है। उसकी हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। कल्पना की उत्कृष्टता और अज्ञात की अनुभूति ने कवि को प्रकाश में, सघन मेघों में, वसुधा के यौवन में, उद्वेलित सिन्धु में, विश्व के अनन्त सौन्दर्य में, और तुमुल तम में भी न जाने कौन रह-रहकर प्रकाश के सन्देश से मौन निमंत्रण दे रहा है। भावना के साथ भाषा भी बड़ी व्यंजक है। 'छाया' भी उनका एक प्रसिद्ध गीत है, संक्षिप्त होने के कारण उसका सौन्दर्य बिखर-सा गया है। 'गुञ्जन' में उनके छोटे-छोटे गीत अवश्य हैं, पर उनमें जीवन की दार्शनिक अभिव्यंजना अधिक हुई है, इसलिये वे कुछ शुष्क और नीरस हो गये हैं। 'लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल, लोगी मोल' उनका एक अच्छा गीत है। इसी प्रकार 'सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि! मुझे भी अपने भोले गान' भाव और भाषा की दृष्टि से एक सफल गीत है। वस्तुतः पंत के काव्य में गीतों की प्रचुरता नहीं है। पर उनके जो गीत हैं, वे अत्यन्त सुन्दर और सरल हैं। भाषा की मृदुलता उनमें अपार है। कहीं-कहीं अलंकृत भाषा और कल्पना के आधिक्य से उनके गीत नीरस भी हो गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत आधुनिक युग के एक सफल कवि हैं। उनका जीवन है, जीवन में काव्य है और काव्य में प्रकृति है। वह हिन्दी के स्वच्छन्दतावाद के प्रथम सच्चे कवि हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति का सौन्दर्य, जीवन का सौन्दर्य, जगत् का सौन्दर्य, भावों का सौन्दर्य, भाषा का सौन्दर्य—हर तरह का सौन्दर्य अपनी चरम सीमा पर अंकित हुआ है। वह हिन्दी के उच्चकोटि के कलाकार और बेजोड़ कवि हैं।

पन्त की रस-योजना

पंत की रस-योजना परिपूर्ण और प्रौढ़ है। उनकी रचनाओं में प्रायः कई रसों का सुन्दर और प्रशंसनीय परिपाक हुआ है। शृङ्गार रस के परिपाक में तो वह अप्रतिम हैं। उन्होंने रस के दोनों पक्षों का—संयोग और वियोग का—सुन्दर चित्रण किया है। शृङ्गार का स्थायी भाव रति है। रति का सफल चित्रण पंत की कविता की एक विशेषता है।

'ग्रन्थि' पंत की विप्रलंभ शृङ्गार-प्रधान कविता है। इस कविता में युवक-हृदय की भावना पूर्ण रूप से व्यञ्जित हुई है। इसलिए कवि को रति के संयोग और वियोग के चित्राङ्कन में बड़ी सफलता मिली है। उनके संयोग और वियोग दोनों के चित्र अधिक संयत हैं। प्रथम मिलन का चित्र इन पंक्तियों में देखिये—

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो।
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से।

वियोग-जन्य विषाद का चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का,
ग्रन्थि-बन्धन हो गया, वह नवकुसुम,
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानव का विभूषण हो गया।

इस प्रकार 'ग्रन्थि' में दर्शन, सौन्दर्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु, वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुन्दर उद्गार हैं। उसमें आरम्भ में पूर्वराग का भी अच्छा विकास है जो संयोग की सीमा तक पहुँच गया है।

रस-योजना की दृष्टि से 'परिवर्तन' में करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शान्त आदि रसों का सम्यक् परिपाक मिलता है। उनकी रचनाओं में हास्य रस का स्फुरण कम है। वास्तव में करुण और शृङ्गार ही उनके मुख्य रस हैं और यह इसलिए कि उनका भाव-जगत् सीमित है। आज का कवि रस-सृष्टि की बारीकियों को ध्यान में रखकर कवि नहीं है, वह अपने अन्तस के भावों के भार से दबकर लेखनी उठाता है। ऐसी दशा में उसकी लेखनी स्वयं रस टपकाती चलती है। करुण और शृङ्गार के क्षेत्र में पंत की लेखनी रस की अविरल धारा प्रवाहित करती है।

पंत ने अपनी कविता-कामिनी की शृङ्गार-साधना में बड़ा कौशल

दिखाया है, पर इस साधना में रीतिकालीन कवियों की भाँति वह अस्वाभाविक नहीं हुए हैं। उनकी अलंकार-योजना सर्वत्र स्वाभाविक है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग बड़े कौशल से किया है। उनके शब्दालंकार भाषा की वसन-सज्जा के उपकरण होने के कारण भाषा के अंग बन गये हैं। संयत अनुप्रास की छटा उनकी चित्रमय भाषा में सर्वत्र मिलती है। इसके अतिरिक्त श्लेष, पुनरुक्ति तथा यमक का भी चमत्कार स्थान-स्थान पर मिलता है। यमक का प्रयोग इन पंक्तियों में देखिए—

पंत की अलंकार-योजना

तरणि के ही संग तरल तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

पत अनुप्रास के धनी हैं। वास्तव में कविता-कामिनी की शृंगार-साधना में अनुराग का वही स्थान है जो रमणी की वसन-भूषा में नूपुरों का। पंत के अनुप्रास कविता-कामिनी के शृंगार में नूपुरों का ही काम करते हैं। अनुप्रास की छटा इन पंक्तियों में देखिए—

वन-वन उपवन,
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन, नव वन के अलियों का गुञ्जन!

शब्दालंकार की भाँति पंत की अर्थालंकार-योजना भी अत्यन्त प्रौढ़ है। उस पर पश्चिमी पालिश अवश्य अधिक है, पर भारतीय अलंकार-शास्त्र से भी वह अनुप्राणित है। उसमें सादृश्य-मूलक अलङ्कारों को अधिक स्थान मिला है। उपमा और रूपक पंत की कविता में मणियों की भाँति चमकते हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। उनमें परम्परा की गन्ध नाम-मात्र के लिये भी नहीं पाई जाती। उपमाओं के समान ही उनके उपमान भी रंगीन होते हैं। वह अपने अलङ्कार-विधान में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं। उन्होंने सांगोपांग रूपक, उल्लेख, स्मरण, सन्देह, समासोक्ति, अन्योक्ति, सहोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का विधान अपनी रुचि-वैचित्र्य के अनुकूल ही किया है। सन्देह उनका प्रिय अलङ्कार है। इसका एक उदाहरण लीजिये—

निद्रा से उस अलसित वन में वह क्या भावों की छाया;
दृग-पलकों में विचर रही, या वन्य देवियों की माया?

इन भारतीय प्राच्य अलङ्कारों के अतिरिक्त पंत ने अँगरेजी अलङ्कार शास्त्र से भी कुछ अलङ्कार लेकर अपनी कविता-कामिनी का शृङ्गार किया है। ऐसे अलङ्कार हैं विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण। इनमें पहला भाषा की लक्षणा शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्त्तिमत्ता का परिणाम है। पन्त का एक पद है 'मूक व्यथा का मुखर भुलाव'। इसमें विशेषण-विपर्यय अलङ्कार है। यहाँ 'व्यथा' का प्रयोग व्यथित व्यक्ति के लिए हुआ है। अतः व्यथा मूक नहीं, अपितु व्यथित व्यक्ति ही मूक है। प्रेम का मानवीयकरण इन पंक्तियों में देखिए—

पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।

सारांश यह है कि पन्त की अलङ्कार-योजना बड़ी सफल है। अलङ्कारों के प्रयोग से उनकी भाषा में सौंदर्य-वृद्धि भी हुई है और दुरूहता-वृद्धि भी। कुछ कविताएँ भूषण-भार से दबकर गतिहीन भी हो गयी हैं।

पन्त की छन्द योजना

पन्त की छन्द-योजना अत्यन्त विशद है। अपनी छन्द-योजना के प्रति उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। कविता तथा छन्द के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए वह कहते हैं—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृद्‌कम्पनः; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।' उनके इन छन्द-सम्बन्धी विचारों के आलोक में जब हम उनकी छन्द-योजना पर विचार करते हैं तब हमें उनके प्रत्येक छन्द में राग और संगीत की एक अविरल धारा का आभास मिलता है। उनके छंदों में हमें कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ पृथक् अथवा असम्बद्ध नहीं मिलतीं और यदि कहीं हैं तो लय द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती है।

पन्त ने मात्रिक छन्दों में ही अपने समस्त काव्य-ग्रंथों की रचना की

है। उनका विचार है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों द्वारा ही हो सकती है। इसलिए उन्हें हिंदी छंदों में पीयूषवर्षण, रूप-माला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि छंद अधिक प्रिय हैं। इन छंदों में उन्होंने अपनी रुचि तथा संगीत की रक्षा के विचार से परिवर्तन भी किया है। उनके छन्दों में एकस्वरता नहीं है। छंदों की एकस्वरता नष्ट करने तथा भावाभिव्यक्ति के सहज प्रवाह का निर्वाह करने के लिए उन्होंने उनके चरणों को घटा-बढ़ाकर न्यूनाधिक परिवर्तन भी किया है। उन्होंने मुक्त छंद भी लिखे हैं। उनकी छंद-योजना पर अँगरेजी छंदों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

पंत के छंद भावों की गति के अनुसार चलते हैं। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उनके भाव स्वयं अपने अनुकूल छंद में परिणत हो जाते हैं। इससे उनके छंदों में स्वाभाविकता बनी रहती है। 'गुञ्जन' में उन्होंने अपनी छन्द-योजना में अधिक संयम से काम लिया है। उसमें अनुक्रम का अधिक ध्यान रखा गया है। सारांश यह है कि पंत की छन्द-योजना उनकी कल्पना, भावना तथा विचारों के उत्थान-पतन के अनुरूप संकुचित और प्रसारित होती रहती है।

पन्त की भाषा और शैली

पंत खड़ीबोली के कवि हैं, पर उन्होंने अपनी कविता में जिस खड़ी-बोली को स्थान दिया है वह उनकी अपनी खड़ीबोली है। वह अपनी खड़ीबोली के स्वयं निर्माता हैं। संगीत-प्रिय होने के कारण उन्होंने गुप्तजी तथा प्रसादजी से प्राप्त होनेवाली भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन किया है। भाषा के सम्बन्ध में वह कहते हैं—'भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृद्तन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में यह अभिव्यक्ति पाता है।' अपने इस दृष्टिकोण के कारण उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को अधिक-से-अधिक लय, ताल और संगीत के निकट लाने की चेष्टा की है। अपनी इस चेष्टा में वह सफल भी हुए हैं। उनकी भाषा कोमल है और उनके मधुर भावों को वहन करने में पूर्ण रूप से समर्थ

हुई है। वह भाषा की कला के अच्छे जानकार हैं और उसे अपने भावानुकूल बनाने में पटु हैं। उन्होंने उस पर अपना इतना अधिकार जमा लिया है कि वह उनके पीछे-पीछे चलती है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल अवश्य है, पर उन्होंने उसकी कोमलता और मधुरता का ध्यान बराबर रखा है।

पंत की भाषा चित्र-भाषा है। उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर होते हैं। उनकी भाषा में उनके शब्द कभी तो सेना के सिपाहियों की भाँति पगध्वनि करते हुए सुनायी पड़ते हैं और कभी बच्चों की भाँति अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते पाये जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि शब्द-चयन पर उनका विशेषाधिकार है। उनकी रचना का प्रत्येक शब्द उनकी साधना का, उनके चिन्तन का, परिणाम है। संस्कृत की व्यंजनापूर्ण तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य होते हुए भी उन्होंने अपनी रचना के लिये व्रजभाषा, फारसी, उर्दू तथा अँग्रेजी के शब्दकोषों से भी सहायता ली है और उन्हें अपने काव्योचित साँचे में ढालकर कोमल, चित्रमय और कर्णसुखद बनाया है। संस्कृत के अक्षय भण्डार से उन्होंने रंगीन शब्दों का ही चयन किया है। व्रजभाषा के अजान, दई, दीठ, काजर, कारे; फारसी के नादान, चीज तथा अँगरेजी के रूम इत्यादि शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर उन्होंने अपनी सरसता और भाषा-कला-विद्वत्ता का एक साथ परिचय दिया है। उन्होंने नये शब्द भी गढ़े हैं। स्वप्निल, प्रिय, सिंगार, अनिर्वच आदि उनके गढ़े हुए शब्द हैं। वह सा, सी, रे आदि का प्रयोग भी अत्यधिक करते देखे जाते हैं। संगीत का निर्वाह करने के लिये ही कदाचित् उन्होंने इनका स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है।

पंत की भाषा में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'मनोज' शब्द लीजिये। यह शब्द रूढ़ है कामदेव के अर्थ में, पर पंत ने व्युत्पत्ति-अर्थ में इसका प्रयोग करके बापू के लिये सार्थक कर दिया है। 'अछूत' भी एक ऐसा ही शब्द है। प्रचलित शब्द के अनुसार नये शब्द बनाने की कला में भी वह पारंगत हैं। उनके लिये एक-एक शब्द

अपना एक-एक मूर्त रूप रखता है, इसलिये हम उनकी कविताओं में एक ही पर्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन आदि शब्दों की उपयुक्तता, भावों के लिये उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्ययता उनके भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं एक ही शब्द से उनकी कविता प्राणान्वित हो उठती है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त समासिक पदावली एक वाक्य में ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

पन्त की भाषा में व्याकरण की कठोरता भी कोमल की गयी है। व्याकरणों के नियमों का कहीं-कहीं उल्लङ्घन करके उन्होंने अपनी भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। अपने इस प्रयास में उन्होंने कई शब्द पुल्लिग से स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग से पुल्लिग में प्रयोग किये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के सन्धि-नियमों में भी उन्होंने परिवर्तन किया है। 'मरुताकाश' उनका एक ऐसा ही शब्द है। ऐसा उन्होंने केवल शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित करने के विचार से ही किया है। मुहावरे तथा कहावतों के प्रयोग का उनकी भाषा में अभाव है और जहाँ है भी वहाँ उनके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया है।

पन्त की पद-योजना अँगरेजी, बंगला तथा संस्कृत के कवियों की पद-योजना से प्रभावित है। संस्कृत की समस्त पदावली का प्रयोग उन्होंने उच्छ्वसित कल्पना और भावों की अभिव्यक्ति के लिये किया है, पर जहाँ भावना की स्वतन्त्र गति है वहाँ शब्द असमस्त हैं। अँगरेजी की लाक्षणिक पद-योजना की छाया तो कहीं भी मिल सकती है। पन्त की भाषा में सांकेतिकता भी है। उन्होंने बाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर अपनी प्रतिभा के सहज-संयोग से हिन्दी की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता को अत्यन्त समृद्ध और विकसित कर दिया है। सारांश यह कि उन्हें अपनी भाषा को काव्योचित बनाने से पहले हृदय के ताप में गला कर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल और सुन्दर बनाना पड़ा है। उनको सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में जीवन आ गया है। इससे उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो

गयी है। वस्तुतः उनकी भाषा में हिन्दी की समस्त शक्तियों का विकास हुआ है। वह भाषा के पण्डित और उसके प्रथम सूत्रधार हैं।

यहाँ तक हमने पंत के काव्य के भाव एवं कला-पक्ष पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। अब हम पंत और उनके सामयिक कवि प्रसाद की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे और यह देखेंगे कि दोनों में कहाँ तक साम्य और कहाँ तक अन्तर है। हम यह तो जानते ही हैं कि दोनों द्विवेदी युग के तृतीय उत्थान के जागरूक कलाकार हैं। दोनों खड़ीबोली हिन्दी के पोषक और संस्कृत-गर्भित भाषा के पक्षपाती हैं। दोनों को काव्य की प्रेरणा प्रकृति से मिली है और दोनों का उसके सौन्दर्य के प्रति अटल अनुराग है। इसलिये दोनों शृंगारी, रहस्यवादी, छायावादी और दार्शनिक कवि हैं। दोनों आस्तिक हैं। दोनों को मानव-जीवन और उसके उच्चादर्शों से प्रेम है। दोनों आशावादी हैं और विश्व-बन्धुत्व में विश्वास करते हैं। आधुनिक युग की सामाजिक एवं राजनैतिक चेतनाओं से दोनों भलीभाँति परिचित हैं और उनसे प्रभावित भी हैं। दोनों में समन्वय की भावना भी पायी जाती है। दोनों साहित्य-कला के अच्छे पारखी और अध्ययनशील हैं। वंग-साहित्य और संस्कृत-साहित्य से दोनों को प्रेम है। दोनों सहृदय और भावुक हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी दोनों की अन्तश्चेतना में, दोनों की अभिव्यक्ति में, दोनों की शैली में, महान् अन्तर है। इस अन्तर के दो ही मुख्य कारण हैं—एक तो जीवन-परिस्थितियों की प्रतिकूलता और दूसरे अध्ययन की विविधता। पन्त के जीवन में पलायन-प्रवृत्ति है। वह जीवन के संघर्षों से बचते रहे हैं। प्रकृति-सुन्दरी की सुषमाभरी गोद से नीचे उतरकर उन्होंने जीवन की कठोर भूमि पर पैर रखने का साहस नहीं किया है; इसलिये मानव-हृदय का वह अन्तर्द्वन्द्व उनकी रचनाओं में नहीं है जो प्रसाद की रचनाओं में पाया जाता है। प्रसाद का जीवन संघर्षमय है। उनकी कविता जीवन के संघर्ष में पनपी और पुष्पित हुई है। पन्त की कविता जीवन-प्रहर्ष में ग्राह्य हुई है। प्रसाद की रचनाओं में पाने-खोने का हर्ष-विषाद है, सांसारिक आवेग-

पन्त और प्रसाद

प्रवेश है, इसलिए वह लौकिक जीवन के लिए विदग्धकर हो सके हैं। पन्त की रचनाएँ जीवन के उल्लास को लेकर ही चली हैं। वह इतने सुकुमार रहे हैं कि वह सुख-सुषमा को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण कर सके हैं। इसलिए वह उसका अतिक्रम कर उसकी चरम सीमा पर भी चले गये हैं। जितना ही वह आगे गये हैं उतना ही पीछे लौट भी पड़े हैं। जिस वास्तविकता से विरक्त होकर वह कभी कल्पनाशील हुए थे, लौटकर उसी वास्तविकता की कल्पनाहीन कुरूपता पर असन्तोषी भी हो गये हैं। प्रसाद आरम्भ से ही मानव-जीवन के विकास की ओर अग्रसर हैं।

अध्ययनशीलता की दृष्टि से प्रसाद का अध्ययन पन्त के अध्ययन की अपेक्षा अधिक गम्भीर और विस्तृत है। भारतीय साहित्य का जैसा गम्भीर अध्ययन प्रसाद ने किया है वैसा किसी आधुनिक कवि का नहीं दीख पड़ता। एक प्रकार से उनकी समस्त रचनाएँ भारतीय साहित्य से प्रभावित हैं। उनकी प्रतिभा पन्त की प्रतिभा की अपेक्षा अधिक बहुमुखी है। 'कामायनी' उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। इसके अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में हमें उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। पन्त की प्रतिभा सीमित है। वह कविता के सीमित क्षेत्र में ही विकसित हुई है। रहस्य-भावना की दृष्टि से पन्त की रहस्य-भावना स्वाभाविक है। प्रसाद अपनी रहस्य-भावना में साम्प्रदायिक हैं। पन्त की अपेक्षा उनमें दार्शनिकता भी अधिक है। प्रसाद भारतीय दर्शन के पण्डित हैं। उन्होंने पुराण और वेदों का गम्भीर अध्ययन किया है और उनसे अपनी रचनाओं के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र की है। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के आधार पर नवीन संस्कृति का प्रासाद निर्माण किया है। वह अपनी रचनाओं में प्राचीन वैभव का ही संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। पन्त की रचनाओं में इस प्रकार का प्रयास नहीं है। प्रसाद अपनी रचनाओं में प्राचीन और नवीन दोनों हैं, पन्त केवल नवीन हैं। वह भावों के कवि हैं। प्रसाद ने तीनों कालों का अपनी रचनाओं में समन्वय किया है। वह पौराणिक संस्कृति के वैतालिक हैं, पन्त समाजवादी जगत् के।

शैली की दृष्टि से प्रसाद प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं, पन्त मुक्तक। प्रसाद

की भाषा में ओज और पौरुष है, पन्त की भाषा में सहज कोमलता और माधुर्य। पन्त की भाषा प्रसाद की भाषा की अपेक्षा अधिक अलंकृत और संगीतमय है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की त्रिवेणी से पन्त की भाषा अत्यन्त पूत हो गयी है। पन्त प्रसाद की अपेक्षा अधिक कल्पक हैं; इतने कल्पक हैं कि कहीं-कहीं उनकी कल्पना उन्हें अपने साथ बहा भी ले गयी है। कल्पना द्वारा भावों का मूर्त्त चित्र अंकित करने में वह प्रसाद की अपेक्षा अधिक सफल हैं। वह भाव और भाषा दोनों के कवि हैं। पन्त अपने मुक्तकों में सफल कवि हैं और प्रसाद अपनी इतिवृत्तात्मक रचनाओं में। पन्त के काव्य में कला का सौन्दर्य है, प्रसाद के काव्य में कला का ओज और पौरुष। पन्त प्रकृति के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आये हैं, इसलिये उन्हें प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का बहुत ही सुन्दर ज्ञान है। प्रसाद जीवन के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आये हैं, इसलिए जीवन के अन्तर्द्वन्द्व का उन्होंने अत्यन्त सफल चित्रण किया है। पन्त और प्रसाद के दृष्टिकोणों में हमें जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण वस्तुतः उनके माध्यम की विभिन्नता है। माध्यम की विभिन्नता के कारण ही एक युग के दोनों कलाकार दो रूपों में हमारे सामने आये हैं। पन्त देश-काल के बन्धनों से परे हो गये हैं और प्रसाद देश-काल की चेतनाओं तथा अन्तश्चेतनाओं को समेट कर आगे बढ़े हैं। संक्षेप में दोनों कवियों की रचनाओं में यही महान् अन्तर है।

हिन्दी साहित्य में पन्त का स्थान

अब तक हमने पन्त की काव्य-साधना पर कई दृष्टियों से विचार किया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह हिन्दी की नई धारा के जागरूक कवि और कलाकार हैं। यों तो वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं पर यथार्थ रूप से हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश सन् १९१७–१८ से होता है। उस समय की उनकी रचनाएँ 'वीणा' में संग्रहीत हैं। इन कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ से ही इनका झुकाव हिन्दी की काव्य-परम्परा के विपरीत एक नवीन दिशा की ओर था। प्रकृति सुन्दरी की गोद में जन्म लेने तथा

अपने विद्यार्थी-जीवन में शैली, कीट्स, वर्डसवर्थ आदि कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उन्हें अपनी नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अँग्रेजी तथा बंगला-साहित्य से बहुत कुछ लेकर उसे अपने काव्य का पाथेय बनाया। अपनी उर्वर कल्पना के साहचर्य एवं सहयोग से अँग्रेजी-शैली के अनुकरण पर अमूर्त्त भावनाओं का मानवीकरण किया और नवीन उपमाओं की योजना से अपनी कविता को अलंकृत किया। अपने भावों के अनुरूप ही उन्होंने अपनी भाषा का भी संस्कार किया। इसलिये अँग्रेजी-साहित्य जानने वाले नवयुवकों में उनकी रचनाएँ लोकप्रिय होने लगीं और आज हम उन्हें हिन्दी की एक नवीन धारा का नेतृत्व करते हुए पाते हैं।

पन्त प्रकृति और जीवन की कोमलतम विविध भावनाओं के कवि हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति और पुरुष ने स्पष्ट होकर लास्य किया है। शब्दों के साथ-साथ उनके भाव लहराते चलते हैं। उनकी प्रत्येक कविता-पंक्ति पाठक को तन्मयता के रस से लहराती चलती है। वह जो कुछ कहते हैं, उसमें स्वाभाविकता होती है और उनके शब्द-चित्र भाव-चित्रों का निर्माण करते चलते हैं। बादल, बिजली, तारे, चन्द्रमा, प्रातः, संध्या, नदी, झरना, भूधर, पुष्प आदि के मनोरम एवं गम्भीरतम चित्रण के साथ जीवन के विभिन्न अंगों के विशद वर्णन और रूप-निर्माण में वह अप्रतिम हैं। उनका कवि प्रधान रूप से कलाकार है। उनके काव्य में कला, विचार तथा भावों का समन्वय इतनी सुन्दरता से होता है कि एक को दूसरे से पृथक् करना असम्भव हो जाता है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की प्राणवाहिनी त्रिवेणी उनकी रचनाओं में बिम्बित-प्रतिबिम्बित होती हुई चलती है। भावों का मूर्त्त चित्र उतारने में हिन्दी का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। शब्दों का राग, चित्रमय थिरकन और चुस्ती तो कदाचित् इनकी अपनी एक विशेषता है। उन्होंने हिन्दी को नई भाषा, नई शैली, नई योजना, नई अर्थाभिव्यक्ति और काव्य को नया प्राण दिया है। परन्तु कोमलता के अतिरिक्त पौरुष का उनमें

अभाव है। उनमें पुरुष निर्बल है। जीवन और प्रकृति के इस पहलू के वह कवि नहीं हैं। यह उनका स्वभाव है जो उन्हें इन गुणों की ओर आकर्षित नहीं करता। वह अखिल जग-जीवन के हास-विलास के कवि हैं।

पंत मननशील कवि हैं। जीवन के प्रत्येक रूप को, प्रकृति की प्रत्येक छवि को, उन्होंने आत्मविभोर एवं तन्मय होकर देखा है। इसलिए जिस दिशा में जिधर उनकी लेखनी चली है, उधर ही वह अपने में पूर्ण हो उठी है। उनकी रचनाओं में जीवन की उत्तम अनुभूति पद-पद पर लक्षित होती है। जगत् के भावात्मक और बौद्धिक चित्रों में वह सर्वप्रथम मानवतावादी कवि हैं। इस प्रकार उनके काव्य-जगत् में दो धाराओं का प्रवेश हो गया है—एक में उनके कवि-हृदय का स्पन्दन है, दूसरी में विश्व-जीवन की धड़कन। सन् १९१८ से १९३२ तक की उनकी रचनाएँ पहली धारा के अन्तर्गत आती हैं और इसके बाद की रचनाएँ दूसरी धारा में। हाल की कविताओं में विश्व-जीवन ने उनके कवि-हृदय पर प्रधानता प्राप्त कर ली है। उनमें शब्द कवि के हैं, विचार-तत्त्व चिन्तक के। जीवन के प्रारम्भिक चरणों में मानव-हृदय स्वभावतः सौंदर्य और प्रेम की कल्पना-प्रधान अभिव्यक्ति के लिए ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत ही रहती है। इसके बाद ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है त्यों-त्यों वह आत्मरूप के चिन्तन में निमग्न होने लगता है। पंत के विकास का भी यही स्वाभाविक क्रम रहा है। विश्व-सौंदर्य ने उन्हें पहले भावुक बना दिया था, पर अब विश्व-जीवन ने उन्हें जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है।

पंत मुख्यतः दृश्य जगत् के कवि हैं। पहले वह प्राकृतिक सौंदर्य के कवि थे और अब वह जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। इसलिए अदृश्य अध्यात्म के प्रति उनमें विशेष उत्कण्ठा नहीं है। यही कारण है कि उनकी रहस्य-भावना स्वाभाविक एवं सरल है। उनमें कबीर अथवा जायसी की-सी साम्प्रदायिकता नहीं है। आस्तिकवादी होने के कारण वह उस विराट् सत्ता के प्रति आश्चर्य प्रकट करके ही रह जाते हैं। इससे आगे वह नहीं बढ़ते। वह वस्तुतः मानव-जीवन के ही कवि हैं वह जीवन को सुख-दुःख

के बन्धनों से मुक्त करके सार रूप में अपनाने के पक्षपाती हैं। वैराग्य में उनका विश्वास नहीं है। वह कर्म में विश्वास करते हैं। इस ज्ञान-विज्ञान के युग में वह मानव की आर्थिक और बौद्धिक अभिवृद्धि ही नहीं चाहते, वह चाहते हैं मानव का विकास। उनका विश्वास है कि सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपयोग कर सकती है और पशु से देवता बन सकती है।

भाषा की दृष्टि से पंत ने अपने समय की खड़ीबोली को संस्कृत की शब्द-शक्ति देकर दृढ़ किया है और हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोगों का आविष्कार करके भाषा में एक नयी जान डालदी है। उन्होने खड़ीबोली को भावाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। इससे उनकी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय मिलता है। अलंकार की दृष्टि से उनकी रचना में उपमा और रूपक का अच्छा समावेश हुआ है। उनकी उपमाएँ सर्वथा नवीन और सब प्रकृति से ली हुई हैं। शृंगार और करुण रसों के वह स्रष्टा हैं। इन रसों के विकास में उनकी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। वह वियोग-वर्णन में कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते हैं, पर संयोग-वर्णन में वह प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। उनका संयोग पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक संयत, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। उनकी ऐसी रचनाओं में काव्य-मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत् तक पहुँच गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत हिन्दी के एक उच्चकोटि के कवि हैं। उनकी काव्य-साधना बराबर विकासमूलक रही है। वह अपने बाह्य और अन्तर दोनों के निर्माण में सदैव सचेष्ट रहे हैं। वह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मर्मज्ञ हैं। दर्शन तथा अन्य ललित कलाओं में उनकी अच्छी गति है। कवि-मर्यादा और कलात्मक संयम इन दोनों का अपूर्व समन्वय उनकी रचनाओं में हुआ है। आज वह गांधीवाद और समाजवाद का सुन्दर समन्वय अपनी रचनाओं में कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी निरन्तर प्रगतिशील प्रतिभा अभी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकी है। उनके व्यक्तित्व का पहला अंग जितना बलवान है, दूसरा उतना ही दुर्बल।

अतएव प्राप्ति उनसे अभी दूर ही है। इसलिये हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान भी अनिश्चित-सा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद, निराला और महादेवी के पश्चात् हिन्दी की नवीन धारा के अन्य कवियों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है।



८

महादेवी वर्मा

जन्म

सं० १९६४

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ वि० में फरुखाबाद में हुआ था। उनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी० भागलपुर के एक कॉलिज में हैडमास्टर थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी भी हिन्दी की विदुषी और भक्त महिला थीं। कभी-कभी वह कविता भी किया करती थीं। महादेवी के नाना भी ब्रजभाषा के कवि थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनका जन्म एक विद्वान् और भक्त-परिवार में हुआ था। उनके एक भाई श्री जगमोहन वर्मा एम० ए०, एल-एल० बी० तथा दूसरे श्री मनमोहन वर्मा एम० ए० हैं। उनके एक बहिन भी हैं। वह भी शिक्षित और विदुषी हैं।

जीवन-परिचय

महादेवी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्होंने छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर चित्रण और संगीत की शिक्षा भी उन्हें दी

गयी। तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य उन्होंने अपनी माता से ही पढ़ा। वह बचपन से ही साहित्य-प्रिय और भावुक थीं। सं० १६७३ में उनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वसुर लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। अब तक उनकी शिक्षा पिता और माता के आग्रह के कारण ही हुई थी, इस लिये श्वसुर के देहान्त के पश्चात् वह पुनः शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुईं। सं० १६७७ में उन्होंने प्रयाग से प्रथम श्रेणी से मिडिल की परीक्षा पास की। युक्त प्रान्त के विद्यार्थियों में भी उनका स्थान सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १६८१ में उन्होंने एंट्रेंस की परीक्षा भी प्रथम-श्रेणी में पास की और पुनः संयुक्त-प्रान्त में उन्हें सर्व-प्रथम स्थान मिला। इस बार भी उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १६८३ में उन्होंने इंटरमीडिएट और सं० १६८५ में बी० ए० की परीक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कॉलिज से पास की। अन्त में उन्होंने संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा पास की। इस प्रकार उनका विद्यार्थी-जीवन आदि से अन्त तक बहुत सफल रहा। बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलिये उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययन की छाप उन पर अब तक बनी हुई है।

विद्यार्थी-जीवन की भाँति महादेवी की साहित्य-साधना भी अत्यन्त सफल रही। बाल्यकाल से ही कविता करने की ओर उनका आकर्षण रहा है। बड़ी होने पर वह अपनी माता के पदों में अपनी ओर से कुछ कड़ियाँ जोड़ दिया करती थीं। स्वतंत्र रूप से भी वह तुकबंदियाँ करती थीं, पर उन्हें पढ़कर वह प्रायः फेंक दिया करती थीं। वह अपनी तुकबंदियाँ किसी को दिखाना पसन्द नहीं करती थीं। कविता लिखकर उसे नष्ट कर देने में ही उन्हें सन्तोष मिलता था। पर ज्यों-ज्यों उनकी शिक्षा उन्नत होती गयी, त्यों-त्यों उनकी कविता में भी प्रौढ़ता आती गयी। यह देखकर उन्होंने अपनी रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होने के लिये भेजीं। हिन्दी-संसार में उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। इससे महादेवी को अधिक प्रोत्साहन मिला और वह काव्य-साधना की ओर

अग्रसर हो गयीं। आज वह हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री समझी जाती हैं।

महादेवी का अब तक का जीवन शिक्षा-विभाग में ही व्यतीत हुआ है। एम० ए० पास करने के पश्चात् वह प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुईं और अब भी वह उसी पद की शोभा बढ़ा रही हैं। उनके सतत् उद्योग से उक्त विद्यापीठ ने उत्तरोत्तर उन्नत की है। वह 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी हैं। इधर कुछ दिन हुए उन्होंने 'साहित्य-संसद' नाम की एक संस्था स्थापित की है। इस संस्था द्वारा वह हिन्दी-लेखकों की सहायता करना चाहती हैं। 'नीरजा' पर उन्हें ५००) का सेक्सरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। ५००) का सेक्सरिया पुरस्कार उन्होंने महिला-विद्यापीठ को दान कर दिया, इससे उनकी उदारता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी की रचनाएँ—महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बड़ा सम्मान है। वह बराबर लिखती रहती हैं। वह चित्रकार भी हैं। संगीत से भी उन्हें प्रेम है। इस प्रकार नारी-हृदय की समस्त विशेषताओं से वह विभूषित हैं। विद्यार्थी-जीवन से ही उनके रचना-काल का आरम्भ होता है। तब से अब तक उन्होंने हिन्दी को बहुत कुछ दिया है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. गद्य और २. पद्य। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का वर्तमान हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। यामा में नीहार, रश्मि और नीरजा की कविताओं का संग्रह है।

(२) निबन्ध—अतीत के चलचित्र, शृङ्खला की कड़ियाँ।

(३) आलोचना— हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य।

महादेवी का व्यक्तित्व हिन्दी के कवियों तथा कवयित्रियों के बीच अपनी विशेषताओं के कारण किसी से मेल नहीं खाता। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण किया है।

दुबली-पतली होने पर भी उनमें स्फूर्ति है। उनके जीवन में

कृत्रिमता नहीं है। शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा वह मानसिक सौन्दर्य को बहुत अच्छा समझती हैं। उनके जीवन में सादगी है, पर विचारों में उच्चता है। उनका भोजन सादा और रहन-सहन साधारण है। अपने शरीर का शृङ्गार वह सादे वस्त्रों से ही करती हैं। उनके वस्त्रों से, उनकी रहन-सहन से, उनकी सुरुचि का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी का व्यक्तित्व

दुर्बल शरीर में सबल-प्राण महादेवी को ही मिला है। उनकी आत्मा उनके शरीर से अधिक बली है। प्रायः रुग्ण रहने पर भी वह अपनी आत्मा में किसी प्रकार की दुर्बलता को स्थान नहीं देतीं। इसीलिये वह मानव-जीवन की विविध कठिनाइयों को झेलने में समर्थ हुई हैं। उनके जीवन में वेदना भी है, पुलक भी है; हास्य भी है, रुदन भी है। इन दोनों के समन्वय में ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उनकी नारी-सुलभ कोमल भावनाओं में चंचलता नहीं, सौम्यता और गम्भीरता है। वह बहुत कम बोलती हैं, उतना ही बोलती हैं जितने से उनका काम चल जाता है। पर जब बोलने लग जाती हैं तब जी खोलकर बातें करती हैं। उस समय उनकी आत्मीयता दर्शनीय होती है। उनमें अभिमान नहीं है—न अपने पद का, न अपने कवित्व का। अपने दैनिक व्यवहारों में भी वह सम और सरल हैं। उनका मस्तिष्क ज्ञानी का-सा है, पर उनका हृदय बालकों का-सा अबोध है। उनके कमरों में बच्चों के दर्जनों खिलौने आसानी से देखे जा सकते हैं।

महादेवी स्पष्ट वक्ता हैं। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसे थोड़े में वह कह देती हैं। उनकी स्पष्टवादिता के लिये कोई उन्हें क्या कहेगा—इसकी वह चिन्ता नहीं करतीं। पर अपनी बातों से वह किसी का हृदय दुखाना पसन्द नहीं करतीं। उनके हृदय में सहृदयता, सहानुभूति और करुणा का स्रोत बराबर बहता रहता है। वह अपने घर से बाहर बहुत कम निकलती हैं। नाम कमाने की अथवा जनता में लोकप्रिय बनने की लालसा उनमें नहीं है। इस-लिये सम्मेलन आदि में भी वह कम सम्मिलित होती हैं। अपने काम से ही वह बाहर आती हैं।

महादेवी अध्ययनशील कवयित्री हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। भारतीय दर्शन के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग है। इस अनुराग ने उनके व्यक्तित्व को विशेषता दी है। उनमें जितनी सौम्यता, जितनी दार्शनिकता, जितनी चिन्तन-शीलता है वह है केवल इसी अनुराग के कारण। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय महिला हैं। चित्रकला से उन्हें विशेष प्रेम है, प्रेम ही नहीं वह स्वयं भी चित्रकार हैं। वस्तुतः वह चित्रों के बीच में ही रहती हैं। संगीत-कला से भी वह भलीभाँति परिचित हैं।

महादेवी का जीवन साधना का जीवन है। उन्होंने अपने आत्मिक आदर्शों के अनुकूल ही अपना जीवन बना लिया है। सामाजिक रूप से अध्यापन का अनवरत परिश्रम तथा आत्मिक रूप से साधना का पथ अनुसरण करना ही उनके जीवन का ध्येय है। उनकी एक अपनी विचार-धारा है जो उनके जीवन पर भी शासन करती है और उनके काव्य पर भी। इसलिये वह अपने जीवन में, अपने साहित्य में, पर्वत की भाँति अचल हैं। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शान्त हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा उनके चिन्तन का परिणाम है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ सोचती ही रहती हैं। इसीलिये वह गम्भीर हैं। उनके चिन्तन की स्पष्ट छाप उनके काव्य पर देखी जा सकती है। हिन्दी के कवियों में उनका व्यक्तित्व अपना एक पृथक् महत्त्व रखता है।

महादेवी हिन्दी की अत्यन्त लोकप्रिय कवयित्री हैं। उनकी वेदना-प्रसूत रचनाएँ हिन्दी के अमर गान हैं। इन अमर गानों की रचना की ओर वह आरम्भ में किस प्रकार आकर्षित हुईं, इस सम्बन्ध में 'आधुनिक कवि भाग १' की भूमिका में वह कहती हैं—"परन्तु एक ओर साधनापूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर,

महादेवी पर प्रभाव

साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, आस्तिकता एक सक्रिय, पर किसी वर्ग या साम्प्रदाय में न बँधने वाली, चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रज-भाषा के ही समर्थक निकले, अतः उल्टी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्यापूर्ति में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ीबोली की कविता से मेरा परिचय पत्रकारों द्वारा हुआ तब उसमें—बोलने की भाषा में-ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही नहीं मानते थे, अतः छिपा-छिपाकर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरम्भ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण करली।"

इस उद्धरण से महादेवी की काव्य-साधना के सम्बन्ध में कतिपय प्रभावों का ज्ञान हो जाता है। पर एक बात का पता नहीं चलता। महादेवी मुख्यतः वेदना की गायिका हैं, अतः यह प्रश्न हो सकता है कि उनके काव्य में वेदना की अभिव्यक्ति क्यों और कैसे आयी? इस प्रश्न के लिये हमें उनके जीवन के दो स्थलों को टटोलना पड़ेगा। इन दो स्थलों में से एक का सम्बन्ध उनके दाम्पत्य जीवन से है और दूसरे का उनके अध्ययन और समय की प्रगति से।

महादेवी के दाम्पत्य जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में अधिकारपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, पर उनकी कविताओं की प्रतिध्वनि इस बात की ओर अवश्य संकेत करती है कि उन्हें सांसारिक कटु अनुभव हुए हैं, तभी तो एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'समता के धरातल पर सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाये तो मेरे पास मित्र का अभाव है।' वस्तुतः उनके एक इसी वाक्य में उनके हृदय की समस्त वेदना छिपी हुई है। वेदना के प्रति उनके स्नेह को इसी अभाव ने विकसित और प्रसारित किया है। उनकी यही लौकिक वेदना

उनकी रचनाओं में अलौकिक वेदना बन गयी है। इस वेदना को विकास की प्रेरणा मिली है उनके अध्ययन, उनके चिन्तन तथा उनके व्यक्तिगत एवं साहित्यिक वातावरण से। विस्मय की भावना तो उनमें बचपन से ही बद्धमूल थी। अपनी माँ से, अपने वातावरण से, और स्वयं अपने से कौतूहलपूर्ण प्रश्न करती हुई वह रहस्यमयी बनी हैं। साथ ही उन्होंने मीरा की करुण रचनाओं, भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों, स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के वेदान्तिक व्याख्यानों, वैदिक तथा आर्य-समाजी सिद्धान्तों और भारतीय दर्शनों के अध्ययन से बहुत कुछ लेकर अपनी रहस्यमयी साधना का पाथेय बनाया है। दुःख से उन्हें स्वभावतः मोह है। वही उनके रहस्यमय जीवन का शृङ्गार है।

महादेवी की रचनाओं पर भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति का प्रभाव नहीं है। अपने जीवन की तरुणाई में वह इस ओर किंचित् आकृष्ट हुई भी थीं, पर अब तो वह उसकी ओर से उदासीन ही हैं। इस सम्बन्ध में वह लिखती हैं—"पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिये बाहर आई, तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृङ्गारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारतमाता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की, वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिये लिखी गयी थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया।"

सारांश यह कि महादेवी वेदना और केवल वेदना की कवयित्री हैं। इस क्षेत्र से उन्हें इतना मोह है, इतना लगाव है, कि वह किसी अन्य प्रभाव को स्वीकार ही नहीं कर सकतीं।

महादेवी की रचनाओं का आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में वही महत्त्व है जो मीरा की रचनाओं का वैष्णव-साहित्य में है। इसीलिये आज के आलोचक महादेवी को आधुनिक युग की 'मीरा' कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों की प्रेम-भावना में अन्तर है, पर एक बात

में दोनों समान हैं। मीरा में अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के लिए जितनी व्याकुलता, जितनी छटपटाहट, जितनी वेदना है उतनी ही व्याकुलता, उतनी ही छटपटाहट, उतनी ही वेदना महादेवी में अपने निराकार प्रियतम के प्रति है। मीरा सोलह आने प्रेममार्गी हैं; महादेवी सोलह आने प्रेमाश्रित ज्ञानमार्गी। उपासना के क्षेत्र में प्रेम और ज्ञान के सामञ्जस्य से महादेवी की रहस्य-भावना हिन्दी साहित्य की अमर निधि बन गयी है। कबीर, जायसी, निराला, प्रसाद और पंत कोई भी इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता। कबीर ने अपने परमात्मा को कभी माँ के रूप में, कभी पिता के रूप में और अधिकांश पति के रूप में देखा है; जायसी, प्रसाद और पंत भी इसी प्रकार बदले हैं; पर महादेवी की भावना निर्दिष्ट है। उन्होंने सर्वत्र ब्रह्म को प्रियतम के रूप में देखा है। इसलिए महादेवी की रहस्य-भावना ही हिन्दी में शुद्ध रहस्य-भावना हो सकती है।

महादेवी का महत्त्व

महादेवी की दूसरी महत्ता है वेदना का चित्रण। जायसी और मीरा आदि ने भी वेदना का चित्रण किया है, पर भौतिक आधार पर वेदना का चित्रण करने के कारण उनमें वेदना का गौरव नहीं है। जायसी और मीरा ने हमें वेदना की कोई फिलासफी नहीं दी है। महादेवी में वेदना की एक फिलासफी है जो अपने में पूर्ण है। महादेवी की वेदना अलौकिक वेदना है। इस वेदना से उनका आत्मिक विकास हुआ है। यह उनके प्रियतम की दी हुई वेदना है। इसलिए उसके प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग है और वह उनके जीवन का एक अंग बन गई है। इस वेदना के अंकन में महादेवी अप्रतिम हैं।

महादेवी के महत्त्व का कारण उनका गीति-काव्य भी है। सूर और मीरा को छोड़कर आधुनिक खड़ीबोली में उनके गीत ही वस्तुतः विशुद्ध गीत हैं। उनके गीतों में भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी बहती हुई दिखाई देती है। प्रसाद, पन्त, निराला आदि ने भी गीत लिखे हैं, पर उनके कुछ ही गीत कला की दृष्टि से विशुद्ध गीत समझे जाते हैं। महादेवी के गीतों में गीति-कला का अच्छा विकास हुआ है। भावों की दृष्टि से

महादेवी के गीतों में जो तरलता है उसने हिन्दी में उर्दू-भावुकता की लोकप्रियता घटाती है। उनके गीतो में उनकी आत्मा छिपी हुई मिलती है। सम्प्रति इस क्षेत्र में भी वह अनन्य हैं।

भाषा की दृष्टि से भी महादेवी का हिन्दी-साहित्य में महत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि पंत ने खड़ीबोली को भावो के खराद पर चढ़ाकर इतना सुन्दर और मधुर बना दिया है कि उसमें ब्रजभाषा के सभी गुण आ गये हैं, पर उसमें जान डालना, उसमें वेदना का स्वर फूंकना, उसमें संगीत के स्वर और ताल का सन्तुलन करना, महादेवी का ही काम है। महादेवी की भाषा स्वयं बोलती है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी उसमें सादगी का सौंदर्य है। आज वह अपनी ऐसी भाषा से हिन्दी के दो क्षेत्रों में नेतृत्व कर रही हैं—एक रहस्य भावना क्षेत्र में और दूसरे भाषा के क्षेत्र में। इन दोनों क्षेत्रों पर उनका पूरा अधिकार है।

महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि

अब हमें महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि पर विचार करना है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी विचार-धारा पर कई दर्शनों का प्रभाव है, पर मुख्यतः वह अद्वैतवादी ही हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में अद्वैतवाद को ही विशेष रूप से अपनाया है। अतः हम यहाँ उनके अद्वैतवाद सम्बन्धी विचारों की छान-बीन करेंगे। अद्वैतवाद के अनुसार यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। आत्मा और प्रकृति उसी का प्रकाश है। अज्ञान के कारण हम तीनों में भेद समझते हैं, वस्तुतः तीनों एक ही हैं, तीनों ब्रह्ममय हैं। वैदान्तिक प्रक्रिया को समझाने के लिये अद्वैतवादी ब्रह्म के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—१. निर्गुण निराकार, २. सगुण निराकार और ३. सगुण साकार। निर्गुण निराकार शुद्ध चेतन है, निर्विकार है, एकदम निष्क्रिय है। सगुण निराकार का दूसरा नाम ईश्वर है। यही ईश्वर सृष्टि-कर्त्ता है। सगुण साकार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अवतार आते हैं। ये भेद केवल समझाने के लिये हैं, वास्तविक नहीं, मिथ्या हैं। ज्ञानी परम सत्य को समझाने के लिये पहले अज्ञान की, मिथ्या की, चर्चा करते हैं। वह पहले सृष्टि का वर्णन करते हैं,

इसके पश्चात् सगुण साकार की उपाधियों को दूर करते हुए सगुण निराकार की माया को भ्रममात्र सिद्ध करते हैं। इस प्रकार उन्हें ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। रहस्यवादी भी इसी पद्धति का सहारा लेता है। वह पहले मायापति ब्रह्म—सगुण निराकार का वर्णन करता है। इससे उसकी भावना को भूमि मिल जाती है। महादेवी ने इसी सगुण निराकार ब्रह्म को पति रूप में स्वीकार किया है। यह ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता है। अद्वैतवादियों की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जगत् मिथ्या है। ब्रह्म से भिन्न उसकी सत्ता नहीं है। सब ब्रह्ममय है। विभिन्न वस्तुओं में जो भेद हमें दिखाई देता है, वह बाह्य और नाम-रूप का है। इसे हटाकर यदि देखा जाय तो भेद-बुद्धि दूर हो जाय। इससे यह स्पष्ट है कि अद्वैतवादी निमित्तकारण और उपादानकारण में, ब्रह्म और इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में, कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्तर से जाला निकाल कर फिर उसे अपने अन्तर में लीन कर लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस विश्व की रचना करता है और अन्ततः उसे अपने में लीन कर लेता है। महादेवी इसी विचार को लेकर कहती हैं—

स्वर्णलता-सी वह सुकुमार, हुई उसमें इच्छा साकार,
उगले जिसने तिनरंगे तार, बुन लिया अपना ही संसार।

इस प्रकार महादेवी यह मानती हैं कि ब्रह्म निर्विकार होते हुए भी समस्त विकारों की क्रीड़ा-भूमि है। वह यह भी मानती हैं कि वह 'कालसीमा-हीन' है और सूनेपन के भान से उसने विश्व-प्रतिमा का निर्माण किया है। उनकी रचनाओं में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, संयमन और प्रवेश—ईश्वर के सभी कार्यों के उदाहरण मिलते हैं।

मायापति ब्रह्म की प्रेम-सृष्टि में हम तीन बातों की प्रधानता पाते हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। परमात्मा हुआ पुरुष के रूप में प्रेमी, और आत्मा तथा प्रकृति हुईं नारी के रूप में प्रेमिकाएँ। महादेवी ने प्रकृति और आत्मा का ऐसा मिला-जुला वर्णन किया है कि दो का भान ही नहीं होता। वह आत्मा और प्रकृति दोनों में उसी ब्रह्म के रूप की छाया देखती हैं। उनके साध्य की एक विशेषता यह भी है कि वह प्रेम-पात्र ही नहीं, प्रेममय

भी है; प्रेमलीला का साक्षी ही नहीं, स्वयं अभिनेता भी है। वह आकर्षित करना ही नहीं जानता, स्वयं भी आकृष्ट होना जानता है। जिस प्रकार ससीम असीम के प्रेम में विकल है उसी प्रकार असीम ससीम के प्रेम में आकुल है। इस प्रकार महादेवी मानती हैं कि आत्मा परमात्मा का अंश है, वह परमात्मा से पृथक् होकर पृथ्वी पर आती है, वह पृथ्वी के सुखों का उपभोग करती और सुख-सौन्दर्य की सृष्टि करती है, वह परमात्मा के वियोग में विकल रहती है, परमात्मा भी उसके प्रति आकर्षित होता है और अन्ततः परमात्मा के संकेत पाने पर वह उसमें लीन हो जाती है।

अब रहा प्रश्न यह कि परमात्मा और आत्मा में भेद पड़ जाने का क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर में दो कारण दिये जा सकते हैं—पहला कारण तो यह है कि आत्मा परमात्मा से पृथक् होकर शरीरस्थ हो जाती है; और दूसरा यह कि वह आवागमन के चक्कर में पड़ जाती है। महादेवी इन दोनों कारणों को स्वीकार करती हैं, पर एक विशेषता के साथ। वह एक ओर ब्रह्म की महत्ता स्वीकार करती हैं तो दूसरी ओर आत्मा की महत्ता की घोषणा भी करती हैं। वे जानती हैं कि शरीरस्थ होने से चेतन अपने महान् रूप में सामने नहीं आता, पर इससे उसकी महत्ता में बट्टा नहीं लग सकता। इसके लिये उनके पास दो कारण हैं—पहला कारण तो यह कि असीम ससीम का ही व्यापक रूप है, और दूसरा यह कि असीम की महत्ता ससीम द्वारा ही प्रकाश में आती है। यदि आत्मा न हो तो परमात्मा की महत्ता ही निराधार हो जाती है। इसलिये वह कहती हैं—

क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

जीवात्मा की महत्ता की भाँति ही वह प्रकृति की महत्ता भी स्वीकार करती हैं और उसकी ओर अनन्त सहानुभूति की दृष्टि से देखती हैं। वह प्यारी इसलिये है कि उसी के माध्यम से उन्होंने अपने प्रियतम की झलक पाती है, और अधिक इसलिये कि प्रेम के भावोद्दीपन में वह उनकी सहा-

यता करती है। इस प्रकार प्रकृति महादेवी की रचनाओं में :—

(१) आत्मा को अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य से आकर्षित करती है।

(२) आत्मा को अपने माध्यम से परमात्मा की झलक दिखाती है।

(३) आत्मा के समान ही परमात्मा की प्रेमिका प्रतीत होती है।

संक्षेप में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में महादेवी की यही विचारधारा है। इसी विचारधारा के आलोक में हम उनकी काव्य-साधना पर विचार करेंगे।

महादेवी की काव्य-साधना

महादेवी की काव्य-साधना एक साधिका का अपने साध्य के प्रति आत्म-समर्पण का परिणाम है। उनकी रहस्यानुभूति का आरम्भ जिस माध्यम से होता है उसी माध्यम में उस रहस्यानुभूति का अवसान भी होता है। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उनका एक निश्चित लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एक निश्चित पथ है जिसका अनुसरण वह बिना दायें-बायें देखे एकाग्र चित से काव्य-साधना द्वारा करती जा रही हैं। वह अपने पथ में एकाकिनी नहीं हैं। उसके सूनेपन को दूर करने के लिये उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सहचरी बना लिया है। इस प्रकार उनकी काव्य-साधना में तीन तत्वों की—परम तत्व, आत्म-तत्व और प्रकृति-तत्व की प्रधानता हो गयी है। इन तत्वों का निरूपण और चित्रण उन्होंने अपनी काव्य-साधना में वेदना के माध्यम से किया है।

महादेवी की पाँच कविता-पुस्तकें हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्य-गीत और दीपशिखा। इन पाँचों कविता-पुस्तकों के अध्ययन से महादेवी की काव्य-साधना का विकास-सूत्र ग्रहण किया जा सकता है। इनमें क्रमशः तीनों तत्वों का विकास बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। सामान्य दृष्टि से इस त्रिगुणात्मक जगत् में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति में भेद दिखायी पड़ता है, अज्ञान के कारण तीनों की सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है। महादेवी ने भी नीहार में इन तीनों तत्वों को पृथक्-पृथक् रूप में देखा है। इसमें रूप-दर्शन की स्मृति बार-बार उनके हृदय में खटकती है। इसके फलस्वरूप प्रिय-प्रियतम सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके बाद हम

उनके हृदय को वैराग्य की ओर झुकते हुए पाते हैं। 'सखे ! यह है माया का देश' कहकर वह संसार की अस्थिरता, क्षण-भंगुरता, निष्ठुरता, निर्ममता और उसके स्वार्थ तथा विश्वासघात का प्रतिपादन करती हैं। प्रकृति में उन्हें ब्रह्म के लिये व्याकुलता भी दिखायी देती है। यह सब देखकर वह सोचने लगती हैं—

यह कैसी छलना निर्मम, कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?

यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। रश्मि में वह इसी आधार पर अपनी काव्य-साधना को अग्रसर करती हैं। इसकी आधी से अधिक रचनाएँ भावमयी भाषा में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप निरूपण करती हैं। इसमें सृष्टि, प्रलय और परिवर्तन की चर्चा भी पाई जाती है। अद्वैतवादियों के अनुसार यह सृष्टि 'शून्यता में निद्रा की बन उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन' है। एकाकीपन के भार से आकुल होकर ही उस अद्वितीय ब्रह्म ने इस जगत् की रचना की है। सृष्टि होने के पूर्व सृष्टि का अस्तित्व नहीं था तथा यह सृष्टि उस अनन्त निर्विकार में हुई—इन दोनों बातों को भी वह स्वीकार करती हैं। 'तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश' कहकर वह एक ओर सृष्टि और परमात्मा की अभिन्नता स्वीकार करती हैं तो दूसरी ओर 'मैं तुमसे हूँ एक एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश' तथा 'भूल अधूरा खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान' कहकर वह परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करती हैं। आगे चलकर वह यह भी मानती हैं कि जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों से आत्मा में कोई विकार नहीं होता। इस प्रकार नीहार में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का पृथक्-पृथक् चित्रण हुआ है, वहाँ रश्मि में एक ओर आत्मा और परमात्मा तथा दूसरी ओर प्रकृति और परमात्मा के द्वैत का निराकरण हुआ है। रश्मि एक प्रकार से महादेवी के दार्शनिक विचारों की मंजूषा है।

नीरजा महादेवी की अनुभूति-प्रधान रचना है। नीहार में उनकी जो जिज्ञासा थी वह रश्मि में ज्ञान का पाथेय पाकर परिपुष्ट हुई और नीरजा में निज अनुभूति के पथ पर लौट आई। इसमें महादेवी की विचारधारा प्रेम और ज्ञान, जगत् और ब्रह्म तथा सूक्ष्म और स्थूल के कूलों को छूती

हुई प्रवाहित हुई है। यह प्रवाह ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। इससे उनकी रचनाओं में प्रिया और प्रियतम का भाव घनीभूत हो गया है। प्रकृति के प्रति भी उनकी पूरी सहानुभूति बनी हुई है। अद्वैतवादियों के अनुसार द्वैत दो प्रकार का होता है - एक ईश्वरकृत और दूसरा जीवकृत। जगत् ईश्वरकृत द्वैत है और इस जगत् को लेकर जन की विविध वासनाएँ जीवकृत द्वैत हैं। यह द्वैत बन्धन का कारण है। ईश्वरकृत द्वैत ज्ञान का कारण है। इसलिये महादेवी जगत् के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करती हैं। प्राणी जड़-चेतन का संयोग है, इसलिये वह उसकी भी महत्ता स्वीकार करती हैं।

सान्ध्य-गीत महादेवी की काव्य-साधना का चतुर्थ चरण है। साधना के स्वरों और भावना के पदों से इसकी रचना हुई है। इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि उनकी वेदना-प्रधान भावना को, उनके करुण दुःखवाद को, उनकी साधना के सरस सुखद गीतों ने सुखमय बना दिया है। इस रचना में कवयित्री ने वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा को पार कर लिया है। उन्होंने स्वयं लिखा है—'नीरजा और सांध्य-गीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा। पहली बार खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानों वह मेरे ही हृदय में खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी। फिर यह सुख-दुःख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामञ्जस्य-सा ढूँढ़ लिया है जिसने सुख-दुःखको इस प्रकार बुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव से साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।'

यहाँ तक हमने महादेवी की काव्य-साधना के विकास के सम्बन्ध में विचार किया है। हमने यह देखा है कि उनके दार्शनिक विकास को प्रदर्शित करने वाली उनकी चार रचनाएँ हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य-गीत। इन रचनाओं में दो भावों की प्रधानता है। नीहार

और रश्मि तो वेदना-प्रधान रचनाएँ हैं और नीरजा और सांध्य-गीत वेदना प्रधान होते हुए भी आत्मानन्द से पूर्ण रचनाएँ हैं। हम सुविधा की दृष्टि से इन समस्त रचनाओं को चार भागों में विभाजित करके उन पर विचार करेंगे—

(१) रहस्यवादी रचनाएँ—महादेवी उच्च कोटि की रहस्यवादी कवयित्री हैं। आधुनिक युग में उनके काव्य का उत्कर्ष रहस्यवाद के उत्कर्ष की सीमा है। रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है जब ससीम आत्मा विश्व के सौन्दर्य में असीम परमात्मा के चिर सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तदात्म्य स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और माधुर्य भाव पर आधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर से तदाकार होने का प्रयास करती है। रहस्यवाद के मूल में विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतवाद रहता है। चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही काव्य-जगत् में कल्पना, भावना और अनुभूति के सहारे रहस्यवाद की रूपरेखा ग्रहण करता है। अतः रहस्यवाद में निर्गुण की ही उपासना सम्भव है। रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक और भावात्मक। महादेवी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद है। भावात्मक रहस्यवाद के भी चार भेद होते हैं—१. प्रेमपरक रहस्यवाद, २. दार्शनिक अथवा चिन्तनपरक रहस्यवाद, ३. भक्तिपरक रहस्यवाद और ४. प्रकृतिपरक रहस्यवाद। महादेवी की रचनाओं में भावात्मक रहस्यवाद के इन चारों उपभेदों का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनकी काव्य वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। देखिए—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।

× × ×

उनके अब पलकों में पाहुन

× × ×

बीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

× × ×

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु-बयार।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद के अन्तर्गत समस्त श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का समन्वय उनकी कविताओं में वर्तमान है। उनकी रहस्य-भावना की एक और विशेषता है। उनकी रहस्य-भावना में एक क्रम है, उन्नति की एकरसता है। उनकी विचारधारा क्रमशः अग्रसर होती है, उनमें कोई व्यवधान नहीं, कोई जल-प्रपात-सा आकस्मिक विक्षेप नहीं। उनमें शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद के चार मुख्य स्तरों की क्रमिक अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है—

(१) अपनी प्रथम अवस्था में वह विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके प्रति कौतूहल-मिश्रित जिज्ञासा की अनुभूति प्रकट करती हैं। इसका उदाहरण उनकी रचना 'नीहार' है।

(२) अपनी दूसरी अवस्था में वह समस्त दृश्य जगत् में एक ही व्यापक सत्ता का आभास पाने लगती हैं और आत्मा-परमात्मा और प्रकृति-परमात्मा का निरूपण करने लगती हैं। 'रश्मि' इसका उदाहरण है।

(३) अपनी तीसरी अवस्था में वह अपनी आत्मा तथा प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखकर उसके 'सलोने' 'बिम्ब' के लिये तड़प उठती हैं। उनकी इस प्रकार की अलौकिक वेदना-प्रसूत रचनाएँ 'नीरजा' में हैं।

(४) अपनी चौथी अवस्था में वह अपने व्यक्तित्व के भीतर ही अपने प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी दशा में उनका दुःख सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी उनके लिये फूल बन जाते हैं, विरह और मिलन में एकाकार हो जाता है। यही समस्त भावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है। 'सान्ध्य-गीत' और 'दीपशिखा' रहस्यवाद के उत्कर्ष से परिपूर्ण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी की रहस्य-भावना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई है और इस क्षेत्र का वह अकेले नेतृत्व कर रही हैं।

(२) वेदना-प्रसूत रचनाएँ—महादेवी की वेदना-प्रसूत रचनाएँ उनकी रहस्यवादी भावनाओं से भी सम्बन्ध रखती हैं। हम देख चुके हैं कि उनकी रहस्यानुभूति में प्रेम की मात्रा अधिक है। उनका जीवन प्रेम

का जीवन है। प्रेम के जीवन में वेदना का होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में कोई अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन में जिस प्रकार एक प्रेमी और एक प्रेम-पात्र होता है उसी प्रकार उन्नत जीवन में एक 'महादेवी' और एक 'चिर सुन्दर' है। लौकिक प्रेम-व्यवहार में प्रेमी और प्रेमिका कभी मिलते हैं, कभी नहीं भी मिलते; पर अलौकिक प्रेम-व्यापार में रहस्यवादी का यह दुर्भाग्य है कि उसका प्रियतम निराकार होता है। इसलिये पीड़ा का पथ पार करने पर उसे अपने प्रियतम से मिलने-जुलने का अवसर नहीं मिलता। लौकिक प्रेम में विरह-काल की सीमा है। इसके अतिरिक्त प्रेमी को अपने पिछले जन्म का स्मरण नहीं रहता। रहस्यवादी पर यहाँ भी दुहरी चोट पड़ती है। एक तो वह अपने प्रियतम की धुँधली-सी ज्योति देख पाता है और दूसरे वह जन्म-जन्मांतर की प्रेम-वेदना का अनुभव करता है। इसीलिये उसकी पीड़ा शाश्वत हो जाती है। महादेवी इसी शाश्वत पीड़ा की गायिका हैं। वह कहती हैं—

मेरे मानस से पीड़ा, भींगे पट-सी लिपटी है।
× × ×
मेरी आहें सोती हैं इन होठों की चोटों में।

महादेवी को पीड़ा से स्वाभाविक प्रेम है। वह कहती हैं 'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्य की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' महादेवी इसी मोक्ष को लेकर चली हैं। इसी प्रसंग में वह पुनः कहती हैं—'मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं—एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है, और दूसरा वह जो काल और सीमा

के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का बन्धन है, पहला दुःख का भौतिक रूप ही साकार है।' इसलिए उनकी वेदना अलौकिक है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में मिलता है।

महादेवी की वेदना का माध्यम प्रकृति है। पहले वह प्रकृति-दृश्यों में प्रेम-व्यापार का आभास पाती हैं, इसके बाद वह उसमें वेदनापूर्ण वातावरण का अनुभव करती हैं। वह देखती हैं कि सागर की चंचल लहरें चन्द्रमा को स्पर्श करने के लिये ऊपर उठती हैं, पर असफल होकर लौट आती हैं। प्रकृति के इस प्रकार के प्रेम-व्यापारों से उनके हृदय में प्रतिक्रिया होती है। वह प्रकृति के प्रेम-व्यापारों को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होती हैं और अपने में अभाव का अनुभव करती हैं। यही अभाव उनकी वेदना का कारण है। इस प्रकार उनकी पीड़ा आरोपित नहीं, आमंत्रित है। वह अपनाई इसलिये गई है कि वह प्रिय की दी हुई है। इसलिये वह मधुर है। वह उसका अन्त नहीं चाहतीं—

पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की पीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा!

वह अमर जन्म-मृत्यु की दुःखद शृङ्खला से छूटना भी नहीं चाहतीं, अपने पर मर मिटने के अधिकार को खोना भी नहीं चाहतीं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे यह मेरे मिटने का अधिकार।

वह अपनी पीड़ा में आत्मिक सुख का अनुभव करती हैं और कहती हैं—

बिछाती हूँ पथ में करुणेश, छलकती आँखें हँसते ओठ।

अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होने पर सुखद प्रयत्न की धारा शुष्क हो जाती है, इससे जीवन नीरस हो जाता है। अतः प्रयत्न ही सुख है, प्राप्ति नहीं। महादेवी कहती हैं—

मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर।
रहने दो प्यासी आँखें, भरतीं आँसू के सागर॥

× × ×

इस अचल क्षितिज-रेखा पर, तुम रहो निकट जीवन के।
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके॥

महादेवी की इन पंक्तियों में वेदना का गौरव अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है। हिन्दी-काव्य के इस क्षेत्र में वह अन्यतम हैं।

(३) प्रकृति चित्रण सम्बन्धी रचनाएँ—महादेवी ने अपने प्रकृति-वर्णन में पाँच शैलियों का आयोजन किया है—१. प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान कर साकार रूप से उसका वर्णन, २. उद्दीपक के रूप में प्रकृति-वर्णन ३. मानवीय भावनाओं से अनुरञ्जित प्रकृति-वर्णन, ४. छायावादी प्रकृति-वर्णन और ५. रहस्यवादी प्रकृति-वर्णन। इन शैलियों के निरूपण में महादेवी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इस सम्बन्ध में हमें एक बात याद रखनी चाहिये और वह यह कि महादेवी उच्चकोटि की रहस्यवादी और छायावादी कवयित्री हैं। अतः उनके प्रकृति-चित्रण में शैलियों की अनेकरूपता होते हुए भी छायावाद और रहस्यवाद की ही प्रधानता है। जहाँ उन्होंने प्राकृतिक वस्तुओं के पूर्ण चित्र ऐश्वर्यमयी अथवा आलंकारिक शैली में उतारे हैं वहाँ भी रहस्यवाद की भावना पाई जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रजनी, प्रभात, संध्या आदि के चित्र सामान्य दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो ये रहस्यवाद के प्रभाव से मुक्त हों, पर अन्त में जो झाँकी मिलती है वह रहस्यवाद के प्रभाव से ही पूर्ण होती है। महादेवी में स्वतन्त्र प्राकृतिक वर्णनों की सामर्थ्य नहीं है और वह उनके लिये उचित भी नहीं है। उनकी दृष्टि में सारी सृष्टि ब्रह्म के प्रेम में आकुल और निमग्न है। अतः इसी रूप में उसका हमारे सामने आना स्वाभाविक है। छायावाद के नवीनतम संस्कारों के फलस्वरूप वह प्रकृति को मानव जीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण करती है और प्रकृति के विभिन्न अवयवों में विभिन्न [illegible] की सम्भावना भी करती है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का निजी जीवन में [illegible] अथवा उसके जीवन का ही प्रकृति के बीच निर्देश उनके अनेक गीतों में प्राप्त है। कहीं-कहीं प्रकृति दूती और नायिका के रूप में भी आई है और कहीं नायिका की भाँति वह भी प्रिय-मिलन [illegible] शृंगार करती हुई दिखाई देती है। जैसे:—

तू भू के प्राणों का शतदल !
सित चीर-फेन हीरक-रज से जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चिर चाँदी के रंगों से चित्रित;
खुल रहे दलों पर दल झल मल।

× × ×

फैलते हैं सांध्य-नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले।

× × ×

जाने किस जीवन की सुध ले लहराती आती मधु बयार।

× × ×

राग भीनी तू सजनि, विश्वास भी तेरे रंगीले।

महादेवी में वह प्रतीक्-विधायिनी प्रतिभा भी पर्याप्त मात्रा में है जिसमें भावनाओं को मूर्त्त रूप दिया जाता है। उनके ऐसे रूपविधान बड़े आकर्षक होते हैं। सद्य-स्नाता नायिका के रूप में प्रकृति का चित्र देखिए—

रूपसि तेरा घन-केश-पाश।
नभ गंगा की रजत-धार में धो आई क्या इन्हें रात।

(४) गीति-काव्य—महादेवी का गीति-काव्य हिन्दी-काव्य साहित्य की अमर विभूति है। उनके गीतों में मीरा के गीतों की-सी विरह-कातर वेदना है, प्रियतम के अभाव में अनन्त रुदन है और इस रुदन में परम ज्योति की सुखद अनुभूति है। यह अनुभूति ही उनके विरह में उल्लास-रेखा है, आत्म परितोष की क्षितिज है। उनके गीत गतिशीलता, आत्म-विस्मृति, भाव-विदग्धता और संगीत में अद्वितीय हैं। उन्होंने ही आज के नवयुवकों को गीतों की भाव-भाषा दी है। 'नीहार' व 'रश्मि' में उनके वेदना-प्रधान गीत हैं और 'नीरजा' तथा 'सांध्य-गीत' में वेदना के साथ रहस्यमय आत्म-परितोष भी है। उनके गीतों में चिर अनन्त का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति का सरल भाव-चित्रण भी। उनमें काव्य-कला का भी मनोहर सौष्ठव है। इस प्रकार महादेवी की काव्य-साधना अपनी सीमा में परिपुष्ट है।

महादेवी की अलङ्कार-योजना अत्यन्त स्वाभाविक है। उन्होंने अल-

रों का विधान भावों को रमणीय बनाने अथवा उन्हें तीव्र या स्पष्ट करने के लिये किया है, इसलिये अलङ्कारों की छटा में उनके भावों का सौन्दर्य लुप्त नहीं हो पाया है। उनका काव्य व्यंग्य-प्रधान है। वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ का बोध कराती हैं, इसलिये उनके काव्य में समासोक्ति-अलङ्कार के बड़े ही सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। समासोक्ति से भी अधिक उन्होंने रूपकों को अपनाया है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता आकृति, स्वभाव अथवा कार्य के अनुरूप प्रतिष्ठित की जाती है। महादेवी ने अपने रूपकों में इन तीनों का विशेष रूप से ध्यान रक्खा है। इससे उनके रूपकों में बड़ी सजीवता आ गयी है। उनका एक अत्यन्त सुन्दर सांगरूपक देखिए—

महादेवी की अलङ्कार और रस-योजना

गोधूली अब दीप जलाले
किरण-नाल पर घन के शतदल,
कलरव-लहर, विहग बुद् बुद् चल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले।

इन अलङ्कारों के अतिरिक्त महादेवी ने उपमा अलङ्कार का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। उनकी उपमाओं में रूप, गुण और कर्म की समानता तो रहती ही है, साथ ही उनसे उनकी सुरुचि का भी परिचय मिल जाता है। वह अपनी उपमाएँ अधिकांश प्रकृति से ही लेती हैं और उन्हें अपने प्राणों से अनुप्राणित कर देती हैं। इसीलिये उनकी उपमाएँ उनकी रचनाओं को सरस करने में समर्थ होती हैं। देखिए—

कनक-से दिन, मोती-सी रात

× × ×

पीड़ा मेरे मानस से,
भीगे पट-सी लिपटी है।

उनके लिये उनके हृदय में मोह नहीं है। महादेवी वस्तुतः भावना की कवयित्री हैं। उन्होंने जिस प्रकार अपने आपको अलङ्कारों के साजबाज से बचाया है उसी भाँति अपने काव्य को भी चुने हुए अलङ्कारों से ही सजाने की चेष्टा की है।

रस के क्षेत्र में महादेवी वियोग शृङ्गार की कवयित्री हैं। वियोग के जैसे सुन्दर रहस्यात्मक चित्र उन्होंने उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके काव्य में वेदना भरी पड़ी है। करुण रस भी उनकी रचनाओं में पर्याप्त है। इस प्रकार करुण और वियोग-शृङ्गार ही उनकी रचनाओं में प्रमुख रूप से पाये जाते हैं।

महादेवी की भाषा और शैली

महादेवी की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली है। वह ब्रजभाषा से भी भली-भाँति परिचित हैं। आरम्भ में उन्होंने ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया था, पर जब खड़ीबोली से उनका परिचय हुआ तब उन्होंने उसे ही अपनालिया। इस प्रकार वह ब्रजभाषा के क्षेत्र से निकलकर खड़ीबोली के क्षेत्र में आ गयीं। यह द्विवेदी-युग के प्रथम चरण की बात है। उस समय द्विवेदीजी, गुप्तजी, हरिऔधजी आदि खड़ीबोली को काव्योचित भाषा बनाने के लिये उसे खराद पर चढ़ा रहे थे। उन्हें इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली। कालान्तर में जब प्रसाद, निराला और पन्त का हिन्दी में प्रवेश हुआ तब खड़ीबोली और भी माँजी गई। प्रसाद ने उसे प्राञ्जलता दी, निराला ने उसका स्वर और ताल ठीक किया, पन्त ने उसे मधुरिमा और कोमलता दी। खड़ीबोली जब अपने इतने गुण लेकर महादेवी के पास आई तब उन्होंने उसे अपने हृदय की सारी वेदना देकर स्पन्दित कर दिया, उसमें जान डाल दी। इस प्रकार खड़ीबोली को काव्योचित भाषा बनाने में उनका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। आज उनकी भाषा काव्य के लिये आदर्श भाषा बन गयी।

महादेवी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त कोमल है। उसमें कहीं भी कर्कशता और शुष्कता नहीं है। उनकी भाषा

में जैसी मसृणता है वैसी खड़ीबोली के अन्य-कवियों में मिलना दुर्लभ है। उनका अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। प्रभाव तो उसमें इतना है कि वह अपने पथ की बाधाओं को काटती-छाँटती चलती है। 'प्रसाद' की भाषा में वचन की गड़बड़ी है, पन्त की भाषा में लिंग सम्बन्धी विचित्र प्रयोग हैं, निराला की भाषा में समस्त पदों की भरमार है, पर महादेवी की भाषा ऐसी त्रुटियों से मुक्त है। इतना होते हुये भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिये कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप-परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य हो गया है। बतास, आधार, अभिलाषें, कर्णाधार आदि ऐसे ही शब्द हैं। उन्होंने ऐसे शब्दों को भी अपनी खड़ीबोली में स्थान दिया है जो अधिक काल से अपनी कोमलता के कारण कविताओं में स्थान पाते आ रहे हैं। नैन, बयार, बैन आदि इस प्रकार के शब्दों के उदाहरण हैं। 'वह' का प्रयोग वह एक वचन और बहुवचन दोनों में समान रूप से करती हैं। उनकी त्रुटियाँ क्षम्य हैं। *इनके कारण उनकी भाषा के प्रवाह में कोई बाधा नहीं पड़ती। संक्षेप में* उनकी भाषा भाव-प्रवण, सरल, संगीतमय, प्रसाद गुणयुक्त, प्रवाहपूर्ण, मधुर और कोमल है। उनकी कविताओं में यत्र-तत्र उर्दू भाषा के भी शब्द मिलते हैं जो सम्भवतः किसी प्रयोजनवश ही लाये गये हैं। उनके शब्द छोटे और भावपूर्ण होते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर होता है।

महादेवी की शैली विकासोन्मुख रही है। 'नीहार' में उनकी शैली अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसमें भाव कम हैं और शब्दों की अधिकता है और 'नीरजा' में उनकी शैली भाव और भाषा में समता एवं मित्रता स्थापित कर सकी है। 'दीपशिखा' में उनकी शैली प्रौढ़ हो गई है। इसमें वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह गई हैं। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग वह बड़ी सावधानी और सुन्दरता से करती हैं। उनकी शैली में अमूर्त्त वस्तुओं के लिये मूर्त्त योजनाएँ बहुत मिलती हैं। भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण में वह पटु हैं। उनकी शैली में प्रभात हँसता है, आहें सोती हैं, किरणें मचलती हैं, इच्छाएँ सिहरती हैं और शून्य गायन करता है। आज की कविता शब्दों का सामान्य अर्थ लेकर नहीं

चलती। वह प्रतीकों, समासोक्तियों और लाक्षणिक तथा व्यंजक प्रयोगों के बल पर चलती है। इसलिये पाठक को उसे समझने के लिये थोड़ा मानसिक श्रम करना पड़ता है। महादेवी की शैली भी इसी प्रकार की है। वह अपने काव्य में अत्यधिक सांकेतिक हैं। वह अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। उनके परिचित प्रतीक सरलता से समझ में आ जाते हैं, पर कुछ ऐसे प्रतीक, जो अभी प्रचुरता से आधुनिक काव्य के माध्यम नहीं बने हैं, अर्थ-बोधकता में बाधा डालते हैं। ऐसे अपरिचित प्रयोगों के कारण ही महादेवी कहीं-कहीं दुरूह और जटिल हो गई हैं। उनके प्रतीकों में तारे लौकिक भावों के रूप में, दीपक आत्मा के रूप में, सागर संसार के रूप में, तरी जीवन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इच्छाओं के लिये कहीं मकरन्द, कहीं सौरभ और कहीं इन्द्र-धनुष के विविध रंगों से काम लिया गया है। अतः इन प्रतीकों द्वारा अर्थ लगाने के लिये प्रसंग पर ध्यान रखना आवश्यक है।

महादेवी और पन्त

महादेवी और पन्त दोनों आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा के कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है। दोनों आस्तिक हैं, दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं, दोनों दार्शनिक हैं, दोनों अद्वैतवादी हैं; पर दोनों की काव्य-साधना में अन्तर है। इस अन्तर का कारण दोनों का विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण है। जीवन और जगत् के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दोनों ने दो दार्शनिक दृष्टिकोणों से विचार किया है। पन्त अपनी दार्शनिकता में लोक-संग्रह की भावना लेकर चले हैं और महादेवी अपनी दार्शनिकता में अध्यात्मवाद की ओर झुकी हैं। पन्त लोक-संग्रह के माध्यम से जीवन को पूर्ण बनाना चाहते हैं और महादेवी पूर्ण जीवन के लिये लोक-संग्रह के माध्यम को सीमित समझती हैं। लोक-संग्रह की भावना दोनों में है, पर दोनों में अन्तर है। पन्त में लोक-संग्रही रूप प्रमुख है, आध्यात्मिक रूप गौण; महादेवी में आध्यात्मिक रूप प्रमुख है, लोक-संग्रही रूप गौण। पन्त पर स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव है, महादेवी पर स्वामी रामतीर्थ के दर्शन का। पन्त का 'गुञ्जन' और

महादेवी का 'रश्मि' दोनों के दार्शनिक विचारों की दो पृथक्-पृथक् कुञ्जियाँ हैं। इन कुञ्जियों की सहायता से हम दोनों कवियों की आत्माओं का रहस्योद्‌घाटन कर सकते हैं।

एक बात और है। पन्त और महादेवी दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं में वेदना का चित्रण किया है। दोनों ने वेदना को दो रूपों में ग्रहण किया है। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो मनुष्य के मानसिक विकास में सहायक होता है। प्रथम में वेदना का भौतिक रूप है, दूसरे में आध्यात्मिक। महादेवी की रचनाओं में वेदना का दूसरा रूप ही मुख्यतः साकार हुआ है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में ही मिलता है। पन्त में वेदना का प्रथम रूप—भौतिक रूप—प्रमुख है, आध्यात्मिक रूप गौण। महादेवी की वेदना अलौकिक है, पन्त की वेदना लौकिक। पन्त लौकिक वेदना का चित्रण करते हैं, सामाजिक क्रान्ति द्वारा एक नये युग की सृष्टि के लिये। महादेवी आत्मिक वेदना का चित्रण करती हैं, असीम की प्राप्ति के लिये। पन्त वस्तुतः वेदना के कवि नहीं हैं। वह जग-जीवन में उल्लास के कवि हैं। इस प्रकार 'महादेवी जिस समष्टि तक दुःख के माध्यम से पहुँचना चाहती हैं, पन्त उस समष्टि तक सुख के माध्यम से। इसीलिये महादेवी में एक उत्फुल्ल विषाद है, पन्त में एक प्रसन्न आह्लाद। पन्त में महादेवी की-सी आध्यात्मिक दार्शनिकता तो नहीं है, पर एक भौतिक दार्शनिकता अवश्य है।'

पन्त और महादेवी के काव्यगत दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में हम कह आये हैं कि दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं। दोनों ने प्रकृति में उस असीम सत्ता का आभास पाया है, पर दोनों में यहाँ भी अन्तर है। पन्त ने प्रकृति को बालिका के रूप में अपनाया है, महादेवी ने प्रेमिका के रूप में। इसलिये पन्त की कविता में प्रकृति एक बालिका की भाँति खेलती है, महादेवी की कविता में प्रकृति एक विरहिणी की भाँति अपने को निवेदित करती है। एक में क्रीड़ा है, दूसरे में पीड़ा। एक की प्रकृति में उल्लास है, दूसरे में प्रकृति का उच्छ्‌वास। एक ने प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व का परिचय दिया

है, दूसरे ने प्रकृति के पुरुष पुरातन का दिव्य परिचय। यही कारण है कि जहाँ पन्त की रहस्य-भावना केवल मुग्धता, विस्मय और कृतज्ञता में डूबकर रह गयी है वहाँ महादेवी की रहस्य-भावना ने यौवन के आतप, प्रतीक्षा के सूनेपन और विरह के कसक भरे दंशन का अनुभव भी किया है। महादेवी की अनुभूति विविधता-समन्वित होने के कारण पन्त की एकांगी अनुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और गहन है। पन्त अपने प्रारम्भिक पथ का परित्याग कर अन्य दिशा में मुड़ गये हैं; अतः भाव, विचार, कल्पना और कला की वह प्रौढ़ता उनकी रहस्यवाद की रचनाओं में नहीं है जो महादेवी की कृतियों में उत्तरोतर लक्षित होती है।

पन्त और महादेवी की कला और जीवन सम्बन्धी रचनाओं में एक बड़ा भारी अन्तर यह भी है कि पन्त आरम्भ से ही दृश्य-जगत्—साकारता—की ओर उन्मुख रहे हैं, और महादेवी निराकारता की ओर। पन्त ने जिस सत्य को जीवन का भौतिक दर्शन दिया है, महादेवी ने उसी सत्य को 'एक मिटने में सौ वरदान' कहकर जीवन का आध्यात्मिक दर्शन दिया है। पन्त का दृष्टिकोण पहले भावात्मक था, अब व्यावहारिक हो गया है, महादेवी अपने दृष्टिकोण पर अटल हैं। पन्त स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, शरीर से मूर्ति की ओर, मूर्ति से चित्र की ओर, चित्र से संगीत की ओर आये हैं। जीवन के प्रहर्ष में पन्त का जो कवि सुकुमार था वह अब जीवन के संघर्ष में परुष हो गया है। इसीलिए जीवन के शैशव में सौन्दर्य-जगत् को देखने का जो दृष्टिकोण था वह जीवन के तारुण्य में परिवर्तित हो गया है। आज उनकी कला बदली है, दृष्टिकोण बदला है; पर लक्ष्य उनका भी एक नवीन भाव-जगत् है जो आज के अभावों का भावी स्वरूप है। महादेवी की कविता न तो जीवन के प्रहर्ष में है, न जीवन के संघर्ष में। उसमें तो केवल उस चेतना की आराधना है जो जीवन के इतने हर्ष-विमर्षों का संचालक है।

मुक्तक के क्षेत्र में पन्त और महादेवी में उतना ही अन्तर है जितना सूर और मीरा में। पन्त मुख्यतः वर्णनात्मक हैं, महादेवी मुख्यतः उद्गारात्मक। इसलिये पन्त की कविताएँ दीर्घ मुक्तक हैं, महादेवी की संक्षेप

मुक्तक। पन्त के भावों में विशद प्रसार है, महादेवी में हृदय का संक्षिप्त संकलन। पन्त की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी वह अपनी कविता में सौन्दर्य और माधुर्य का ताल और स्वर की भाँति संतुलन बनाये रखते हैं। महादेवी की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह भावों का संकुचित क्षेत्र लेकर भी अपनी कविता को पुष्पस्तवक की भाँति सजा देती हैं। पन्त में चित्र कला प्रधान है, महादेवी में संगीत कला। संगीत पन्त का माध्यम है, चित्र महादेवी का। पन्त की कविता चित्र की रेखाओं जैसी पुष्ट है, महादेवी की कविता संगीत के प्रवाह जैसी तरल। गीति-काव्य को महादेवी से विशेष गौरव मिला है। गीत लिखने में जैसी सफलता उन्हें मिली है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्राञ्जल प्रवाह और कहीं मिलता है और न हृदय की ऐसी भावभंगी। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर ऐसी ढली और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय उसमें तन्मय हो जाता है।

पन्त और महादेवी के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् अब हम महादेवी और कबीर पर एक साथ विचार करेंगे। हम जानते हैं कि कबीर हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि हैं। महादेवी भी उनकी परम्परा में हैं। दोनों की अद्वैतवाद पर आस्था है। दोनों मूर्ति-पूजा का निषेध करते हैं, दोनों आध्यात्मक-ज्ञान को चरम लक्ष्य मानते हैं, दोनों ब्रह्म को प्रियतम के रूप में अपनाते हैं, पर इतना होते हुए भी दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। कबीर अपनी रहस्य-साधना में उग्र, खण्डनात्मक और उपदेशात्मक हैं। उन्होंने 'घट' में सब कुछ देखने पर जोर दिया है और आत्मा-परमात्मा के मिलने में माया को प्रबल बाधक माना है। साधना मार्ग में गुरु की महत्ता भी वह सशक्त शब्दों में स्वीकार करते हैं। महादेवी की रहस्य-साधना इस प्रकार की नहीं है। वह न तो खंडनात्मक है, और न उपदेशात्मक। उनका मार्ग भावुकता का है। भावनाओं की जटिलता उन्होंने स्वीकार नहीं की है। कबीर के रहस्यवाद में योग और भक्ति

महादेवी और अन्य कवि

का समन्वय है और महादेवी के रहस्यवाद में प्रेम और विवेक का। एक बात और है, कबीर जैसे-जैसे साधना के क्षेत्र में ऊँचे उठते गये हैं, वैसे ही वैसे वह संसार के प्रति विरक्त और माया के प्रपंच से मुक्त होते गये हैं। महादेवी को पहले यह जगत दुःखमय प्रतीत होता है, पर इसके बाद इसमें प्रियतम की झलक पाने पर वह इसे प्यार करने लगती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कबीर की रहस्य-साधना संतों की रहस्य-साधना है और महादेवी की रहस्य-साधना एक कवि की। यही कारण है कि कबीर की रहस्य-भावना हमें प्रेरित नहीं करती। उनकी भाषा, उनकी शैली हृदय की चीज नहीं, मस्तिष्क की चीज है। महादेवी के गीतों की स्वर-विभूतियाँ कबीर में देखी ही नहीं जा सकतीं।

हिन्दी के दूसरे रहस्यवादी कवि हैं जायसी। जायसी और महादेवी दोनों प्रेम के पथिक हैं। दोनों आस्तिक हैं, दोनों अद्वैतवादी हैं, दोनों मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं; पर दोनों की रहस्य-भावना दो रूपों में व्यक्त हुई है। महादेवी ने अपने ब्रह्म की कल्पना पति-रूप में की है, जायसी ने पत्नी रूप में। महादेवी के प्रणय-निवेदन का माध्यम गीति-काव्य है, जायसी का प्रबन्ध-काव्य। महादेवी के गीतों में उनके और उनके प्रियतम—ब्रह्म—के बीच कोई पात्र नहीं है। वह अपने हृदय की बात सीधी उनके चरणों तक पहुँचाती हैं, पर जायसी अपने हृदय की बात दूसरे पात्रों द्वारा व्यक्त करते हैं। जायसी की प्रेम-साधना में स्थूलता है, महादेवी की प्रेम-साधना में सूक्ष्मता है। इस सूक्ष्म दृष्टि के कारण ही महादेवी में प्रयत्न का एकदम अभाव है। जायसी को अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये विकट प्रयास करना पड़ा है। महादेवी की रहस्य-भावना किसी स्थूल आधार पर आश्रित न होने के कारण संयत और शिष्ट है। जायसी की रहस्य-भावना स्थूल आधार पर आश्रित न होने के कारण कहीं-कहीं असंयत भी हो गई है। एक बात और है, महादेवी की रहस्य-भावना में उनका आत्म-निवेदन प्रमुख है। उनके गीतों में प्रकृति केवल उद्दीपन का कार्य करती है। वह स्वयं व्याकुल नहीं है। इसके विपरीत जायसी की रचनाओं में प्रकृति का चित्रण पात्रों में मनोदिशा के अनुसार कभी विषादयुक्त होता है, कभी

उल्लासमय। महादेवी की रचनाओं में वियोग की वेदना का चित्रण है; जायसी की रचनाओं में संयोग और वियोग दोनों का। महादेवी अपने संसार से विरक्त नहीं हैं, प्रतिबिम्बवाद के आधार पर संसार के बिखरे सौन्दर्य में ही वह अपने प्रभु का दर्शन करती हैं, पर जायसी इस संसार से परे, परलोक की चिन्ता करते हैं। उनकी इस प्रकार की चिन्ता पर मृत्यु की छाया है। महादेवी मृत्यु से भी प्रेम करती हैं। वह अपनी रहस्य-भावना में स्वाभाविक हैं। जायसी की भाँति वह साम्प्रदायिकता के फेर में नहीं पड़ी हैं। यह अवश्य है कि प्रेमानुभव की जितनी सुन्दर अभिव्यक्तियाँ जायसी में मिलती हैं उतनी उनमें नहीं हैं; पर इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इतिवृत्तात्मकता के कारण जहाँ जायसी की रहस्य-भावना दब-सी गई है, वहाँ महादेवी की रहस्य-भावना गीतों के माध्यम द्वारा प्रकाश में आ गई है। इस प्रकार महादेवी को जायसी पर विजय है।

अब मीरा को लीजिये। मीरा और महादेवी दोनों प्रेम-साधिका हैं, पर मीरा महादेवी नहीं हैं और महादेवी मीरा नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। मीरा हमारे सामने दो रूपों में आती हैं—साधिका के रूप में और कवयित्री के रूप में। साधिका के रूप में इसलिये कि वह आदि से अन्त तक वह अपने गिरधर के रंग में रंगी हुई हैं; और कवयित्री इसलिये कि उन्होंने गीतों के माध्यम द्वारा अपने गिरधर के प्रति प्रणय-निवेदन किया है। इस प्रकार वह पहले साधिका हैं, बाद को कवयित्री। महादेवी का केवल एक रूप है और वह है कवयित्री का, रहस्यवादिनी का। महादेवी में साहित्यिक काट-छाँट है। वह उच्चकोटि की कलाकार हैं; साधिका नहीं हैं। साधिका के लिये जिस त्याग, तपस्या और तन्मयता की आवश्यकता होती है वह महादेवी के पास नहीं, मीरा के पास है। इसलिये साहित्यिक बारीकियों से अपरिचित होते हुए भी मीरा में जो छटपटाहट है, जो टीस और वेदना है, वह महादेवी में नहीं है। मीरा की जीवन-गाथा इतनी व्यथासक्त और उनकी प्रेम-साधना इतनी सहज और मर्मस्पर्शिणी है कि उनके सम्पर्क में आने वाले की आँखें भर आती

हैं। उनकी अनुभूति एक साधिका की अनुभूति है। महादेवी की अनुभूति एक कवयित्री की कल्पना और भावुकता पर आश्रित अनुभूति है। मीरा ने प्रीति-बेलि को अपने आँसुओं से सींचा है। महादेवी ने भी कम आँसू नहीं बहाये हैं। पर मीरा के आँसुओं में कुछ और ही बात है। महादेवी अभी उस तह तक नहीं पहुँची हैं। संसार के वैभव को ठुकराने वाली राजरानी मीरा साधना के क्षेत्र में महादेवी की अपेक्षा बहुत ऊँची उठी हुई हैं। उन्होंने राधा के रूप में कृष्ण को अपनाया है। उनकी साधना साकार साधना है। महादेवी ब्रह्म के निराकार रूप की उपासिका हैं। माधुर्य भाव दोनों में है, पर दोनों की तन्मयता में अन्तर है। मीरा की तन्मयता एक साधिका की तन्मयता है और महादेवी की तन्मयता एक कलाकार की। स्वानुभूति की सच्चाई जो मीरा के गीतों में रक्षित है, महादेवी के गीतों में नहीं है और विचारों तथा कल्पनाओं की जो निधि महादेवी के गीतों में रक्षित है, वह मीरा के गीतों में नहीं है। जिस प्रकार मीरा ने वैष्णव-काल में अपनी कल्पना और संसार का निर्माण किया था और हिन्दी-साहित्य में पीड़ा, वेदना और अनुभूति का सन्देश दिया था उसी प्रकार महादेवी इस छायावाद के युग में अपनी गूढ़तम अन्तर्विभूति को प्रकाश में लाकर ऐसा सन्देश दे रही हैं जो जीवित है, जाग्रत है और दीप्तिमय है।

महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी काव्य-साधना का श्रीगणेश उस समय से होता है जब उन्होंने अपनी माता के मुख से मीरा आदि के भक्ति-भावना-सम्पन्न गीतों को सुनकर मन में गुनगुनाना आरम्भ किया था। वह हिन्दी-साहित्य में उनके काव्य-जीवन का ऊषःकाल था। इसके पश्चात्

महादेवी का स्थान

ज्यों-ज्यों शिक्षा एवं अध्ययन से उनका मानसिक क्षितिज विकसित होता गया त्यों-त्यों मीरा की वेदना उनके हृदय में घर करती गयी। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करती थीं, पर जब मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा खड़ी-बोली की रचनाओं से उनका परिचय हुआ तब वह भी खड़ीबोली

में पद्य-रचना करने लगीं। इस प्रकार सर्वप्रथम उन्होंने 'चाँद' द्वारा हिन्दी-संसार को अपना परिचय दिया। तब से अब तक वह बराबर अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का भण्डार भर रही हैं। उनकी रचनाएँ यद्यपि संख्या में कम हैं तथापि उनमें उनके हृदय के भावों का सागर मौजें मारता हुआ दिखाई देता है। वह अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी काव्य के एक महत्त्व-पूर्ण अंग का नेतृत्व कर रही हैं। उनकी प्रत्येक रचना उनकी अनुभूतियों का दर्पण बन कर हमारे सामने आती है और हम उनके द्वारा उनके विकास-मूल को ग्रहण कर सकते हैं।

हिन्दी के आधुनिक युग में महादेवी स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं। अपने गीतों में वह वेदना की प्रधान उपासिका के रूप में प्रकट हुई हैं। उन्होंने प्रेमाख्यानक कवियों से भावात्मक रहस्यवाद को भाव के साथ अपनाया है। 'स्थूल' को छोड़कर 'सूक्ष्म' की ओर वह प्रवृत्त हुईं, पर उनका 'सूक्ष्म' जीवन का वह सूक्ष्म है जिसमें संवेदनशील जीवन का दिव्य सत्य निहित है। स्थूल जग की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता को खोजने वाली आत्मा सदैव विरहित रही है। इसी से हम उन्हें दुःखवादी दर्शन में निमज्जित पाते हैं।

महादेवी का प्रियतम 'अलबेला' है। प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त से छवि, सौन्दर्य और अमृत लाकर वह उसका—अपने आराध्य का—शृङ्गार करती हैं। वह प्रकृति के विविध रूप व्यापारों में उसकी झलक भी पाती हैं और उससे चिरमिलन के लिये उत्कण्ठित होती हैं। उनकी उत्कण्ठा ही उनके काव्य का पाथेय बन गयी है। उनका विरह और मिलन, उनका आह्वान और प्रत्याख्यान, उनका औत्सुक्य और नैराश्य, लोकोत्तर होने के साथ पवित्र भावना-प्रसूत है। उसमें कहीं भी कालुष्य, वासनासिक्त प्रेम और दुर्गन्धयुक्त अनुरक्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में मायावी जगत की विषमताओं एवं द्वन्द्वों का वह चित्र भी नहीं है जो सन्तों की परम्परा में हमें मिलता है। उनके प्रत्येक स्वर से चिरंतन विरह का भाव ही निनादित होता हुआ हमें सुनाई पड़ता है। इस वियोग में उन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। कहीं-कहीं चिर-मिलन का भाव भी है। उनकी प्रेम-साधना

व्यक्तित्व के सहारे उठकर प्रकृति के अंग में व्याप्त हो गयी है। अव्याहत द्रष्टा की अन्तर्मुखी साधना में लीन रहने के कारण उनका क्षेत्र ऐकान्तिक व्यक्तिगत साधना का है। इसलिये लोक-पक्ष का उनमें सन्त-वाणियों का-सा अमर स्वर है, पर वैसी तीव्र अनुभूति नहीं। वेदना उनके लिये एक गम्भीर चेतनता है। जीव, प्रकृति, जड़-चेतन, सब को वह अपनी वेदना से ओत-प्रोत किये हुए हैं। प्रकृति भी अपने प्रियतम के वियोग में उतनी ही दुःखी है जितनी कि वह। उन्हें अपनी वेदना का गौरव है। वह उसे त्यागना पसन्द नहीं करतीं। उनकी रचनाओं में व्यथा की आर्द्रता है जिस पर बौद्ध-दर्शन के दुखःवाद की स्पष्ट छाया पड़ी हुई जान पड़ती है। उनकी पीड़ा से आप्लावित काव्य-कृतियों में अवसाद का उन्माद है।

प्रकृति के प्रति महादेवी की पूरी सहानुभूति है। उनकी रचनाओं में प्रकृति के चित्र कोमल स्निग्ध रूपकों से, छायावाद की व्यञ्जना-प्रधान शैली में मार्मिकता के साथ अङ्कित हुए हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में भावों की गम्भीरता के साथ-साथ कल्पना की उत्कृष्ट उड़ान भी है। कहीं-कहीं कल्पना की बारीकी अस्पष्टता भी उपस्थित कर देती है। उन्होंने प्रकृति को अधिकतर ऐश्वर्यमयी के रूप में देखा है। कहीं-कहीं उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के पूर्ण आलङ्कारिक चित्र भी अङ्कित किये हैं। जिस प्रकार अन्य प्रकृति-प्रेमी प्रकृति-दर्शन से प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार उनकी प्रवृत्ति भी प्रकृति में रमी है; भेद केवल इतना ही है कि उन्होंने उसे भीतर से भी देखा है।

महादेवी के गीति-काव्य का हिन्दी के काव्य-साहित्य में सर्वप्रथम स्थान है। इस दिशा में वह वेजोड़ हैं। उनके गीतों में निर्जन वन-प्रदेश में बहती हुई एकाकिनी शैवालिनी का-सा मन्द-मन्द प्रवाह है। उनके गीतों में वेदना और कसक की सघनता, तल्लीनता, मधुर संगीत एवं शब्द-चित्र अत्यन्त सराहनीय हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में एक निश्चिन्त निर्द्वन्द्व नारी-कंठ की विरह-विहुल वाणी पाठकों को तुरन्त आत्मीय बना देती है। आत्मनिवेदन एवं आत्मविस्मृति के भाव उनके भावों में भरे हुए मिलते हैं। पर इतना होते हुए भी उनकी एकरसता कुछ खटकती-सी है। भावों की विविधता उनके गीतों में नहीं है। प्रायः एक-से रूपकों की आवृत्ति भी

हुई है। लोक के प्रति भी वह उदासीन हैं। उनके गीतों का क्षेत्र व्यापक है, सीमित है। यह उनकी विशेषता भी है और दोष भी। विशेषता इसलिये है कि एक सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अपनी अनुभूतियों को जिस प्रकार चित्रत किया है वह श्रेष्ठतम है, और दोष इसलिये है कि वह लोकभावना को व्यक्त करने से वंचित रह गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में भी महादेवी बेजोड़ हैं। भाषा की शुद्धता जैसी उनकी रचनाओं में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी उनकी भाषा में सरलता, प्रवाह और माधुर्य है। भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी उन्हीं की रचनाओं में प्रवाहित हुई है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त श्लिष्ट, सुन्दर और भावानुकूल होता है। उनके शब्द और अर्थ सम्पूर्ण कविता के और एक दूसरे के साथ पूर्ण साहचर्य रखते हैं। उनकी जैसी सुन्दर और संयत भाषा आजकल किसी रचना में नहीं मिलती।

महादेवी हिन्दी की सांस्कृतिक कवयित्री हैं। कविता के क्षेत्र में नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्य-गीत और दीपशिखा देकर; संस्मरण के क्षेत्र में अतीत के चलचित्र और स्मृति की रेखाएँ देकर; विचार के क्षेत्र में शृङ्खला की कड़ियाँ और विवेचनात्मक गद्य देकर उन्होंने हिन्दी-जगत के सामने कवि, कहानीकार, निबन्ध-लेखिका और आलोचक के रूप में आकर अपनी साहित्य-साधना का परिचय दिया है। इधर वेदों के विशिष्ट अंशों का अनुवाद भी उन्होंने आरम्भ किया है और इस प्रकार वह एक सफल अनुवादिका भी सिद्ध हो रही हैं। वह अभी हमें क्या देंगी यह तो भविष्य के गर्भ में है, पर अब तक उन्होंने जो कुछ हमें दिया है वह हमारी भाषा और हमारे साहित्य के लिये कल्याणप्रद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी की साहित्य-साधना बहुमुखी है और हिन्दी के आधुनिक जीवित कवियों में उनका स्थान सर्वप्रथम है।



९

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन्म

सं० १९६५

श्री रामधारीसिंह अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा, हिन्दी-जगत् में अपने 'दिनकर' उपनाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सं० १९६५, आश्विन में, बिहार के मुँगेर जिलान्तर्गत सिमरिया घाट नामक ग्राम में हुआ था। जन-श्रुति के अनुसार यह वही स्थान है

जीवन-परिचय जहाँ गंगाजी की वह धारा पुनः आकर मिली है जो मैथिल-कोकिल विद्यापति की मृत्यु के समय उनके पास गयी बतायी जाती है।

दिनकर की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। प्रायमरी तथा मिडिल की परीक्षाएँ पास करने के पश्चात् उन्होंने मोकामा घाट के एच० ई० स्कूल में चार वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की और वहीं से मैट्रीकुलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात् उन्होंने पटना में रहकर सन् १९३० में एफ़० ए० और सन् १९३२ में पटना-विश्वविद्यालय से इतिहास लेकर

'आनर्स' के साथ बी० ए० पास किया।

दिनकर का विद्यार्थी-जीवन अत्यन्त सफल रहा। वह बचपन से ही अध्यवसायी, परिश्रमी और विद्यानुरागी थे। वह चार वर्ष तक बराबर प्रतिदिन अपने गाँव—सिमरिया घाट—से मोकामा घाट के विद्यालय में पढ़ने के लिये जाते रहे, पर कभी मार्ग की थकान का उन्हें अनुभव नहीं हुआ। गर्मी में बालू की रेती और वर्षा की ऋतु में गंगा की बाढ़—ये दो दृश्य उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। गंगा के किनारे के झाऊ और काँस के साथ भी वह अपनापा अनुभव करते थे। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही वह प्रकृति प्रेमी हो गये थे। काव्य-रचना की ओर उनकी तभी से अभिरुचि हुई। मिडिल पास करने से बाद ही उन्होंने कई देहाती गीतों की रचना की। उस समय जबलपुर से 'छात्र-सहोदर' नाम का एक पत्र निकलता था। इसमें प्रकाशित रचनाओं का भी दिनकर के प्रारम्भिक काव्य-जीवन पर प्रभाव पड़ा। मोकामा घाट के विद्यालय में पढ़ते समय उन्होंने पं० रामनरेश त्रिपाठी की रचना 'पथिक' तथा गुप्तजी की 'भारतभारती' भी पढ़ी। इन दोनों रचनाओं का भी उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसी समय सन् १९२१ का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी उन पर अपना पूरा प्रभाव डाला। एक स्थान पर वह स्वयं लिखते हैं—"मेरी आज की भावनाओं का मूल 'पथिक', 'भारतभारती', 'छात्र-सहोदर' में प्रकाशित राष्ट्रीय कविताओं और सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में है।"

आरम्भ में दिनकर ने पथिक, जयद्रथ-वध तथा मेघनाद के अनुकरण पर कई रचनाएँ कीं, पर दो-तीन सर्ग के पश्चात् उनका काम आगे नहीं बढ़ा। मैट्रीकुलेशन पास करने के पश्चात् कदाचित् १९२९ में उनका एक काव्य-ग्रन्थ 'प्रण-भङ्ग' प्रकाशित हुआ। इसके बाद उनका दूसरा काव्य-संग्रह 'रेणुका' नाम से निकला। काव्य-रसिक जनता ने इस काव्य-संग्रह का अच्छा स्वागत किया। उनकी कविताओं का तीसरा संग्रह सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ। इन कविता-संग्रहों से हिन्दी-जगत् में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली और वह राष्ट्र-कवि के रूप में हमारे सामने आये।

दिनकर का साहित्यिक जीवन बड़ा सफल रहा है। सन् १९३५ में वह बिहार-प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के कवि सम्मेलन के अवसर पर उसके सभापति चुने गये। उनकी 'हिमालय' शीर्षक कविता पर बनैली ने कुमार कृष्णसिंह ने उन्हें एक स्वर्ण-पदक देकर उनका सम्मान किया। उनकी एक दूसरी कविता 'नयी दिल्ली' भी बहुत पसन्द की गयी। 'हिमालय' और 'नई दिल्ली'—दोनों कविताओं का गुजराती भाषा में गुजराती के प्रसिद्ध कवि मेघाणीजी ने अनुवाद किया। हिन्दी जगत् में उनके महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' से उनको विशेष सम्मान मिला है।

दिनकर को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष प्रेम है। उनकी रचनाओं पर इन विषयों की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। वह विचार-प्रिय कवि हैं। वह प्रत्येक रचना में विचार खोजते हैं। उन्हें वह लेख बहुत ही भला लगता है जिसमें विचारों का प्राचुर्य और कुछ देने की आतुरता होती है। उनके काव्य-जीवन के आदर्श तुलसी और राजनीतिक जीवन से आदर्श बापू हैं। इन दोनों महान् आत्माओं ने उन्हें बड़ी विचार-शक्ति प्रदान की है। गांधीजी के जीवन पर विचार करते हुए उन्होंने यह सत्य प्राप्त किया है कि मनुष्य देवता से भी बढ़कर हो सकता है।

दिनकर बड़े सरल और उदार साहित्यकार हैं। उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। वह हिन्दी के तरुण राष्ट्र-कवि हैं। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी और बंगला का उन्हें अच्छा ज्ञान है। इन भाषाओं की कविता का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। इससे उनकी प्रतिभा को यथेष्ट बल मिला है। इस समय वह भारतीय संसद के सदस्य हैं।

दिनकर हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। उनकी रचनाओं का हिन्दी साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी जीवनी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें काव्य रचना का प्रादुर्भाव विद्यार्थी-जीवन से ही हो गया था। अतः ज्यों-ज्यों उनके विचारों तथा भावों में प्रौढ़ता आती गई, त्यों-त्यों उनकी रचना शक्तिशाली, प्रखर और परिपक्व होती गयी। इस समय तक की उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—

दिनकरजी की रचनाएँ

(१) काव्य संग्रह—रेणुका (१९३५), हुँकार (१९३९), रसवन्ती (1940), द्वन्द्वगीत (१९४०), धूप-छाँह, सामधेनी बापू, मगध महिमा, एकायन, इतिहास के आँसू, धूप और धुआँ।

(२) महाकाव्य—कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी।

(३) आलोचना—मिट्टी की ओर।

(४) बाल-साहित्य—चित्तौड़ की साका, मिर्च का मजा।

दिनकरजी की सभी रचनाएँ उदयाचल, पटना से प्रकाशित होती हैं। वह अपनी पुस्तकों का स्वयं प्रकाशन करते हैं।

दिनकर की काव्य-प्रवृत्तियाँ,

दिनकर की उपर्युक्त कृतियों के अध्ययन से उनकी काव्य-प्रवृत्तियों का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। वह मुख्यतः राष्ट्रीय भावना के कवि हैं। राष्ट्रीय भावना के अन्तर्गत् जिन-जिन प्रवृत्तियों का समावेश हो सकता है उन्हीं का सम्मिलित रूप हमें दिनकर की रचनाओं में मिलता है। एक ओर वह अपने अतीत से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर वह अपने वर्त्तमान से उद्वेलित। अतीत और वर्त्तमान—दोनों के सम्मिलित प्रभावों में ही उनकी कवित्व शक्ति का विकास हुआ है। यहाँ हम उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) अतीत की प्रवृत्ति—दिनकर में अतीत के प्रति बड़ा मोह है। वह अपने देश के अतीत वैभव से प्रतिक्षण प्रभावित होते रहते हैं। उसके प्रति उनका इतना सबल और स्वाभाविक आकर्षण है कि वह उनके कवि-हृदय को निरंतर स्पंदित और उद्वेलित करता रहता है। ऐसी स्थिति में कवि मौन नहीं रह सकता। उसके कंठ से वाणी फूट पड़ती है। दिनकर ने अतीत गरिमा के बड़े सुन्दर चित्र उतारे हैं। महापुरुषों में राम, घनश्याम, अशोक, चन्द्रगुप्त तथा विद्यापति और ऐतिहासिक स्थलों में मिथिला, वैशाली, नालंदा तथा दिल्ली उनके काव्य के विशेष आकर्षण रहे हैं। इन व्यक्तियों तथा स्थानों ने उनके हृदय को बार बार आन्दोलित किया है। अपनी वर्तमान अधोगति को विस्मरण करके जब उन्होंने अपने अतीत गौरव की कल्पना की है तब उनका हृदय एक साथ ओज, उल्लास

और उत्साह से परिपूर्ण हो गया है। उस समय वह अपने में इतने तन्मय हो गये हैं कि उन्हें वर्त्तमान की अपेक्षा अतीत की सुखद स्मृति में ही रहना अच्छा लगता है। वह कहते हैं—

देवि ! दुखद है वर्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
कहीं सुखद इससे सस्मृति में है अतीत की रत रहना॥

दिनकर की अतीत-प्रियता में भारतीय हृदय का स्वर गूँजता हुआ सुनायी देता है। वह अतीत के अत्यन्त सफल गायक हैं। दिल्ली, पाटलिपुत्र, सांची, सारनाथ, नालंदा, वैशाली आदि हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रधान केन्द्रों से उन्हें जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिली है वही उनके काव्य का प्राण है। इसलिये उनके काव्य में उनका ही नहीं, हमारा हृदय भी बोलता है। उनकी सूझ-बूझ हमारी सूझ-बूझ है; उनकी विचारधारा हमारी विचारधारा है; उनका हृदय हमारा हृदय है। दिनकर को अपने काव्य में आरम्भ से ही जो सफलता मिली है उसका यही मुख्य कारण है।

दिनकर के अतीत-चित्रण में एक विशेषता और है और वह यह कि उन्होंने अतीत के आधार पर वर्तमान का सिंहावलोकन किया है। उनका 'हिमालय' पढ़िये। आपको उस छोटे से काव्य में अतीत गरिमा के साथ-साथ वर्तमान की स्पष्ट झाँकियाँ देखने को मिलेंगी। हमारे पहाड़ों और हमारी नदियों में हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास है। इस अतीत कालीन इतिहास को दिनकर-ऐसे कवि ही पढ़ और समझ सकते हैं।

अतीत का वैभव कवि को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करता है। चन्द्रगुप्त, राणा प्रताप, शिवाजी तथा ऐसे ही वीरों की स्मृतियाँ उसे ओजपूर्ण भावनाओं से भर देती हैं और उसे वीर रस-प्रधान रचना के लिये अनुप्राणित करती हैं। इसी प्रकार विदेशी आक्रमणों, अत्याचारों तथा विश्वासघातों की स्मृतियाँ उसमें क्षोभ और घृणा का संचार करती हैं। ऐसी दशा में कभी उसमें करुण रस का उद्रेक होता है और कभी शान्त का। दिनकर के काव्य में ऐसी सभी परिस्थितियों का सफल

चित्रण मिलता है। वह अपने अतीत से भली-भाँति परिचित हैं। रामायण, महाभारत उपनिषद्, इतिहास और साहित्य से उन्होंने भरपूर प्रेरणा ग्रहण की है। उनके अतीत-चित्रण पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता का स्पष्ट प्रभाव है। वह उसमें डूबे हुए हैं, निमग्न हैं। इतना होते हुए भी उनके अतीत-चित्रों में तन्मयता का किंचित अभाव-सा है। अतीत का सांगोपांग चित्र उनके काव्य में नहीं है। उनके चित्र तीव्र गति से बदलते रहते हैं। एक चित्र पर दृष्टि टिकी नहीं कि दूसरा सामने आ जाता है। इससे पाठकों को उनका रस लेने के लिये कुछ आयास करना पड़ता है। पर इस दोष का परिहार उन चित्रों के अन्तःसाम्य से हो जाता है। उनमें अन्तःसाम्य के कारण एक ही रूप-रंग की भाव-प्रतिमाएँ सजीव होकर हमारे सामने आती हैं और हमारे हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ती रहती हैं।

(२) क्रान्ति की प्रवृत्ति—दिनकर के काव्य में दूसरी प्रवृत्ति है क्रान्ति की। दिनकर क्रान्ति के उपासक हैं। देश की वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के गम्भीर अध्ययन का जो प्रभाव उनके हृदय और मस्तिष्क पर पड़ा है उससे वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि क्रान्ति ही देश को सब बाधाओं और कठिनाइयों से मुक्त कर सकती है। इसलिये वह बार-बार अपनी रचनाओं में क्रान्ति का आवाहन करते हैं। अतीत की सुखद स्मृतियों और वर्तमान की दुखद परिस्थितियों में उन्होंने क्रान्ति का ही स्वप्न देखा है और उसी स्वप्न में उनके उद्विग्न हृदय को सान्त्वना मिली है। उन्होंने क्रान्ति को युग का देवता मानकर उसे आमन्त्रित किया है और उसकी जय-जयकार की है। वह कहते हैं—

जय हो युग के देव पधारो, विकट रुद्र, हे अभिमानी।
मुक्त केशिनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी॥
जय विधायिके अमर क्रान्ति की! अरुण देश की रानी!
रक्त कुसुम धारिणि, जगतारिणी, जय नवशिखे भवानी!!

दिनकर पहले अतीत की गौरवपूर्ण पृष्ठ-भूमि पर वर्तमान की दुखद परिस्थितियों का चित्रण करके हमारी सुपुप्त भावनाओं को स्पंदित एवं

अनुप्राणित करते हैं और फिर हमें क्रान्ति करने के लिये निमन्त्रण देते हैं। इस प्रकार उनकी क्रान्ति-भावना कोरी कल्पना नहीं; वास्तविक है। उसमें उनके हृदय का वेग है, उनके मस्तिष्क की सूझ-बूझ है। 'रेणुका' का अतीत-प्रिय कवि 'हुँकार' में वर्तमान का कवि हो गया है। वर्तमान की संघर्षमय परिस्थितियों में तीन प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाएँ जन्म लेती हैं—(१) तटस्थता-मूलक आनन्दवाद, (२) पराधीनता-मूलक भाग्यवाद और (३) संघर्ष-मूलक कर्मवाद। साहित्य में तटस्थता-मूलक आनन्दवाद की सृष्टि तब होती है जब कवि वर्तमान संघर्षों से ऊब कर कल्पित आनन्द लोक में विहार करने लगता है। छायावाद और रहस्यवाद इसी प्रवृत्ति की सन्तानें हैं। महादेवी वर्मा और पन्त में इसी प्रकार की प्रवृत्ति है। पराधीनता-मूलक भाग्यवाद का उदय निराशावाद से होता है। वर्तमान संघर्षों से जूझने के पश्चात् जब मानव श्रीहीन हो जाता है तब वह भाग्यवादी बन जाता है। सन्तुष्ट भाग्यवादी आस्तिक और असन्तुष्ट भाग्यवादी नास्तिक हो जाता है। साहित्य में कवि की इस प्रकार की प्रवृत्ति निराशावाद, नग्न यथार्थवाद अथवा भोगवाद को जन्म देती है। दिनकर में न तो तटस्थता-मूलक आनन्दवाद की प्रधानता है और न पराधीनता-मूलक भाग्यवाद का प्राबल्य। 'रसवन्ती' में उनकी तटस्थता-मूलक आनन्दवाद की प्रवृत्ति अवश्य देखने को मिलती है, पर वह है अपने गौण रूप में। इसी प्रकार पराधीनता-मूलक भाग्यवाद भी उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिलता है। 'हुँकार' में उनकी प्रवृत्ति का वास्तविक रूप है कर्मवाद। यही कर्मवाद उनकी रचनाओं का लक्ष्य है। उनमें जो क्रान्ति-भावना है उसके मूल में उनका कर्मवाद ही लक्षित होता है। कर्मवाद ही क्रान्ति का जनक है। क्रान्ति के लिये यथार्थ चित्रण की आवश्यकता है। दिनकर ने अपने काव्य में वर्तमान जीवन के बड़े मार्मिक चित्र उतारे हैं। शोषित और शोषक, पूँजीपति और मजदूर, अमीर और गरीब, भूस्वामी और किसान, महल और झोंपड़ी—सबने उनको प्रभावित किया है। उन्होंने आँखें खोलकर अपने आस-पास की दुनिया देखी है और उसका यथार्थ चित्रण किया है। उनके ऐसे चित्रण में इतनी वेदना, इतनी टीस और

इतनी कसक है कि पाठक के हृदय पर उसका स्थायी प्रभाव पड़ता है और वह उनके साथ क्रान्ति का समर्थक बन जाता है। पर यह क्रान्ति रूसी जन-क्रान्ति नहीं है। रूसी क्रान्ति रक्तपात पर आधारित है। दिनकर ने अपनी क्रान्ति-भावना में न तो गांधीजी के अहिंसावाद को अपनाया है और न रक्तपात को ही प्रश्रय दिया है। क्रान्ति के लिये वह क्रान्ति-देवता भगवान् शंकर से याचना करते हैं। भगवान् शंकर संहारक हैं, पालक हैं, कला-प्रिय हैं। अपने संहारक रूप में वह प्रलयङ्कर शंकर हैं। वह अपनी प्राकृतिक शक्तियों द्वारा एक क्षण में प्रलय करके नयी सृष्टि का विधान कर सकते हैं। 'तांडव' में पूँजीवादी सत्ता के विनाश की जो कामना की गयी है वह न तो घृणा पर आधारित है और न रोष पर आश्रित है। उसमें विनाश के पीछे मानव के कल्याण—चिर कल्याण की भावना निहित है। दिनकर विनाश चाहते हैं विकास के लिये, आगे बढ़ने के लिये, उस अवस्था तक पहुँचने के लिये जहाँ शोषक और शोषित नहीं हैं; जहाँ मानव, मानव होकर विचरता और सुख से जीवन व्यतीत करता है। 'विपथगा' भी इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें 'आदिशक्ति' का आवाहन है। 'आदि शक्ति' हैं दुर्गा, काली, चन्डी आदि। देश की वर्तमान दुर्दशा और अत्याचार देखकर ही वे प्रकट हुई हैं। उनका उद्देश्य है पापियों का संहार। 'विपथगा' अपने उद्देश्य में सफल रचना है। इसमें दिनकर की क्रान्ति-भावना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी है। इस प्रकार वह अपनी क्रान्ति में सर्वथा धार्मिक और भारतीय हैं। 'जवानियाँ' में भी क्रान्ति का ही उद्घोष है। तांडव, विपथगा, और जवानियाँ—ये तीनों रचनाएँ भाव, भाषा और कला की दृष्टि से युग का प्रतिनिधित्व करने के साथ-साथ कवि की प्रतिभा की द्योतक हैं। क्रान्तिकारी दिनकर को इन कविताओं की पंक्तियों में अमरत्व प्राप्त हुआ है।

(२) प्रगतिवादी प्रवृत्ति—हम अभी कह आये हैं कि आज हमारा जैसा जीवन है, हमारी जैसी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था है, उसके प्रति दिनकर का गहरा असन्तोष है। वह पूँजीवादी सत्ता के घोर विरोधी

हैं और उसका उन्मूलन चाहते हैं। साहित्य में इस प्रकार की विचार-धारा का नाम प्रगतिवाद है। इसके तीन रूप हैं। इसका एक रूप हमें मार्क्सवादी साहित्य में मिलता है। यह उसका साम्प्रदायिक रूप है। अपने साम्प्रदायिक रूप में प्रगतिवाद भौतिक जड़-दर्शन पर आधारित रहता है। एक प्रकार से भौतिक संघर्ष अथवा आर्थिक वैषम्य ही मार्क्सवादी साहित्य का जनक है। ऐसे साहित्य में पूँजीपतियों के प्रति घृणा और रोष का प्रचार करके क्रान्ति का—रक्तपातपूर्ण क्रान्ति का—उद्घोष होता है। दूसरे प्रकार का प्रगतिवाद सामाजिक वैषम्य के प्रति विद्रोह के रूप में मिलता है। यह उसका सनातन रूप है। दिनकर का प्रगतिवाद इन दोनों रूपों से मेल नहीं खाता। उनका प्रगतिवाद समन्वयवाद पर आश्रित है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय—दोनों प्रकार की भावनाओं के समन्वय में ही उनके प्रगतिवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ है। वह अपने देश का ही नहीं, विश्व का कल्याण चाहते हैं। अपने देश को उन्नत रूप देने के लिये वह अन्य देशों की अवहेलना नहीं करते, उन्हें नीचे नहीं गिराते, उनका अपमान नहीं करते, उनको श्री-हीन नहीं बनाते। वह विश्व की उन्नति के साथ-साथ अपनी भी उन्नति चाहते हैं। यही है प्रगतिवाद का स्वस्थ रूप जिसे दिनकर ने अपनाया है और उन साहित्यकारों और कवियों की अच्छी तरह भर्त्सना की है जो विश्व-प्रेम-प्रदर्शन के बहाने रूस के समर्थक और प्रगतिवाद के साम्प्रदायिक रूप के पोषक होते जा रहे हैं। ऐसे साहित्य-कार न तो विश्व का कल्याण कर सकते हैं और न अपने राष्ट्र को ही उन्नत रूप दे सकते हैं।

अब तक हमने दिनकर की जिन प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख किया है वे सब उनकी राष्ट्रप्रियता के अन्तर्गत आजाती हैं। वास्तव में उनकी उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियाँ उनके राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के तीन रूप हैं। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्रवादी दिनकर के वास्तविक रूप को समझने के लिये हमें इनके इन तीनों रूपों पर विचार करना चाहिये। हिन्दी काव्य में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त के पश्चात् दिनकर ने ही हमारी राष्ट्रीय भावनाओं का सफलतापूर्वक अंकन किया है।

दिनकर ने जिन प्रवृत्तियों पर अपने काव्य को आधारित किया है उनके अध्ययन के पश्चात् अब हमें उनकी काव्य-साधना पर विचार करना है। उनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने दो प्रकार के काव्य लिखे हैं—(१) मुक्तक और (२) प्रबन्ध काव्य।

दिनकर की काव्य-साधना

उनके मुक्तक काव्यों में रेणुका, हुँकार, रसवन्ती, द्वन्द्व-गीत, सामधेनी आदि का प्रमुख स्थान है। इन काव्य-सग्रहों में उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। रेणुका में उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ हैं। इन कृतियों में भारत के अतीत को वाणी मिली है। 'हुँकार' में वर्तमान जीवन के संघर्ष का यथार्थ चित्रण है। ऐसा लगता है कि 'रेणुका' में अतीत के सुनहले स्वप्नों को देखते-देखते 'हुँकार' में वह सहसा जाग उठा है और अपने आस-पास के अत्याचारों को देखकर क्रान्ति के गीत गाने लगा है। हिमालय, दिल्ली, हाहाकार, विपथगा आदि इस काव्य-संग्रह की अमर रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में हम दिनकर की काव्यात्मा का अच्छा विकास पाते हैं। द्वन्द्वगीत में उनके दार्शनिक विचार हैं। 'रेणुका' और 'हुँकार' में उनकी जो प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी द्वन्द्वगीत में वह अन्तर्मुखी हो गयी है। 'रसवन्ती' शृंगार-रस की कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं में दिनकर की कोमल कल्पनाओं को अच्छा स्थान मिला है। उद्दीपन प्रकृति के चित्रण में भी उन्हें पूरी सफलता मिली है—

उलर रही मंजरी काँस की, हवा झूमती जाती है।
राशि-राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है॥

पुरुष और नारी के प्रथम मिलन की प्रभा इन पंक्तियों में देखिये—

तुम नई किरण-सी लगीं, मुझे सहसा अभाव का ध्यान हुआ।
जिस दिन देखा यह हरित स्रोत, अपने ऊसर का ज्ञान हुआ॥

'मानवती' में कवि का प्रणय-निवेदन देखिये—

रानी आधी रात गयी है, घर में बन्द, दीप जलता है।
ऐसे समय रूठना प्यारी का प्रिय के मन को खलता है॥

दिनकर में जहाँ देश की दुर्दशा के प्रति क्रान्ति की भावना है वहाँ प्रेमी

हृदय की कसक और बेचैनी भी है। 'रसवन्ती' उनकी ऐसी रचनाओं से अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-संग्रह हो गया है। 'धूप छाँह' में साधारण रचनाएँ हैं जिनमें से केवल छः ही मौलिक हैं। 'सामधेनी' भी साधारण कविताओं का संग्रह है। इसमें सन् १९४१ से सन् १९४६ तक की रचनाओं का संकलन है। जिन कविताओं में देश की तत्कालीन परिस्थितियों का अंकन हुआ है उनमें दिनकर को अच्छी सफलता मिली है। 'बापू' दिनकर की उत्कृष्ट रचना है। इस काव्य में बापू के चरित्र की अच्छी झाँकियाँ मिलती हैं। इस प्रकार अपनी मुक्तक रचनाओं में दिनकर ने अपनी एक विचारधारा को स्थायी रूप दिया है।

दिनकर ने दो महाकाव्य भी लिखे हैं—कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी। इन दोनों महाकाव्यों के कथानकों का आधार है महाभारत। 'कुरुक्षेत्र' की कथा प्राचीन होते हुए भी वर्तमान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इस महाकाव्य में वर्तमान युग की कई समस्याओं पर विचार किया गया है और उनका हल निकाला गया है। युद्ध का उत्तरदायित्व किस पर है—शोषक पर अथवा शोषित पर? कला और विज्ञान की उन्नति होने पर भी मनुष्य दुःखी क्यों हैं? आज का व्यक्ति अशान्त और त्रस्त क्यों है? महायुद्ध क्या हो रहे हैं? वर्तमान जीवन शङ्का, भय और संघर्ष से क्यों अव्यवस्थित हो रहा है?—कुरुक्षेत्र इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देता है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र हमारे वर्तमान जीवन के अति निकट है। इसमें दिनकर युद्ध की मीमांसा आज की देश-काल-पात्र की परिस्थिति में रहकर करते हैं। वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग कुरुक्षेत्र की प्रबन्धात्मकता के लिये नहीं उठाते, वह उठाते हैं उसे अपनी भावधारा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिये। वह कुरुक्षेत्र में हमें वर्तमान राजनीति की शिक्षा देते हैं, वह अपने अधिकारों के लिये मर मिटने की बात बताते हैं, वह हमें हमारे कर्त्तव्यों का पाठ पढ़ाते हैं। अपने अधिकारों को प्राप्त करने तथा अत्याचारों को रोकने के लिये वह कहते हैं—

किसने कहा—पाप है समुचित स्वत्व प्राप्तिहित लड़ना,
उठा न्याय का खड्ग समर में, अभय मारना मरना।

कुरुक्षेत्र में दिनकर का यही सार-स्वर है। जहाँ अहिंसा विफल होती है, वहाँ तप का प्रभाव नहीं पड़ता; जहाँ क्षमा का मूल्य आँका नहीं जाता, वहाँ युद्ध करना अनिवार्य है। दुर्बल, पराजित और शोषित जाति के लिये क्षमा और अहिंसा कलंक हैं। जिसको प्रहार करना नहीं आता, जो चोट करना नहीं जानता उसकी क्षमा का मूल्य ही क्या हो सकता है? क्षमाशील होने के पहले वीर होना चाहिये। स्पष्ट है कि दिनकर ने गांधीवाद की अहिंसा को सोलहों आना नहीं अपनाया है। देश की तत्कालीन परिस्थिति में अहिंसावाद पर उनकी आस्था नहीं है। वह युद्ध चाहते हैं। युद्ध का उत्तरदायी है कौन? वह जो कुचक्रों की सृष्टि करता है अथवा वह जो उन कुचक्रों का नाश करता है? कुचक्रों को मिटाने वाला, अपने अधिकारों के लिये अत्याचारों का डटकर सामना करने वाला, युद्ध के लिये उत्तरदायी नहीं है। युद्ध का उत्तरदायी है वह जो दूसरों के अधिकारों को छीनकर अशान्ति की सृष्टि करता है। ऐसे अत्याचारियों का विनाश मंगलमय है। कुरुक्षेत्र में विजयोपरान्त सुव्यवस्था का भी स्वस्थ निर्देशन है। दिनकर का साम्यवाद इन पंक्तियों में देखिए—

धर्मराज यह भूमि किसी की नहीं क्रीत है दासी;
हैं जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी।

× × ×

पृथिवी हो साम्राज्य स्नेह का, जीवन स्निग्ध सरल हो;
मनुज प्रकृति से विदा सदा को दाहक द्वेष-गरल हो।
बहे प्रेम की धार, मनुज को वह अनवरत भिगोये;
एक दूसरे के उर में नर बीज प्रेम का बोये।

'रश्मिरथी' कर्ण-गाथा की परम्परा में दिनकर का नवीनतम प्रबन्ध-काव्य है। इसमें उन्होंने कर्ण की कथा से आधुनिक सामाजिक समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझाने का प्रयास किया है। हमारे समाज में जो निम्नतम वर्ग के लोग हैं, जिनकी वाणी अवरुद्ध है, जो गिरे हुए और अछूत माने जाते हैं, जो सांस्कृतिक दृष्टि से अनाथ समझे जाते हैं, कर्ण उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार 'रश्मिरथी' एक वीर पुरुष की यश-गाथा है।

इस वैयक्तिक यश-गाथा में दिनकर को वह सफलता नहीं मिली जो उन्हें 'कुरुक्षेत्र' में प्राप्त हुई है। 'रश्मिरथी' के कर्ण अतुल शौर्य-सम्पन्न योद्धा हैं। इसलिये वह भारत के दलित वर्ग का—जो सांस्कृतिक दृष्टि से गिरा हुआ माना जाता है, पूरी तरह प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। 'कुरुक्षेत्र' एक राजनीतिक परिस्थिति की काव्य-गाथा है। ऐसी गाथा दिनकर की काव्य-प्रतिभा के सर्वथा अनुकूल है। यही कारण है कि 'रश्मिरथी' में उनकी रुचि सामाजिक दृष्टिकोण से हटकर वैयक्तिक वीर-पूजा की ओर अधिक चली गयी है। काव्य-शैली और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह प्रबन्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' की समता में नहीं आता। इसमें विचार-प्रवाह की अपेक्षा कथा-प्रवाह अधिक है। अभिधा का आश्रय लेने से काव्य-सौष्ठव भी शिथिल हो गया है।

हमने उपर्युक्त पंक्तियों में दिनकर की काव्य-प्रतिभा की संक्षिप्त आलोचना की है। उसमें उत्कृष्ट काव्य के सभी हेतु और लक्षण हैं। उसमें काव्य-निपुणता और अभ्यास भी है। संस्कृत, बंगला तथा अँग्रेजी के प्रमुख काव्य-साहित्य के अध्ययन एवं परिशीलन से उनकी प्रतिभा चमक उठी है। हम बता चुके हैं कि उनका समस्त काव्य दो प्रकार का है—मुक्तक और प्रबन्ध। उनके मुक्तक-काव्य की चार शैलियाँ हैं—(१) वृत्तात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) भावात्मक और (४) गेयात्मक। उनकी वृत्तात्मक कविताओं के अन्तर्गत 'बापू', 'कलिंग-विजय', 'जयप्रकाश' आदि का प्रमुख स्थान है। इन कविताओं में ऐतिहासिक वृत्त अथवा किसी विशेष घटना का सजीव चित्रण मिलता है। वर्णनात्मक रचनाओं में प्राकृतिक दृश्य, स्थान अथवा देश-दशा का सीधा वर्णन रहता है। भावात्मक रचनाएँ ही दिनकर की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। ऐसी रचनाओं में उनकी काव्य-प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। इनके अन्तर्गत विपथगा, साथी, हाहाकार, हिमालय आदि का विशेष स्थान है। इनमें प्रेम, उत्साह, करुणा, सहानुभूति और क्रान्ति की भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं। गेयात्मक रचनाओं में दिनकर को विशेष सफलता नहीं मिली है। 'रसवन्ती' में उनकी जो गेयात्मक रचनाएँ

संग्रहीत हैं उनमें सरसता तो है, पर तन्मयता का अभाव है। रीति-काव्य के लिये जैसी अनुभूति, विदग्धता, विह्वलता और तन्मयता अपेक्षित है वह दिनकर में नहीं है। दिनकर बहिर्मुखी कवि हैं। गीति-काव्य अन्त-र्मुखी होता है। इसलिये दिनकर के काव्य में उच्चकोटि के गीतों का सर्वथा अभाव है।

दिनकर की काव्यात्मा पर देश की संकटापन्न परिस्थितियों का वेग-पूर्ण प्रभाव है। अपने इस प्रभाव के कारण ही उन्होंने अपने गौरवमय अतीत का कोना-कोना झाँका है और उसकी तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता से प्रेरणा ग्रहण की है। उनकी नस-नस में, उनके रोम-रोम में, अतीत-कालीन भारतीय वैभव का स्वर भरा है जो वर्तमान की आकुलता-व्याकुलता सहसा में फूट पड़ा है। रामायण और महाभारत काल से गांधी युग तक की ऐतिहासिक परम्परा के अनेक चित्रों को उनके काव्य में स्थान मिला है। वह आकाश में विहार करने वाली कोरी कल्पना के कवि नहीं हैं। वह धरती के गीत गाते हैं—उस धरती के जिस पर मानव रहता है और दुःख-सुख सहता है। इस प्रकार दिनकर हमारे जीवन के कवि हैं; हमारे सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय और सफलता-विफलता के कवि हैं।

दिनकर ने अपने प्रारम्भिक जीवन के साथ प्रकृति का जो सम्बन्ध स्थापित किया था वह देश की वर्तमान संघर्षमय परिस्थितियों में पड़कर घनीभूत नहीं हो सका, फिर भी अवसर के अनुकूल जहाँ-कहीं भी उन्हें अपनी उस प्रकृति-भावना को जागरित करने का अवसर मिला है वहाँ उन्होंने उसके प्रति अपना पूर्वानुराग प्रदर्शित किया है। उनके काव्य में प्रकृति के कई रूप मिलते हैं। प्रकृति के सुन्दर रूपों को देखने से मानस पटल पर जो चित्र सहज ही अङ्कित हो जाते हैं उनमें प्रकृति का उत्फुल्ल रूप देखने को मिलता है। 'वन-फूलों की ओर' में प्रकृति के ऐसे ही आकर्षक चित्र हैं। ऐसी रचनाओं में प्रकृति के जो व्यापार हमारे सामने आते हैं उनका ज्यों-का-त्यों वर्णन करना ही अपेक्षित होता है। प्रकृति का मानवी रूप-चित्रण तब होता है जब उसके व्यापारों में

नारीत्व की प्रतिष्ठा की जा सकती है। ऐसे चित्रण प्रधानतः प्रणय-भावना के परिचायक होते हैं। दिनकर ने ऊषा, गंगा, रजनी, सन्ध्या आदि के ऐसे ही बड़े सफल और आकर्षक चित्र उतारे हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति का विराट भव्यरूप भी उनकी रचनाओं में मिलता है। प्रकृति के ऐसे रूपों की सृष्टि तब होती है जब कवि प्रकृति के स्पन्दन में निसीम अनन्त की कल्पना करता है। रहस्यवादी काव्य की यही पृष्ठभूमि है। दिनकर में रहस्यवाद की प्रेरणा नहीं है, इसलिए उनके काव्य में ऐसे चित्रों का समावेश एक उचित सीमा तक ही हुआ है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण करके जब कवि अपने घटनाप्रसंग का विस्तार करता है तब प्रकृति का पृष्ठाधार रूप सामने आता है। 'सामधेनी' में ऐसे कई चित्र बड़ी सफलतापूर्वक चित्रित किये गये हैं। प्राकृतिक व्यापारों पर जब अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का आरोप किया जाता है तब उसका जो रूप हमारे सामने आता है उसे हम प्रकृति का भावना-रोपित रूप कहते हैं। चाँदनी रात सबको प्रिय है, पर वही वियोगिनी के लिये घातक है। दिनकर के काव्य में ऐसे कई चित्र हैं। प्रकृति का आलंकारिक रूप वर्णन करने में भी दिनकर ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। इस प्रकार के वर्णन में उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसे कई चित्र हैं।

दिनकर के काव्य में रस-योजना भी बड़ी सफल हुई है। उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में वीर, रौद्र और करुण रसों की प्रधानता है। 'रेणुका', 'हुँकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'रश्मिरथी' में इन रसों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। रसवंती में शृंगार रस की बड़ी सुन्दर व्यंजना मिलती है। 'जवानियाँ' में अद्भुत रस का अच्छा परिपाक हुआ है। 'कलिंग-विजय' में युद्ध के पश्चात् शांत रस की निर्मल धारा प्रवाहित होती हुई दिखायी देती है। इन रसों के साथ-साथ ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों को भी अवसर के अनुकूल उनकी रचनाओं में स्थान मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर अपने काव्य में अत्यन्त सफल

हैं। उनकी प्रतिभा इतिवृत्तात्मक है। अतीत के चित्रण और वर्तमान की परिस्थितियों के अंकन में उनकी काव्य-प्रतिभा का जैसा सुन्दर और स्वस्थ विकास हुआ है वैसा उनके समकालीन कवियों में नहीं मिलता। भाषा, भाव, रस और अलंकार, प्रत्येक दृष्टि से वह एक सिद्ध कलाकार हैं। उनकी लेखनी में बल और जादू है। अपने युग की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं और कामनाओं का सफल चित्रण करने वालों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है। वह अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

दिनकर की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। वह अपनी भाषा में अधिकांश संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक करते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त पुष्ट और भावानुकूल होता है। इसलिये

दिनकर की भाषा

भावों की शिथिलता उनकी भाषा में कहीं नहीं पायी जाती। उनकी भाषा उनके विचारों का पूर्णरूप से समर्थन करती है। उनका प्रत्येक शब्द उनके विचारों का सच्चा वाहक, प्रतीक और प्रतिनिधि होता है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी उनकी रचना में नहीं है। खड़ीबोली के कवियों में प्रायः व्याकरण की अशुद्धियाँ मिलती हैं। दिनकर की भाषा इस दोष से मुक्त है। उन्होंने अपनी भाषा पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। भावों के अनुरूप ही उन्होंने अपनी भाषा का शृंगार किया है। प्रसाद गुण और ओज से उनकी भाषा में विशेष आकर्षण आगया है। शाब्दिक चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना उनमें नहीं है। इन विशेषताओं के साथ उनकी भाषा में कुछ दोष भी हैं। संस्कृत के तत्सम् शब्दों के साथ फारसी-शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं खटकता है। खूँ, इन्सान, तकदीर, हिम्मत, क़ब्र, पैमाना, गम, जवाँ, शायद, क़दम, शाम, सुबह, निशान, ज़िंदगी, चिराग, अरमान, आरज़ू, लाशें, आदमी, ज़ुल्मी, फौज आदि फारसी के तत्सम् शब्दों के प्रयोग से कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति में सहायता अवश्य मिली है, पर कहीं-कहीं उनके भाव-उद्दीपन तथा भाषा-प्रवाह में बाधाएँ भी आई हैं। एक पंक्ति देखिए—

जवाँ बन्द, बहती न आँख, गम खा, शायद आँसू पीते हैं।

यहाँ 'शायद' शब्द का प्रयोग करके दिनकर ने अपनी संदिग्ध भावना का परिचय दिया है। इससे किसानों की दरिद्रता का जो स्पष्ट चित्र सामने आना चाहिए था वह नहीं आ पाया। 'बहती न आँख' भी उनके मौन रुदन का सच्चा वाहक नहीं है। दिनकर ने मुहावरों का भी प्रयोग खुलकर किया है, पर कहीं-कहीं धोखा भी खा गये हैं। इन पंक्तियों में देखिये—

गूँज रही संस्कृत मंडप में भीषण फणियों की फुफकारें।

× × ×

'जल ही जल' जन-जन रहते हैं कण्ठ-कण्ठ में प्यास लगी है।

फुफकारें, गूँजना और कण्ठ में प्यास लगना मुहावरे नहीं हैं। मुहावरों के ऐसे विकृत प्रयोगों से रस-निष्पत्ति तथा भावाभिव्यक्ति में शिथिलता आ जाती है। एक बिहारीपन का भी नमूना लीजिए—

वसन कहाँ ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

'दोनों शाम' ठेठ बिहारी मुहावरा है। तुक के आग्रह के कारण ही दिनकर ने इस मुहावरे का प्रयोग किया है। विकृत मुहावरों के प्रयोग के अतिरिक्त संस्कृत के अप्रचलित क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भी कहीं-कहीं भाव-प्रकाशन और भाषा-प्रवाह में बाधाएँ उपस्थित हुई हैं। शम्य-पात, वलय, दुरध्व परिणाह, सुरवर्त्म, विल आदि ऐसे ही अप्रचलित क्लिष्ट शब्द हैं जिन्होंने सरस, सरल और प्रसाद गुणयुक्त शब्दों के बीच में आकर रोड़े अटकाये हैं।

भाषा की दृष्टि से दिनकर का गद्य साफ-सुथरा है। युग के अनुकूल हिन्दी गद्य की व्यंजना-शक्ति बढ़ाने के उन्होंने कई मौलिक और सुन्दर प्रयोग किये हैं। चौकोर, व्यक्तित्व, धुंधला उद्गार, मुँह में जीभ देना आदि ऐसे ही नवीन प्रयोग हैं। शब्दों के ये नवीन प्रयोग हमें अजनवी से नहीं लगते। उनमें माधुर्य है, प्रवाह है, भाषा का ऐश्वर्य है। दिनकर सर्वत्र अपनी भाषा लिखते हैं।

भाषा के अनुरूप ही दिनकर की शैली में विशेष अपनत्व है। वह अपनी शैली के स्वयम् निर्माता हैं। वह जो कुछ लिखते हैं, डूबकर

लिखते हैं, तन्मय होकर लिखते हैं। इसलिए उनकी शैली परिमार्जित, प्रौढ़ और प्रवाहमय है। उनमें शब्द-लाघव का अभाव है। थोड़े में अधिक कहना उनकी रुचि के अनुकूल नहीं पड़ता। विस्तार के आग्रह से उनकी शैली में थोड़ा दोष अवश्य आगया है। फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा है वह प्रभावपूर्ण है। अपनी काव्य-रचना में प्रभावोत्पादकता और शैली में चमत्कार लाने के लिये उन्होंने कई युक्तियों से काम लिया है। उन युक्तियों में से कुछ इस प्रकार हैं—

दिनकर की शैली

(१) **आवृत्ति द्वारा शैली में सौन्दर्य**—इस युक्ति द्वारा काव्य में शक्ति, सौन्दर्य और प्रभाव की अभिवृद्धि तथा शैली में चमत्कार की स्थापना की जाती है। इससे भावों का वेग अपेक्षाकृत तीव्रतर हो जाता है और वह पाठक के हृदय पर सीधा चोट करता है। हिन्दी के कई कवियों ने इस युक्ति से अपनी काव्य-रचना में विशेष सफलता प्राप्त की है। आवृत्ति शब्द की भी होती है और पद की भी। दिनकर ने दोनों प्रकार की आवृत्तियों को अपनाकर अपनी शैली को कितना महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बनाया है—इन पंक्तियों में देखिए—

'दूध, दूध' दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ किस घर से।
'दूध, दूध' हे देव गगन के! कुछ बूँदें टपका अँबर से॥

× × ×

स्वर को कराल हुँकार बना देता हूँ।
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।

उपर्युक्त पंक्तियों में गति और लय के साथ-साथ जो प्रभावोत्पादकता है वही काव्य का प्राण और शैली का उत्कर्ष है।

(२) **नादानुकरण द्वारा शैली में सौन्दर्य**—इस युक्ति द्वारा प्रभाव की अभिवृद्धि करने और शैली में चमत्कार लाने के लिये बड़ी सावधानी और सतर्कता से काम लेना पड़ता है। दिनकर अपनी इस युक्ति के प्रयोग में बड़े सतर्क और सफल हैं। झनन-झनन, और झन-झन, 'धधक-धधक', 'छूमन-छनन' आदि अनुकरणमूलक शब्द हैं। इन शब्दों

का स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता, पर जब काव्य में इनका प्रयोग होता है तब इनमें रस आ जाता है और ये अनुप्राणित हो उठते हैं। 'रुनझुन-रुनझुन किसका शिंजन' में नूपुर की झंकार, 'तृणवत् धधक धधक मत जल सखि' में जलती आग की प्रतिध्वनि और 'संहार-लपट के चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन' में घुँघरू की बोलें स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ती हैं। ऐसे अवसरों पर दिनकर ने अपनी शैली में बड़े कलापूर्ण ढंग से 'नाद-सौन्दर्य' की स्थापना की है।

(३) नाटकीय तत्त्वों द्वारा शैली में सौन्दर्य—इस युक्ति द्वारा शैली में सौन्दर्य की स्थापना करने के लिये काव्य में नाटकीय तत्त्वों का समावेश करना आवश्यक होता है। नाटकीय तत्त्वों में अभिनय, दृश्य-परिवर्तन और संवाद ही मुख्य होते हैं। इन तीनों नाटकीय तत्त्वों का समावेश प्रबन्ध काव्यों में बड़ी आसानी से हो जाता है, पर मुक्तक रचनाओं में इनके लिये कम स्थान रहता है। दिनकर ने अपने दोनों प्रकार के काव्यों में इन नाटकीय तत्त्वों को अवसर के अनुकूल स्थान देकर अपनी शैली का शृंगार किया है। अपने मुक्तक काव्यों में उन्होंने सूर्य, चाँद, तारे, पुष्प तथा तितली आदि को वाणी दी है और उनसे संवाद कराया है। इसी प्रकार कहीं-कहीं अमूर्त भावों को मानव-रूप में चित्रिति करके उन्हें अभिनय के योग्य बनाया गया है। विषय के अनुसार वातावरण की सृष्टि और छन्दों का चुनाव करने में जिस योग्यता और कौशल की आवश्यकता होती है वह दिनकर में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(४) लक्षणा द्वारा शैली में सौन्दर्य—शब्दों की तीन शक्तियों में से एक लक्षणा भी है। वाच्यार्थ का बोध होने पर उससे सम्बद्ध एक नवीन अर्थ का बोध जिस शक्ति से होता है उसे लक्षणा कहते हैं। दिनकर ने अपने काव्य में शब्द की इस शक्ति से बड़ी सफलतापूर्वक काम लिया है। रूढ़ि लक्षणा का एक उदाहरण लीजिये—

कह हृदय खोल चित्तौर यहाँ कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ!

यहाँ चित्तौर शब्द चित्तौड़ में रहने वाले व्यक्तियों के लिये आया

है। इसी प्रकार शुद्धा लक्षणा, गौणी लक्षणा, उपादान लक्षणा आदि से भी उन्होंने अपने काव्य और शैली का शृङ्गार किया है। प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप देकर भी उन्होंने अपनी शैली का उत्कर्ष स्थापित किया है। इन सब के उदाहरण उनकी रचनाओं में पर्याप्त हैं।

(५) छन्द-योजना द्वारा शैली में सौन्दर्य—दिनकर ने अपने मुक्तक और प्रबन्ध काव्यों में छन्दों का सफल निर्वाह किया है। उन्होंने विषय के अनुसार छन्दों का समावेश करके अपनी कला का अच्छा परिचय दिया है। शैली में रोचकता, सजीवता और प्रवाह लाने के लिये अवसर के अनुकूल उन्होंने छन्द-परिवर्तन भी किया है। खड़ीबोली की कविता में जितने प्रकार के छन्दों का सफल निर्वाह हो सकता है उन सबका प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है।

(६) अलङ्कार-योजना द्वारा शैली में सौन्दर्य—शैली के उत्कर्ष में *अलङ्कार-योजना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिनकर ने अपनी* रचनाओं में अलङ्कारों का विधान बड़े कौशल से किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, श्लेष आदि अलङ्कार उनकी रचनाओं में स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। आधुनिक युग के कवि रीतिकालीन परम्परा के विरोधी हैं। दिनकर भी उसी कोटि के कवि हैं। उन्होंने अलङ्कारों के प्रदर्शन के लिये अपनी लेखनी नहीं उठायी। इसलिये उनकी रचनाओं में अलङ्कारों का गौण स्थान है। उनके काव्य में अलङ्कार उनकी शैली का महत्त्व स्थापित करते हैं।

अब तक हमने उनकी काव्य-शैली पर ही विचार किया है। उनकी गद्य-शैली भी उनकी काव्य-शैली की भाँति उत्कृष्ट और सफल है। उनके शब्द-चयन के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है। उनका वाक्य-विन्यास भाव और विषय के अनुकूल होता है। वह अपने गद्य में अपने विषय के अनुरूप ही अपनी शैली की रूप-रेखा स्थिर करते हैं। 'मिट्टी की ओर' में उनके जितने निबन्ध हैं उनके अध्ययन से उनकी गद्य-शैली का परिचय मिलता है। इन निबन्धों में उनकी शैली के तीन रूप हैं—आलोचनात्मक,

विवेचनात्मक और काव्यात्मक। गद्य काव्य में उनका एक निबन्ध है। शेष या तो निबन्ध के रूप में हैं, या भाषण के रूप में। उनमें अपने भावों को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये कई स्थलों पर उपमा, रूपक और समासोक्ति से पूरी सहायता ली है। चित्रोपमता उनकी शैली का प्रधान गुण है। उनकी शैली में परुष और कोमल भावों के अनुरूप पदावली का कलात्मक प्रयोग मिलता है। उनके वाक्य कहीं लम्बे और कहीं छोटे होते हैं। छोटे वाक्यों में सार-ग्राहणी-शक्ति होती है। लम्बे वाक्य व्याख्या-प्रधान होते हैं। ऐसे वाक्य कभी-कभी मर्य्यादा का उल्लङ्घन कर जाते हैं। दिनकर का अपने दोनों प्रकार के वाक्यों पर पूरा अधिकार है।